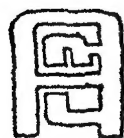
छायावाद के मूल तत्वों के
अध्ययन की पृष्ठभूमि में
प्रमुख छायावादी कवियों—
प्रसाद, निराला,
पंत और महादेवी के
काव्य का सम्यक् विवेचन



लिपि प्रकाशन
ई ५/२० कृष्णनगर, दिल्ली-५१

गंगाप्रसाद पाण्डेय

छायावाद के आधार स्तम्भ

सम्पादक

रामजी पाण्डेय

लिपि गौरव ग्रंथ

●

प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७१

●

मूल्य : बाईस रुपये

●

प्राप्ति स्थान :

सरस्वती प्रेस बुक-डिपो

३७८८, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

●

लिपि प्रकाशन

ई-५/२०, कृष्ण नगर, दिल्ली-५१

●

मुद्रक : सहयोगी प्रेस, २६८ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद-३

●

CHHAYAVAD KE AADHAR STAMBHA

By Ganga Prasad Pandeya

Literary Criticism

Rs. 22·00

जिस समय छायावाद एक 'अज्ञातकुलशील बालक' मात्र था और परम्परावादी आलोचक उसकी धज्जियां उड़ाने को आतुर थे उस समय जिन तरुण आलोचकों ने छायावाद को अपना हार्दिक समर्थन दिया था उनमें (स्व०) गंगाप्रसाद पाण्डेय का नाम सबसे पहले आता है। उस समय से लेकर नई कविता आन्दोलन तक वे काव्य की नई जीवन्त धाराओं का बराबर समर्थन करते रहे।

किसी एक महाकवि के व्यक्तित्व और कृतित्व का सांगोपांग आकलन की प्रवृत्ति जिसका श्रेष्ठ प्रस्फुटन डा० रामविलास शर्मा की निराला की जीवनी और जिसका एक भदेस रूप शांति जोशी कृत सुमित्रानन्दन पन्त की जीवनी में मिलता है—उसका सूत्रपात पाण्डेयजी की महत्वपूर्ण पुस्तक 'महाप्राण निराला' से हुआ था। यदि उसकी अतिशय भक्ति-भावुकता हमें भ्रमित न करे तो आज भी उस ग्रन्थ में निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने के अनेक सहायक सूत्र मिल जाएँगे।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक आज से अनेक दशक पूर्व के एक चर्चित आलोचक के छायावाद सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझने में सहायक होगी।

—डा० धर्मवीर भारती

स्व० श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय छायावाद के उन आलोचकों में से थे जिन्होंने उसके सौन्दर्यात्मक एवम् दार्शनिक तत्वों का विश्लेषण सर्वप्रथम प्रस्तुत किया था। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी यदि छायावाद के व्याख्याता थे तो श्रीपाण्डेय उस साहित्य वृत्त के अंतरङ्ग की पहचान रखने वाले थे। वह अपने विद्यार्थी काल से ही आलोचक के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे, और छायावाद, निराला, महादेवी आदि पर जो कुछ भी उन्होंने लिखा वह प्रामाणिक और युगबोध सम्मत है। आज यह हो सकता है कि 'छायावाद का पुनर्मूल्यांकन' करने वाले उस ऐतिहासिक संदर्भ को आज के संदर्भ में तोड़-मरोड़ कर जैसा चाहें वैसा रखें, लेकिन वास्तव में भावात्मक और कलात्मक स्तर पर उस युग की सम्पूर्ण चेतना को समझने की कोशिश में गंगाप्रसाद पाण्डेय की पुस्तकों, लेखों और समीक्षाओं का बड़ा महत्व है। उन्हें निराला, महादेवी, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त आदि का नैकट्य भी प्राप्त था, इसलिए उनके कथनों और वक्तव्यों को उस दृष्टि से भी देखने की आवश्यकता है।

कोई भी आलोचक काल के नैरन्तरीय प्रवाह में कहाँ, क्यों और कितना योगदान दे पाता है, इसका मूल्यांकन उस समय तक नहीं किया जा सकता जब तक कि उसके युग के सन्दर्भों, विघटित और विकसनशील मूल्यों की सापेक्षता में उसकी संरचनात्मक दृष्टि को मूल्यांकित करने की चेष्टा नहीं की जाएगी। श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय की सम्पूर्ण रचना-कृति को इस दृष्टि से भी देखने की आवश्यकता है।

—लक्ष्मीकान्त वर्मा

दीर्घा से

'छायावाद के आधार-स्तम्भ' में छायावाद के प्रसिद्ध कवि-चतुष्ठय-प्रसाद, निराला, पन्त तथा महादेवी की कविता की विवेचना है। साथ ही छायावाद पर चार लेख—छायावाद-रहस्यवाद, छायावाद की व्यापकता, छायावाद में वेदना माधुर्य और छायावाद में गीत तत्व हैं। इन निबन्धों के माध्यम से छायावाद के विविधपक्षों—सौन्दर्य, प्रेम, वेदना, और विषाद, जीवन और जगत, प्रकृति आदि का विवेचन मूल्यांकन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर आज तक अनेक समीक्षकों ने अपने महत्वपूर्ण ग्रंथों तथा स्फुट निबन्धों के माध्यम से छायावाद के कवि और युग का विस्तार से मूल्यांकन तथा पुनर्मूल्यांकन किया है। इसके अतिरिक्त छायावादी कवियों ने भी भूमिकाओं तथा निबन्धों में छायावाद सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को प्रकट किया है, लेकिन छायावाद के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम् अन्तर्विश्लेषणों की सर्वाङ्ग पूर्ण समीक्षा में पाण्डेयजी का अपना अलग ही महत्व है। यह बात पाठकों से छिपी नहीं। छायावादी कविता की अन्तर्निहित भावनाएँ ही उनकी समीक्षा का मानदण्ड थीं। उनकी आलोचनात्मक कृतियों को पढ़कर एक नई परितृप्ति मिलती है। निश्चय ही छायावादी हिन्दी-आलोचना-पद्धति से भिन्न पाण्डेयजी में एक अभिनव सहृदयता का दर्शन होता है।

आज यह बात सुनकर आश्चर्य होता है कि वे एम० ए० के विद्यार्थी थे और उनकी पुस्तकें एम० ए० में ही उद्धृत की जाती थीं। एम० ए० पास करते-करते उनके दो काव्य-संग्रह और पाँच विवेचनात्मक कृतियाँ—(१) 'निबंधिनी,'

(२) 'महादेवी वर्मा,' (३) 'हिन्दी कथा साहित्य,' (४) 'छायावाद-रहस्यवाद,' और (५) 'कामायनी-एक परिचय' प्रकाशित हो चुकी थीं। साहित्य के प्रति एक निष्ठ अनुराग का ही यह सुफल था।

राग-द्वेष, पक्ष-विपक्ष तथा साहित्यिक मतवाद एवं दलीय मनोवृत्ति से नितान्त दूर विद्यार्थी—जीवन से विशुद्ध साहित्यानुराग था उनका। पढ़ने के साथ कुछ लिखने की प्रेरणा और उत्साह उसी जीवन का वरदान था।

छायावाद को महिमा मंडित करने वाले कवियों पर पाण्डेय जी ने लिखा ही नहीं वे इस वाद से अत्यधिक प्रभावित भी रहे हैं। वे इस युग के काव्य के आलोचक ही नहीं वरन् कवि भी थे। उनकी कविता पुस्तकें—(१) 'पर्णिका' और (२) 'वासंतिका' उन्हीं दिनों की स्मृतियाँ हैं। अपने विद्यार्थी जीवन में ही छायावाद-रहस्यवाद लिखते समय से ही नहीं अन्त तक वे छायावाद के प्रबलतम समर्थकों में से रहे, और उनकी आस्था अटल ही होती गई। उन्होंने लिखा है—"वस्तुतः छायावाद युग-चेतना का प्रतीक है। अखिल जीवन के विकास का का स्वर संधान अथवा मोड़ है। मनुष्य और शेष प्रकृति के बीच जिस साहचर्य, सौहार्द तथा सम्बन्ध की छायायुग ने स्थापना की वह अद्वितीय होने के साथ इस भौतिक विज्ञानी युग में चेतन—विज्ञान की प्रतिष्ठा का द्योतक, समर्थक और सजग प्रहरी है।[१] छायावादी कवि भौतिक उपयोगितावाद अथवा स्थूल नैतिक उपदेश की दृष्टि से काव्य निर्माण नहीं करता उसका लक्ष्य सौन्दर्य दृष्टि है और उसका सीधा सम्बन्ध नीति से न होकर आह्लादन-प्रसाधन से है। "कला में वाह्य जीवन सम्बन्धी आरोप चाहे वह धार्मिक हों, चाहे नैतिक अनुचित है।"[२] आगे उन्होंने लिखा—"मंगल वस्तुतः सुन्दर है। उसमें मानव हृदय को आकृष्ट करके तन्मय करने की क्षमता होती है। उसमें केवल प्रयोजन की भौतिक स्थूल अभाव की ही तृप्ति नहीं है। साहित्य साधना से प्राप्त आनंद तथा विश्राम साधारण पार्थिव आनन्द से भिन्न माना गया है।"

---

१. 'छायावाद—रहस्यवाद'।

२. वही।

वे छायावादी दर्शन को समझने-समझाने वाले कुछ गिने-चुने लोगों में से थे। भारत की अध्यात्मिक और सांस्कृतिक चिन्तन परम्परा में उनकी अटूट श्रद्धा थी। उनकी मान्यता थी —"छायावादी कविता अध्यात्मिक आनन्द को काव्य के माध्यम से व्यक्त करने की भारतीय परम्परा की एक कड़ी है।"

कवि को वे विश्व का प्रतिनिधि मानते थे—'इस अधूरी और अपूर्ण मानवता के मध्य में खड़ा होकर कवि एक पूर्ण मानव का आदर्श उपस्थित करता है। कवि संसार के सामने प्रदर्शित कर देता है कि सर्वत्तम वैभव वस्तु क्या है? कवि सुन्दरम का प्रतिनिधित्व करता है। और चूंकि सौन्दर्य का निर्माण कर्ता कोई नहीं है, वरन् सौन्दर्य से ही सृष्टि-रचना हुई है, सौंदर्य ही विश्व-स्रष्टा है; इसीलिए कवि सम्पूर्ण मानवता का केन्द्र विन्दु है। मानवता की समस्त सृजन शक्ति उसमें केन्द्रीभूत है।'[1]

साहित्य को वे एक सचेतन सृष्टि मानते थे—'इसीलिए व्यक्ति की एकान्त आत्मगत सीमा में सीमित हो सकना उसके लिए अकल्पनीय है। साहित्य में 'स्व' और 'सर्व' का व्यक्ति और समाज का सामंजस्य सदैव अनिवार्य रहा है और रहेगा। साहित्य की इसी सर्वग्राही संवेदनशीलता के कारण ही उसके प्रमुख गुण साधारणीकरण की सर्वसुलभ स्थिति उत्पन्न होती है, जिसके द्वारा साहित्य में अभिव्यक्ति, अनुभूति और भावना व्यक्ति विशेष की रह कर सम्पूर्ण मानव समाज की बन जाती है। एक निश्चित और निर्दिष्टकाल की होकर भी सनातन काल से सम्बद्ध हो जाती है। देश-काल-पात्र की सीमाबद्ध व्याप्ति से उठकर मुक्त संचरण करने की क्षमता साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सार्थकता है। वास्तव में साहित्य के अस्तित्व का आधार विशेष सामान्यीकरण ही है। सामान्य धरातल की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता के बल पर ही साहित्य मनुष्य की भावनाओं के परिष्करण, संतुलन, उन्नयन में सहायक सिद्ध होता है। सामूहिक चेतना और साहित्यिक अनुभूति का नितान्त विच्छेद साहित्य के

---

१. 'निबंधिनी'।

ह्रास का प्रतीक है। साहित्य तो सूक्ष्म भावना की चिर स्थायी सम्पत्ति है— ईश्वर की सी सूक्ष्म, पारे की सी तरल, कुसुम-सी कोमल।"[1]

वे कवि के व्यक्तित्व को अनन्य तथा अप्रतिम और कविता को जीवन की सबसे अधिक सार्थक एवं उच्चतम् अभिव्यक्ति मानते थे।

पाण्डेयजी का साहित्यिक व्यक्तित्व कई रूपों में सामने उभर कर आया है—कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, निबंधकार, संस्मरण लेखक आदि लेकिन एक निर्भीक, निष्पक्ष आलोचक के रूप में ही उनकी प्रसिद्धि अधिक हुई। समालोचक के उत्तरदायित्वों के बारे में उन्होंने लिखा है—"आलोचक को अपनी साधना के कुछ वरद साधन प्राप्त कर लेने के ही बाद अपना कदम बढ़ाना चाहिए। आलोचक को अपने निर्माण तथा निरूपण में निर्भीक और साहसी होना चाहिए। साहित्य का जो भी आलोचक अपनी अंतश्चेतना के स्पर्श से, अपनी अध्ययनशीलता के बल से, अपनी बुद्धि की विशिष्ठता तथा निष्पक्ष शक्ति से और अपनी संयत सुरुचि से आलोचना लिखेगा उसको अवश्य सफलता मिलेगी।"[2] जब तक वे जीवित रहे तब तक उपर्युक्त समालोचकीय उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते रहे। हिन्दी साहित्य में चरित्र मूलक-समीक्षा पद्धति के प्रणयन का वास्तविक श्रेय पाण्डेयजी को ही जाता है। उनकी 'महाप्राण निराला' हिन्दी में इस प्रकार का पहला ग्रंथ है, और उनकी अन्तिम कृति 'महीयसी महादेवी' इसी क्रम में एक बहुत आगे की कृति है। यहाँ यह भी बताना उचित होगा कि ऐसा नहीं था कि 'महाप्राण निराला' के के प्रणयन के पहिले निराला 'महाप्राण' नहीं थे। इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'महीयसी-महादेवी' के रचनाकाल से पहिले महादेवी 'महीयसी' नहीं थीं, लेकिन यह तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि इन पुस्तकों के प्रकाशनों के बाद निरालाजी के साथ 'महाप्राण' और महादेवीजी के साथ 'महायसी' विशेषण जिस व्यापक पैमाने पर जुड़े इसके पहिले इतना कदापि नहीं था।

---

१. 'निबंधिन'।

२. वही।

ऊपर की वे बातें जितनी सच हैं उसी तरह से यह भी सच है कि विश्व विद्यालयी आलोचकों के गिरोह में न होने के कारण उनके कृतित्व को उतना प्रचार-प्रसार न मिल सका जितना संभवतः मिलना चाहिए था।

उनके विरोधी व्यक्तित्व ने सत्ता को शीश नमन तो कभी किया ही नहीं। स्वच्छंदता तो उनकी प्रकृति में थी। और यही कारण था कि बड़ी-बड़ी नौकरियों का प्रलोभन उन्हें अपनी ओर कभी खींच नहीं सका। अन्याय न सहन कर पाने के कारण किसी भी प्रकार के दवाव में नहीं आ पाते थे। उनके कटु-सत्यवादिता के कारण ही लोग उनसे नाराज हुआ करते थे पर उनके मन में कहीं भी कलुप नहीं होता था। निर्मल, पारदर्शी व्यक्तित्व—गंगाजल के समान। एक सहज मानवीय उदारता के कारण आजन्म वे अपने को वितरित ही करते रहे। यही कारण था कि जिससे अपने भविष्य व परिवार के लोगों की चिन्ता नहीं की। अभावग्रस्त, भूखे, निराश्रय लोगों को देखकर उनका कोमल हृदय द्रवित हो उठता था।

वे मेरे पिता थे और उनके बारे में सोचना या लिखना उनकी अनेक स्मृतियों से एक तकलीफदेह साक्षात्कार करना है। तकलीफदेह इसलिए क्योंकि वे अब नहीं हैं। हमेशा चाहता हूँ उनके बारे में कुछ लिखूँ, लेकिन फिर हो नहीं पाता, किन्तु जब प्रकाशकीय आग्रह बहुत प्रबल होने लगते हैं तब विवश होकर कुछ लिखना ही पड़ता है। भावाकुल संवेदना जाग्रत करना मेरा उद्देश्य कदापि नहीं है यदि ऐसा कुछ होता भी है तो इन स्मृति चित्रों में तटस्थ रह पाना अस्वाभाविक भी है।

उनकी हर नई किताब की योजना बनाते समय बहुत ही खुशी होती है, लेकिन जब किताब तैयार होकर सामने आती है तो बहुत ही कष्ट होता है।

पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय श्री श्रीकान्त जी व्यास को है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभार प्रदर्शित करता हूँ। लिपि प्रकाशन ने जिस सुरुचिपूर्ण ढँग से पुस्तक छापी है उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। परम

आदरणीया गुरूजी, की आशीष पूर्ण-स्नेह-छाया तो सदा है ही, उनके प्रति किसी प्रकार के औपचारिक आभार से उसका मूल्य कम ही होगा।

कवि की सत्ता अपरिमेय होती है और उसका साहित्य चिरन्तन। छायावादी कवियों के अध्ययन के कितने प्रयास हुए हैं, और कितने होंगे इसकी सीमा नहीं बाँधी जा सकती। कवियों की शक्ति की भाँति ही अनन्त। यदि इस पुस्तक के माध्यम से रुचिमान पाठकों को छायावाद युग और उसके श्रेष्ठ कवियों के निकट पहुँचने में संकेत मात्र भी मिलता है तो निःसन्देह मैं भी अपना प्रयास सफल समझूंगा। इसी मंगलाशा के साथ पुस्तक आपके हाथों में है। इतिशुभम्।

१७ सी, हेस्टिंग्सरोड,
प्रयाग।

रामजी पाण्डेय

क्रम

चतुर्थ खण्ड : पन्त

पंचम खण्ड : महादेवी

छायावाद के आधार स्तम्भ

१

छायावाद और रहस्यवाद

भविष्य में यदि इतिहासकार वर्तमान युग के नामकरण की चेष्टा करेगा तो उसे विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। बड़ी सरलता से वर्तमान युग को 'वाद' युग कह सकते हैं; और इसमें किसी को भी तर्क-वितर्क तथा भाव की दृष्टि से आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वर्तमान युग की सभी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष वस्तुओं तथा सूक्ष्म तत्त्वों पर इस 'वाद' की अमिट छाप इतनी व्यापकता एवं गहराई से लग गई है कि उसको नगण्यता में ढकेलना असम्भव प्रतीत होता है। जगत में अनेक वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो किसी भी प्रकार की दृष्ट एवं अदृष्ट सीमाओं में परिमित तथा आबद्ध नहीं की जा सकती। उनको किसी सीमित पिंजरे में बन्द करना उनके हृदय को परिच्छिन्न करना है। कला और जीवन सचेतन की दो उन्मुक्त विभूतियाँ हैं; वे फूल के सौरभ की भाँति स्वच्छन्द एवं निर्झर की गति की भाँति निर्बन्ध हैं; उन पर किसी भी बाहरी नाम की अथवा स्वभाव की आरोपणा एक कठोर प्रतिबन्धना है। किन्तु वर्तमान युग का 'वाद'-परिप्लुत व्यक्ति, जीवन और कला को भी 'वाद' के चश्मे से रहित नेत्र से नहीं देख सकता। कविता जैसी विश्वविहारिणी सूक्ष्मतम विभूति को भी उसने 'वाद' के कठघरे में कैद कर दिया। वर्तमान युग के कंठ से प्रसूत काव्य-वाणी इसी प्रवृत्ति से लाचार होकर 'छायावाद' के रंग से रंजित दीखती है। किन्तु यहीं तक समाप्ति नहीं है। उसे 'छाया' की चादर के साथ-साथ 'रहस्य' की परोक्ष चुनरी भी ओढ़नी पड़ी है।

इस प्रकार छायावाद तथा रहस्यवाद को परिव्याप्ति तथा वर्तमान कविता

में उनकी इतनी विशद अभिव्यक्ति इस बात की आवश्यकता उपस्थित करती है कि उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं विस्तृत विवेचन किया जाय। दोनों 'वादों' का रंग, दोनों का प्राण, वर्तमान साहित्य के सौरभ में इतनी गहनता से निगूढ़ है कि बिना इनका सच्चा स्वरूप जाने तथा इनकी भावना पहचाने साहित्य के तत्व का परिपूर्ण रसास्वादन नहीं हो सकता। जिस भाँति गुलाब के फूल को देखे तथा सूँघे बिना उसके सौन्दर्य तथा सौरभ का महत्त्व ज्ञात नहीं हो सकता, उसी भाँति छायावाद एवं रहस्यवाद की मूल भावना और हृदयस्थ आत्मा का सूक्ष्म आवेक्षण किये बिना छायावादी एवं रहस्यवादी कविता भी पूर्णतया अपने सम्प्रति महत्त्व में नहीं दृष्टिगत होती। उनको समझने से पहले, उनमें सिंचित प्राण-रस का पान करने से पहले, छायावाद एवं रहस्यवाद के मूल तत्त्वों का निरूपण समझना होगा; आत्मा को समझने से पहले शारीरिक चेष्टा-प्रचेष्टा पर दृष्टिपात करना होगा।

छायावाद कोई नई चीज़ नहीं है और न यह वर्तमान के गर्भ से प्रसूत कोई नया 'आश्चर्य' (wonder) ही है। प्रथम मानव के जन्म से लेकर आज तक इसका ऐसा ही प्रभुत्व एवं अस्तित्व रहा है जैसा कि आजकल है। अन्तर केवल इतना ही है कि आज इसका नाम छायावाद है और आज से पूर्व कुछ और था। जिस समय प्रथम मानव ने मुसकाते हुए सुमन में, लजाती हुई कली में, कलकल करती निर्झरिणी में अपने ही प्राणों-जैसी कोई प्राण-छाया धूम्रावरण ओढ़े देखी, उसी समय छायावाद की भावानुभूति उसके हृदय में उदित हुई। जिस समय क्रौंच पक्षी की मर्म-वेदना का आघात आदि-कवि वाल्मीकि को बेसुध कर गया, जिस समय उस पक्षी-पीड़ा को आदि-कवि ने उसी रूप में अनुभव किया जिस रूप में उस पक्षी के प्राणों ने किया था, उसी समय छायावाद की निर्झरिणी आलोड़ित हो उठी थी। छायावाद का सम्बन्ध भाव-जगत् से है, हृदय की भूमि से है। भावलोक की सत्ता जिस प्रकार केवल अनुभव की ही वस्तु है, केवल हृदय से जानने की ही वस्तु है, उसी प्रकार छायावाद भी अनुभव करने की तथा हृदय की पंखड़ियों पर तोलने की चीज़ है।

जिस प्रकार हम प्राणधारियों में एक ही प्राण का प्रवेग एक हृदय से लेकर दूसरे हृदय तक, एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक लहराता है, उसी भाँति सारी दृष्ट प्रकृति एक ही प्राण की अभिन्न लहर से ओत-प्रोत है। उपवन की सुकुमार कली से लेकर विजन वन की कठोर झाड़ी तक एक ही प्राण-प्रवाह की हिलोर आती जाती है, एक ही जीवन-वारि से सब सजल हैं, एक ही आंतरिक सूक्ष्म

तत्त्व से अनुप्राणित हैं। प्रकृति में व्याप्त यह प्राण-तरंग और प्राणधारियों में सिंचित प्राण-ऊर्मि दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं, वरन् एकही सागर के जल की वीचियाँ हैं। वह सागर है उस 'महापुरुष' के 'महाप्राण' का अनन्त प्लावन। अतः यदि प्राणधारी प्रकृति में अपने प्राणों की धूमिल छाया देखे अथवा प्रकृति प्राणधारियों में अपने प्राणों की झिलमिल झाँकी पावे तो कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं। आत्मीयता हर जगह और हर अवस्था में गतिशील रहती है। आत्मीय के प्रति ममत्व का भाव चेतन तो चेतन, जड़-पदार्थों में भी निराकृत नहीं हो सकता। स्वाभाविक रूप से यों तो एक मानव को समस्त मानव-समाज के प्रति आत्मीयता होती है, एक पशु को समस्त पशु-जगत् के प्रति ममता होती है; हाँ, कभी-कभी जब स्वाभाविक रूप से मनुष्य अस्वाभाविक रूप धारण कर लेता है, तो अनात्मीयता का विकट तांडव भी होने लगता है। किन्तु मानव के जीवन में कुछ ऐसे क्षण भी आते हैं जब उसका अस्तित्व अपनी मानवीय सीमा का अतिक्रमण करने लगता है। उस समय मानव की असीम आत्मानुभूति मुक्त होकर समस्त विश्व के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने लगती है। अपने घरौंदे से उठकर मनुष्य की भावना भूति सूक्ष्म 'ईथर' (Ether) की भाँति प्रकृति के कण-कण से स्नेहालिंगन करने लगती है। उस समय आत्मा अपना ही चित्र, अपना ही 'स्व' (Self) प्रत्येक स्थल पर लखती है। इस ममत्व आत्मीय क्षण से परिचय करने वाली अनुभूति और सम्बन्ध जोड़नेवाली चेतना दोनों ही अपना अस्तित्व भूल जाती हैं, लुप्त हो जाती हैं। केवल रह जाती है एक ही सत्ता, या तो हम या हम से सम्बन्धित पदार्थ—दोनों एक-दूसरे में निगूढ़ और एकात्म—पूर्णतया अभिन्न ! अनजाने फिर अधरों से एक निर्झरिणी बह पड़ती है—

कहीं से आई हूँ कुछ भूल !
किसी अश्रुमय घन का हूँ कन
टूटी स्वर-लहरी की कम्पन
या ठुकराया गिरा धूलि में
हूँ मैं नभ का फूल !

—महादेवी

अपने ही अश्रुमय जीवन का 'घन' के जीवन में आभास, अपने ही विश्रृंखल मन का 'टूटी स्वर-लहरी' में साकार चित्र और अपने ही विजन अस्तित्व का 'नभ के ठुकराए, गिरे फूल' में एकात्म-रूप—कितनी करुण समता की झलक

है। यही समता आगे चलकर समता के द्वैत को छोड़कर ऐक्य का अद्वैत हो जाती है—

जब अपनी निश्वासों से
तारे पिघलातीं रातें,
गिन-गिन धरता था यह मन
उनके आँसू की पाँतें।
घिर कर अविरल मेघों से
जब नभ-मण्डल झुक जाता,
अज्ञात वेदनाओं से
मेरा मानस भर जाता।
गर्जन के द्रुत तालों पर
चपला का बेसुध नर्तन;
मेरे मन बाल शिखी में
संगीत मधुर जाता बन।

—महादेवी

प्रकृति के साथ यही ऐक्यभाव छायावाद का सजीव स्वरूप है। जब हमारी आत्मा अपने हृदय की व्यापक भावनुभूति में समस्त विश्व के उपकरणों से एकात्म भाव-सम्बन्ध जोड़ने लगती है, जब हमारा हृदय अपनी रागात्मक आत्मीयता से इतना अपरिमित हो जाता है कि अपनी भाव-सत्ता से समस्त जड़-चेतन पदार्थों को अपने-सा बना लेता है—उस समय की परिपूर्णता में, अपनी बेसुध विह्वलता में हमारे हाथ से जो मूर्ति बनेगी, हमारी तूलिका से जो प्रतिमा निर्मित होगी, हमारे स्वर से जो रागिनी छिड़ेगी, हमारे अंगों से जो भाव-व्यंजना होगी तथा हमारे कंठ से जो वाणी फूट पड़ेगी—वह छायावाद के ही प्राण से अनुप्राणित, उसकी ही गति से गतिशील तथा उसके ही रंग में रंगी होगी।

हमारे धार्मिक शास्त्रों में उपदेशों की ऐसी लड़ियाँ बिखरी हुई हैं जिनमें समता का प्रबोधन है; प्राणि-मात्र को समान और सब को अपने समान समझने की शिक्षा है। हमारे महापुरुष, हमारे महात्मा अपनी आत्मीयता समस्त विश्व में एक छोर से दूसरे छोर तक प्रसारित करते रहे हैं; किन्तु इसमें पूर्वनिर्देशित छायावाद की छाया का भी भ्रम न होना चाहिए। ठीक है, इसको भी समय-समता-न्याय से छायावाद कह सकते हैं, किन्तु विशुद्ध छायावाद और विशेषतः काव्य का

छायावाद इस प्रबोधन के छायावाद से एक दूसरी ही चीज है। विशुद्ध छायावाद का सम्बन्ध भावलोक से है; वह अनुभूति के पंखों से भाव-जगत पर उड़ता है। उसमें वैज्ञानिक तर्कना के लिए कोई स्थान नहीं। इसके प्रतिकूल प्रबोधन अथवा ज्ञान का छायावाद या तो पूर्णतया तर्क की वस्तु है, या केवल साधन करने की ही साधना है। ज्ञान का छायावाद आचार का विषय है, दर्शन का परिणाम है और भावना का छायावाद अनुभूति का, भावात्मक प्रतीति का। अतः दोनों में भ्रम हो जाना आश्चर्य नहीं। 'छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ है।'

छायावाद की परिधि के पार की वस्तु रहस्यवाद है। छायावाद यदि किसी मकान के द्वार की देहरी है तो रहस्यवाद उस मकान के भीतर का अंतर्पट। छायावाद यदि 'गोपद-सिन्धु' है तो रहस्यवाद उससे आगे का अगम सिन्धु। छायावाद में कुछ झिलमिल 'अस्ति' का भाव है, एक छाया है, किन्तु रहस्यवाद में एक शून्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। 'शून्य' कहना जरा कुछ उसके महत्व को न्यून-सा करना है—उसे वह 'स्थिति' कह सकते हैं, जहाँ 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों भाव एक हो जाते हैं। छायावाद प्रकृति के प्रत्येक उपकरण में अपने ही प्राणों के समान एक प्राण-चेतना अभिभूत देखता है और अपनी आत्मीयता की बाँहें बढ़ाकर उसे अपना बना लेता है, उसमें अपने को तथा अपने में उसको देखने लगता है, किन्तु रहस्यवाद इससे भी आगे बढ़ जाता है। वह समस्त प्रकृति में अपने प्राणों की प्रवेग पयस्विनी न देखकर उस पयस्विनी के निर्माण-कर्ता एवं नियंत्रणकर्ता की पुनीत प्रतिमा देखता है। वह प्राण को न देखकर प्राण के प्रणेतापर अपनी प्रतीति निगूढ़ करता है। फूल की मोहक मादकता में उस अदृष्ट शक्ति की तन्मयता, बादल के गम्भीर घोष में उसके आक्रोश का प्रतिबिंब, उषा के सौन्दर्य में उसका अनन्त सौन्दर्य तथा लहरों के सजल गान में उसका ही मुखर स्वर—ये सब रहस्यमयी प्रवृत्तियाँ हैं। रहस्यवाद में जड़-चेतन की अनुरूप प्रतिरूपता नहीं है, वरन् इससे ऊपरी सतह की चीज है—वह है प्रतिरूपता पर निरन्तर शासन एवं प्रतिशासन करनेवाली एक रहस्यमयी सत्ता की आभा, विश्व-प्राणी की अपेक्षा विश्वेश्वर के महाप्राण की दिव्य झलक। वास्तव में मोटे तौर से ये तीन सोपान हैं जिसके आगे प्राणी का निश्चित गंतव्य है—साधारण प्राण से विश्व-प्राण, और विश्व-प्राण से महाप्राण। सूक्ष्म भावना के दृष्टिकोण से हम सम्पूर्ण चराचर विश्व को इन्हीं तीन सोपानों के अनुसार तीन विभिन्न भागों में विभक्त कर सकते हैं—पहला भाग तो वह, जो साधा-

रण सतह ही पर रहता है, अर्थात् स्वप्राण की ही साधना में रहता है, दूसरा भाग वह जो विश्व-प्राण की अनुभूति में समस्त जगत से सचेतन सम्बन्ध जोड़ता रहता है और तीसरा भाग वह है जो इन दोनों सीढ़ियों को पार कर 'महाप्राण' की सीढ़ी पर आरूढ़ हो जाता है।

रहस्यवाद की सत्ता काव्य में भी है और दर्शन में भी। काव्य के रहस्य-वाद का प्राण भाव है और उसका उद्गम-स्रोत हृदय है। दर्शन के रहस्यवाद का प्राण ज्ञान है और उसका उच्छ्वसित-उत्स मस्तिष्क है। दोनों का अपना-अपना स्वरूप है और साधना की दृष्टि से अपना-अपना महत्व है। दोनों में इतना ही अन्तर है जितना एक नियमित और निश्चित सड़क में और नदी के वक्ष पर चलती हुई नौका के पथ में। एक के आसपास सुनसान निर्जन है और दूसरे के सुमधुर संगीत की ध्वनि। यदि साहित्यिक नामकरण ही किया जाय तो हम एक पथ को निर्गुण पथ कह सकते हैं और दूसरे को सगुण। एक में चेतना का सत्व व्याप्त है, दूसरे में भावना का सौरभ। ज्ञान के रहस्यवाद के मूल में संसार की अनित्यता की उदासीनता, माया की छलना से भय, तथा ज्ञान-चिन्तना आदि मुख्य तत्व हैं जिनकी प्रतिक्रिया स्वरूप रहस्यवाद की उद्भावना होती है। भावना का रहस्यवाद भी अपने प्राणों में तीन उपादान लेकर चलता है—पहला मानव-प्रेम, दूसरा आश्चर्य का भाव और तीसरा आत्मा की परमात्मा से विरह-अनुभूति। मानव प्रेम के स्थान पर चेतन प्रेम कहें तो अधिक उत्तम होगा। गोस्वामी तुलसीदास जी का रहस्यवाद इसी भाँति का था; उनकी 'सियाराम मय सब जग जानी' चौपाई में इसी मानव प्रेम से अभिषिक्त रहस्य की भावना है। कबीर में भी थोड़ा इसका आभास पाया जाता है। दूसरा स्वरूप इस भावना-मूलक रहस्यवाद का है आश्चर्य की भावानुभूति। ऐसी अनुभूति के समय कवि की दशा एक अबोध बालक की-सी हो जाती है। ऋग्वेद की ऋचाओं में, गीता के विराट स्वरूप प्रदर्शन में तथा कबीर की उलटवासियों में इसी रहस्यवाद का स्वरूप निहित है। अपनी विनय-पत्रिका में गोस्वामी जी ने इसका कितना सुन्दर चित्र खींचा है—

केशव कहि न जाय का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि-मन रहिए।
शून्य भीत पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटे न मरइ भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे।

महादेवी जी ने भी आश्चर्य के भाव का बड़ा ही सुन्दर एवं रहस्यवादात्मक काव्यमय भाव-चित्र अंकित किया है—

शून्य नभ में उमड़ जब दुखभार-सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी,
जब सुनहले आँसुवों के हार-सी;
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?

आश्चर्य के भाव के अतिरिक्त एक भाव और रहस्यवादी कविता का जन्मदाता है—वह है आत्मा की परमात्मा से विरह-भावना । सर्वभूत आत्मा उस महान् आत्मा का ही एक परिच्छिन्न अंश है । इसको उससे बिछुड़े हुए कल्प बीत गये—कई चन्द्र उदय होकर डूब गए, किन्तु 'महामिलन' का क्षण अभी नहीं आया । आत्मा इसी 'महाविरह' में क्रन्दन कर उठती है—

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महामिलन के ।

—प्रसाद

इसी आध्यात्मिक विरह की विदग्धता में जीवन भार-स्वरूप हो जाता है । कोमल-करुण भावना, अधरों से निर्झर की भाँति निसृत हो पड़ती है—

नहीं अब गाया जाता देव
थकी उँगली; ढीले हैं तार
विश्व-वीणा में अपनी आज
मिला लो मेरी भी झनकार ।

—महादेवी

सारांशतः रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं पूर्ण 'महाअस्तित्व' के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है । वस्तुतः अखण्ड और व्यापक चेतन के प्रति कवि का आत्म-समर्पण भाव ही काव्य में रहस्यवाद का मूल उत्स है ।

२

छायावाद की व्यापकता

आजि ए प्रभाते सहसा केनरे
पथहारा रवि-कर
आलय न पेय पड़ेछे आसिए
आमार प्राणेर पर
बहु दिन परे एकटी किरण
गुहाय दियेछे देखा
पड़ेछे आमार आंधार सलिले
एकटी कनक-रेखा।

—रवीन्द्र

रीति-काल की वाह्य-सौन्दर्य प्रधानता, अभिसारिका-मुग्धा-नायिकाओं की अनेकात्मकता तथा उनके वाह्य-शृंगार, अंगराग, केश-कलाप आदि से उत्पन्न उद्दाम शारीरिक वासना से भक्ति-काल की मुरली-माधुरी की पवित्रता और मर्यादित-जीवन की सदाचारिता पंकिलता की गोद में शयित हो गई। कबीर की सान्त-अनंत-मिलन की साधना से प्रफुल्ल हिन्दी-काव्योपवन विलासिता की श्यामलता में एक अन्धकार-ग्रस्त कन्दरा बन गया। तुलसी की कला से संजीवित तथा सूर की अनन्य-हृदयता से निर्मल कविता-कामिनी का सहज-सुन्दर शरीर बनावटीपन (artificialitty) से जकड़ दिया गया।

इसी अन्धकारमय क्षितिज पर सहसा एक निर्मल-ज्योति की प्रभा अवतरित हुई। कविता-सुन्दरी अपने बन्धनों से मुक्त होकर इस 'आंधार सलिले' में जीवन

की, परिवर्तन की तथा प्रतिभा की एक ज्योति-किरण लेकर आई। उसमें अतीत का हास-रुदन था, वर्तमान का उत्थान-पतन था और था भविष्य के प्रति एक प्रकाशमय संदेश। जीवन-सी स्वच्छन्द तथा आत्मा-सी निर्लेप यह किरण उदित हुई थी, किन्तु पार्थिव-अस्तित्व में रहकर वह निर्लिप्त नहीं रह सकी, वह भी 'छायावाद' नाम के बन्धन में बंध गई। आधुनिक हिन्दी साहित्य की रग-रग में इसी 'छायावाद' नाम की जीवन-ज्योति का उदात्त प्रवाह है; इसी क्रांति-शील किरण का मधुर प्रकाश है।

छायावाद की कविता हमारे आसपास के संसार की इतिवृत्तात्मकता को न छूकर उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करती है। इतिवृत्तात्मकता कविता की सामग्री नहीं, वह कविता की अपेक्षा विज्ञान के अधिक समीप पड़ती है। इसी प्रकार जीवन-स्पर्शिता विज्ञान का प्राण नहीं, वह भाव के सुरम्य देश की ही निवासिनी है। इतिवृत्तात्मकता का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, बाह्य-सौन्दर्य से है, आन्तरिक तथा सूक्ष्म सौन्दर्य से नहीं। इसी के विपरीत 'छायावाद' का सम्बन्ध आन्तरिक तथा सूक्ष्म आत्मा से है। बाह्य-सौन्दर्य-साधनवाला कवि एक फूल के सर्वांग का ही वर्णन करेगा, किन्तु जीवन का छायावादी कवि उस फूल के उस प्राणमय सूक्ष्म को अपनाएगा, जो उसकी आत्मीयता तथा उसके साथ आत्मीयता स्थापित किए हुए है।

छायावादी कवि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से करने का प्रयत्न करता है। वह स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग स्थापित करने की साधना करता है। यही कला के रहस्य की खोज है, उसका स्पष्ट उद्घाटन है। इस स्थिति पर पहुँचकर कवि अपनी आत्मा के गम्भीरतम स्थल में अपने अन्तर्जगत् के संगीत सुनने लगता है। यह संगीत कभी आनन्द-मय, कभी विषादपूर्ण, परन्तु सदा नवीन ही बना रहता है। संसार का कण-कण इसी स्वर-लहरी के मधुर पाश में परस्पर बँधा है; किन्तु हमारे और विश्व-प्रकृति के बीच, हमारे और उस चैतन्य के बीच, एक गहरा आवरण पड़ा हुआ है, जिससे हम उसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने इस सूक्ष्म का रहस्योद्घाटन किया; उनकी हृत्तंत्री बरबस झंकृत हो उठी—

हृदय तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें ?
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें ?
हृदय तू बना है जलनिधि, लहरियाँ खेलती तुझमें ?
मिला अब कौन-सा नवरत्न, जो पहले न था तुझमें ?

कण-कण में अनुप्राणित रागिनी की स्वर-लहरी एक बार रवीन्द्र के अन्त-स्थल में भी गूंज उठी थी। भोला कवि इस रहस्य को नहीं समझ सका। वह अपने हृदय की ओर मुड़कर प्रश्न करता है—

बाजिली काहार बीना मधुर स्वरे।
आमार जीवन निभृत परे।
जागि उठे सब शोभा सब माधुरी,
पुलक-पुलक हिय मुदित तरी!

आधुनिक जगत बुद्धिवाद तथा भौतिकवाद का उपासक है। भौतिकता मनुष्य की वाह्य अभिवृद्धि कर सकती है, विकास नहीं कर सकती। आज मानवात्मा संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुखों से जर्जर होकर, अविकसित अवस्था में पड़ी हुई है। इस समय उसको यथार्थ प्रकाश की आवश्यकता है, जो उसे अतुल शक्ति से सम्पन्न कर वाह्य-प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करने को कटिवद्ध कर दे। इस समय मानव-जीवन अपने वाह्य क्षेत्रों और विभागों को संगठित एवं असीमित कर अपने आंतरिक जीवन से उदासीन होता जा रहा है, इतिवृत्त का उपासक बनकर मानव अपनी आत्मा के लिए एक नवीन कारा निर्मित कर रहा है। छायावादी कवि अपने अस्तित्व का बलिदान इसी उदासीनता के विनाश तथा कारा के परिवर्तन की वेदी पर कर देता है। वह विज्ञान की वाह्य सौन्दर्य-साधना से युक्त मानव-समाज को आंतरिक जीवन दिखलाने का प्रयत्न करता है। अपनी अन्तर्दृष्टि से वह जग-जीवन के मर्म में प्रवेश करता है और अपनी आत्मा की साधना से अन्तर्जीवन का ज्योतिर्मय चित्र प्राप्त करने में सफल होता है। इसी को वह मधुर स्वरूप देकर, स्वर-लहरी की माधुरी परिप्लावित कर पथभ्रान्त, विवश, परिश्रांत मानवात्मा के सम्मुख रख देता है—

सर में जीवन है, इससे ही
वह लहराता रहता प्रतिपल
सरिता में जीवन इससे ही
वह गाती जाती है 'कल-कल'!

उपर्युक्त विवेचना से कदाचित् रहस्यवाद को ही छायावाद समझने का भ्रम हो सकता है। वास्तव में दोनों एक दूसरे के इतने निकट और एक दूसरे के इतने समान हैं कि विना दोनों के बीच एक विभाजक रेखा बनाये उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट नहीं हो सकता।

रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत हैं, उसका दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि से उदासीनतापूर्ण आध्यात्मिक है; छायावाद परमात्मा को छोड़ देता है; वह केवल आत्मा और जगत के ही प्रदेश में विचरण करता है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार वस्तुनिष्ठा के आगे की चीज छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद के आगे की चीज रहस्यवाद है। छायावाद में जिस प्रकार एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है, अथवा आत्मा के साथ आत्मा का सन्निवेश है तो रहस्यवाद में आत्मा के साथ परमात्मा का। एक पुष्प को देख कर जब हम उसे अपने ही जीवन-सा सप्राण पाते हैं, तो यह हमारी छायावाद की आत्माभिव्यक्ति हुई; किन्तु जब उसी पुष्प में हम किसी परम चेतन का विकास या आभास पाते हैं, तो हमारी यह अभिव्यक्ति रहस्यमयी भावना या रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत होगी। यही रहस्यवाद और छायावाद का एक सूक्ष्म अन्तर है। फूल और कलियों में रहस्यवादी जीवन का कम्पन नहीं, किन्तु अपने प्रियतम परम चेतन की रूप माधुरी देखता है—

सुमन में तेरा मधुर विकास
कली में नव-नव अस्फुट हास।

इसी सुमन और कलिका को छायावादी कवि आत्मा की समान लहर से अनुप्राणित पाकर सप्राण समझ लेता है। वह उनसे मधुरालाप करने लगता है। निर्जीव को सजीव बनाकर उसी का आलिंगन पाश माँगता है—

गाओ, गाओ विहग-बालिके !
तरुवर से मृदु मंगल-गान,
मैं छाया में बैठ, तुम्हारे
कोमल-स्वर में कर लूँ स्नान !
हाँ सखि ! आओ, बाँह खोल हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण ! —पंत

आधुनिक हिन्दी काव्योपवन छायावाद के काव्य-मलय पराग, उसकी कलिकाओं के हास-विलास तथा सुधा-स्राविणी पंचम-तान से इस प्रकार आप्लावित है कि उसमें अन्य प्रकार के कलित-कूजन का कोई अपना स्वच्छंद अस्तित्व ही नहीं रह गया है। जीवन के सभी पहलुओं को स्पर्श करती हुई, प्रकृति तथा दृश्य-जगत् के सभी उपकरणों को प्रणय-पाश में बाँधती हुई तथा भावों के सभी तारों से माधुरी स्रोत बिखेरती हुई छायावाद की कविता कण-कण के साथ अपना

जीवन सम्बन्ध स्थापित कर रही है। अतः उसकी प्रगति का एक सवाक् चलचित्र खींचने के लिए आवश्यक है कि उसके भावों के विषयों पर सरसरी दृष्टि से विचार करें।

सौन्दर्य—

सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, यह मन के भीतर की वस्तु है। इसकी पूर्णता के लिए अंतःसत्ता की तदाकार-परिणति की आवश्यकता है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी। सौन्दर्य काव्य का एक प्रधान उपकरण है। छायावाद के काव्य में भी सौन्दर्य अपनी पूर्ण कला में उदित हुआ है। सौन्दर्योपासक कवियों ने सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति 'नारी' जाति को नाना रंगों के आवरण पहना उसे अनेक कोणों से देखा है। पाश्चात्य साहित्य में चित्रित Neo-Platonic सौन्दर्य-चित्रों की मात्रा हमारे काव्य-कानन में भी उद्भासित हुई। अंग्रेजी का सुप्रसिद्ध सौन्दर्योपासक कवि शेली (Shelley) अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन करने के पहले नारी-रूप की उपासना सापेक्ष समझता था। उसकी सम्मति में जो ज्ञानलोक सुन्दर और अमर है, उसकी क्षणिक आभा नारी में दिखाई देती है। मानवात्मा नारी रूप की उपासना कर ही, क्रमशः पार्थिव से अपार्थिव सौन्दर्य के दर्शन करने में सफल-मनोरथ हो सकती है। शेली के 'प्रोमीथियस' के लिए 'Asia' उसके जीवन का आलोक एवं अदृश्य सौन्दर्य की छाया है—

> Asia thou light of life,
> Shadow of beauty unbeheld;

इसी की प्रतिमूर्तिमय भावना से पूर्ण सौन्दर्य-चित्र छायावाद के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पंत की तूलिका से चित्रित हुए हैं। कवि की प्रेयसी कवि की आत्मा को प्रकाशित करनेवाली ज्योति है। वह पार्थिवता का आभूषण नहीं, किन्तु प्रकृति की दुलारी, नैसर्गिक रूप की रानी है—

> अरुण अधरों का पल्लव-प्रात मोतियों-सा हिलता हिम-हास;
> इन्द्रधनुषी-पट से ढक गात बाल-विद्युत का पावस लास;
> हृदय में खिल उठता तत्काल अधखिले अङ्गों का मधु मास;
> तुम्हारी छवि का कर अनुमान
> प्रिये, प्राणों की प्राण।

पंत जी का उल्लिखित कवितांश पथ-भ्रांत नवयुवक छायावादी कवियों के

आदर्श-रूप में रखने के योग्य है। यदि मानव का हृदय वास्तविक सौन्दर्य का आस्वादन करना चाहे तो वह इस भौतिकता से परिपूर्ण विश्व के कोलाहल से दूर प्रकृति की शृंगार-शाला में जाय। George Whither इसी प्रकार अपनी प्रियतमा को प्रकृति-प्रदत्त आभूषणों से सुशोभित कर वासना-लोलुप कवि-समुदाय के सामने लाये थे—

Her cheeks were like the cherry,
Her skin was white as snow.
When she was blithe and merry,
She angel-like did show.

पंतजी ने 'चांदनी', 'छाया', 'वीचिविलास', 'अप्सरा' इत्यादि कविताओं में नारी-सौन्दर्य की कल्पना तो की है, किन्तु वह उतनी संजीव, सर्वांग तथा स्पन्दन-शील नहीं हो सकी, जितनी निराला जी की 'शरत्-पूर्णिमा की विदाई', 'संध्या-सुन्दरी', 'कविता', 'शेफालिका' और 'जूही की कली' में हो गई है। इन कविताओं में कवि, पंत जी के समान किसी नारी का प्रतिविम्ब नहीं देखता, वरन् कविता को ही नारी समझ लेता है—

शिलाखंड पर बैठी वह नीलांचल मृदु लहराता था—
मुक्त वन्ध संध्या-समीर सुन्दरी-संग
कुछ चुप-चुप बातें करता जाता और मुस्कराता था;
विकसित असित सुवासित उड़ते उसके
कुंचित कच गोरे कपोल छू-छू कर—
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे,
थपकी एक मार बड़े प्यार से इठलाते थे।

इन सौन्दर्य चित्रों में न तो कामुकता का विकार-चित्र है, और न उद्दीपन की दृष्टि से किया हुआ काव्य-परम्परा-प्रणाली के अनुमोदन का प्रयास। उनमें जीवन है, आंतरिकता व सौन्दर्य की स्पन्दनशीलता है, किन्तु अभी काव्य-साधना, की वह प्रस्फुटित ज्योति नहीं, जो अपनी प्रेयसी के प्रति कवि-हृदय से कहला लेती है—

तुमि मोर जीवन-मरण
बाँधिया छो दुटि बाहु दिया।

—रवीन्द्र

और न अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे परिपूर्ण होकर कवि अपनी प्रेयसी को अपने ही आनंद के स्वर्गीय प्रकाश से समावेष्ठित देखता है—

Thou art folded, thou art lying,
In the light which is undying
Of thine own joy, and heaven's smile divine.

—शेली

छायावाद के काव्य में नारी-सौन्दर्य के कलात्मक तथा संयमित चित्र के अतिरिक्त पंकिल चित्र भी हैं। ऐसे चित्रकारों को 'रवीन्द्र' की 'उर्वशी' नाम्नी कविता की पंक्तियाँ पढ़ लेनी चाहिए। 'उर्वशी' में 'वीरांगना-सौन्दर्य' का चित्र खींचा है, किन्तु तो भी वह कितना निर्मल एवं संयमित है। साथ ही उनको जर्मन दार्शनिक 'कांट' की निम्नांकित सौन्दर्य की परिभाषा भी हृदय में धारण कर लेनी चाहिए—

Beauty is in its subjective meaning that which in general and necessarily without reasoning and practical advantages, pleases and in its objective meaning it is a form of an object suitable for its purpose in so far as that object is perceived without any conception of utility.

नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त शिशु सौन्दर्य भी कवियों की तूलिका का विषय रहा है। शेक्सपियर का 'आर्थर' जो निर्दय वधिक के हृदय में भी पवित्र स्नेह का संचार कर देता है, तथा कालिदास का 'सर्वदमन' जो दुष्यंत के निराश-हृदय में आशा का प्रकाश फैला देता है—शिशु-सौन्दर्य की अद्वितीय प्रतिमाएँ हैं। सूर के कृष्ण तथा तुलसी के राम-विषयक शिशु-सौन्दर्य-चित्र छायावाद के अंचल में नहीं आये। अकेले पंत में ही इसकी कुछ झलक दीखती है, किन्तु वह क्षीण-सी, नहीं के बराबर ही है।

प्रेम—

सौन्दर्य प्रेम का उत्पादक है। किन्तु सौन्दर्य-दर्शन में जिस प्रकार विकास एवं संकोच होगा, उसी प्रकार प्रेम की भिन्न-भिन्न कोटियाँ होंगी। आधुनिक छायावाद के काव्य में नवयुवक कवियों की चंचल तूलिका प्रेम के जो चित्र अंकित कर रही है, वे वास्तविक प्रेम के नहीं, किन्तु उद्दाम शारीरिक वासना के अशांत

नग्न-चित्र हैं। उनका अपना नया आदर्श है—'अतृप्ति कवि का जीवन-संगीत है। कोई प्रेम करके शांति चाहे तो मनुष्य-जीवन, प्रेम और शांति ये तीनों चीजें साथ नहीं रह सकतीं', किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह प्रेम नहीं, वासना का प्रचंड ताण्डव है, मोह का पंकिल क्षेत्र है। प्रेम जीवन की मूल प्रेरक-शक्ति है। प्राणी की कोई प्रेरणा उसके अभाव में जीवित नहीं रह सकती। जैसा कि ऊपर वर्णित हो चुका है, सौन्दर्य की भावना पर ही प्रेम का आधार है। अतः सौन्दर्य की भावना कलुषित हो जाने पर प्रेम की भावना भी कलुषित हो जाती है। इस स्थल पर सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक भाव (Idea) स्थिर कर देना विशेष उपयुक्त होगा, जिसके प्रकाश में नवयुवक कवि अपनी मोह-वासना-पूरित अंधकार-कारा से मुक्त हो जायें—

The deeper the mind penetrates into the facts of aesthetics the more they are perceived to be based upon an ideal identity between the mind itself and things. At a certain point the harmony becomes complete and the finality so close that it gives us actual emotions. The beautiful then becomes sublime, and for a passing flash, the soul rises into the true mystic state and touches the 'Absolute.'—E. Recijac

ऐसे सौन्दर्य की भावना ही प्रेम की उत्कृष्ट भावना का प्रत्यक्ष कारण है। सान्निध्य की ऐसी ही अवस्था का निर्देश 'वर्ड्सवर्थ' निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार करता है—

Ah ! then if mine had been the painter's hand,
To express what then I saw, and add the gleam,
The light that never was, on sea or land,
The consecration, and the poet's dream.

छायावाद के काव्य में प्रेम के कुछ ऐसे अनंत चित्र भी हैं, जो संसार के किसी भी प्रेम-चित्र से समानता स्थापित करने के योग्य हैं। कवि ने अपने आपको प्रेमिका के योग्य उपासक बनाने के लिए, प्रेम की आंतरिक जलन में रक्त-मांस के विकारों को जला दिया है—

जो कुछ कालिमा बची है इस रक्त मांस में मेरे;
यह जलन जला देगी सब मैं योग्य बनूँगा तेरे।

प्रेम की पवित्रता पर एक वार वासना का अधिकार हो चला था, कि कवि का भोला हृदय पीड़ित हो गया—

कभी तो अब तक पावन प्रेम नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज, हाय, क्या गंगा-जल की धार !

प्रेम के शान्त धवल प्रदेश पर उद्दाम शारीरिक आकर्षण, अशान्ति, उद्वेग-पूर्ण वासना का आक्रमण देखकर कवि का हृदय वेदना से परिपूर्ण हो जाता है, एक करुण-क्रंदन उसकी निःश्वासों पर चढ़कर वायु में मिल जाता है—

प्रणय की महिमा का मधु-मोद; नवल सुषमा का सरल विनोद ।
विश्व-गरिमा का जो था सार; हुआ वह लघिमा का व्यापार ।।

—प्रसाद

नवयुवक सुकुमार कवि के हृदय में अज्ञात रूप से प्रेम की तीव्र अनुभूति की उद्भावना हुई; भावावेश में कवि अपने को सम्भाल नहीं सका, वह मूक होकर अपने हृदय में इधर-उधर टटोलने लगा—

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ! एक हूँ मैं तुमसे सब भाँति !

... ...

कौन हो तुम उर के भीतर बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ?

—पंत

इसी आत्मानुभूति की तीव्रता में भावों के प्रसून कवि के हृदय से बिखर पड़ते हैं—

प्राण ! प्रेम के मानस में—
मुझे व्यजन-सा हिल कर अविरल शीतलता सरसाने दो ;
अपने मुख से जग-चिन्ता के श्रम-कन सदय सुखाने दो ।

प्रेम का पागल कवि अपनी प्रेमिका को इसी प्रकार बुलाता है—

तूमि रवे नीरवे हृदय मम
निविड़ निभृत पूर्णिमा-निशीथिनी सम ।
मम जीवन यौवन
मम अखिल भुवन,
तूमि भरिबे गौरवे निशीथिनी सम ।

जागिबे एकाकी
तव करुण आँखि
तव अंचल-छाया मोरे रहिबे टाकि।
मन दुःख बंदन
मम सकल स्वपन,
तूमि भरिबे सौरभ निशीथिनी सम।

—रवीन्द्र

कितनी व्यापकता है, इस प्रेम में ! कितनी श्रद्धा और विश्वास है !

पंत जी की निम्नांकित पंक्तियों में प्रेम का ऐसा ही सुन्दर पावन चित्र मिलता है—

जब मेरा चिर-संचित प्यार
मुझे डुबाता है गंभीर,
द्रोह-मदन, मद का मल मेरा धो देता है जब दृग-नीर !
तब मेरे सुख का अनुमान, क्या तू कर सकती है प्राण !

वेदना और विषाद—

Our sweetest songs are those
That tell of saddest thoughts

—शेली

वेदना जीवन की मूल रागिनी है। सदैव से ही कवि-कंठ की मधुर स्वर-लहरी वेदना से सिंचित रही है। क्रौंच पक्षी की अंतस्तल की करुण निःस्वास से वेदना-विह्वल होकर आदि-कवि ने प्रथम कविता-कामिनी को पार्थिव संसार में अवतीर्ण किया था। यूरोप के मनीषी-कवि 'दांते' की प्रेयसी इस अनंत रूपात्मक संसार को छोड़कर उस अंनत लोक की निवासिनी बन गई, उसी क्षण से 'दांते की आत्मा कविता का सवाक् चित्र बन गई। उसने आहों की भीषण प्रज्वलन से आहत होकर यूरोप के काव्य-साहित्य में भीषण बवंडर उपस्थित कर दिया। सारा यूरोप अपनी सजल नेत्रों की छलछल में तथा अतल-स्पर्शी निःश्वासों में कहता था—'Whitis ! you are in Elysium ! But restore me myself and my soul,' संसार के अद्वितीय उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो का

चरित्र-चित्रण हृदय में एक क्रांति-सी; एक मधुर टीस-सी क्यों मचाने लगता है ? कारण वही कि ह्यूगो ने मानव जीवन में प्रवाहित एक अलक्षित वीणा की स्वर-लहरी को प्रत्यक्ष स्वरूप प्रदान किया है ।

आधुनिक हिन्दी-काव्य की छायावाद-धारा की कलकल-ध्वनि में भी वेदना का एक हृदय-स्पर्शी संगीत मिला हुआ है, जो अबाधगति से मानवात्मा की करुण-वृत्ति में जागृति का कम्पन भर रहा है, एक मधुर स्पन्दन उत्पन्न कर रहा है । प्रेयसी की निष्ठुरता से कवि का हृदय भग्न होकर कैसी तप्त उसासें निकालता है—

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को,
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो, हृदय रो !

—पंत

इसी प्रकार प्रेमिका के सलज्ज मौन के आघात से विश्रृंखल कवि के हृदय की वीणा सिसकियों की ध्वनि में झंकृत हो उठती है—

आह ! कितने विकल-जन-मन मिल चुके;
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके !
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके ।
क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं !

—निराला

इसी प्रकार की करुण सिसकियों में 'शेली' का हृदय फूट पड़ता है—

Misery we have known each other,
Like a sister and a brother.

दुखी-हृदय को, अपने चारों ओर सुख का स्रोत वहता देख, अपना अभाव और भी वेदनाप्रद हो जाता है—

मधुमालतिआँ सोती थीं, कोमल उपधान सहारे ।
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर गिनता अम्बर के तारे ।।

यह वेदना कालान्तर में निराशा का रूप धारण कर लेती है । इसी निराशा

कवि-हृदय भार-स्वरूप वन जाता है। वह विवशता में वँधकर व्याकुल हो रो ठता है—

मेरे दुःख में प्रकृति न देती क्षण-भर मेरा साथ ;
उठा शून्य में रह जाता है, मेरा भिक्षुक हाथ।

—रामकुमार वर्मा

पार्थिव घात-प्रतिघातों से निरन्तर निराशा का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उसका भार मानव-शक्ति द्वारा वहन नहीं किया जा सकता। कवि आक्रान्त हो जाता है—

नहीं सहा जाता अव देवि,
असफलता का यह भीपण भार !

—भगवतीचरण वर्मा

महाकवि 'शेली' भी इसी प्रकार असफलताओं, वेदनाओं के भार से दवा जाता है; किन्तु वह अकर्मण्य वनकर प्रलाप ही नहीं करता, वह उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है—

Oh lift me as a wave, a leaf, a cloud
I fall upon the thorns of life, I bleed !

जिस प्रकार निशा के अंधकार में व्यक्तिगत भेद-भाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दुःख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। दुःख की भावना ही ऐसी वृत्ति है जो मानव को परस्पर सहानुभूति के एक तार से वांध देती है। 'मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, पर दुःख सवको वाँटकर। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जलविंदु समुद्र में मिल जाता है—यही कवि का मोक्ष है। व्यक्तिगत सुख विश्व-वेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है, किन्तु व्यक्तिगत दुःख विश्व के दुःख में घुलकर जीवन को अमरत्व'। दुःख के इस सिद्धांत की अन्वेषक महादेवीजी इसी भाव को निम्न पंक्तियों में इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कम्पन का
एक सूत्र सवके वन्धन का;

चरित्र-चित्रण हृदय में एक क्रांति-सी; एक मधुर टीस-सी क्यों मचाने लगता है ? कारण वही कि ह्यूगो ने मानव जीवन में प्रवाहित एक अलक्षित वीणा की स्वर-लहरी को प्रत्यक्ष स्वरूप प्रदान किया है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य की छायावाद-धारा की कलकल-ध्वनि में भी वेदना का एक हृदय-स्पर्शी संगीत मिला हुआ है, जो अबाधगति से मानवात्मा की करुण-वृत्ति में जागृति का कम्पन भर रहा है, एक मधुर स्पन्दन उत्पन्न कर रहा है। प्रेयसी की निष्ठुरता से कवि का हृदय भग्न होकर कैसी तप्त उसासें निकालता है—

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को,
वह मधुप विंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो, हृदय रो !

—पंत

इसी प्रकार प्रेमिका के सलज्ज मौन के आघात से विशृंखल कवि के हृदय की वीणा सिसकियों की ध्वनि में झंकृत हो उठती है—

आह ! कितने विकल-जन-मन मिल चुके;
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके !
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके।
क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं !

—निराला

इसी प्रकार की करुण सिसकियों में 'शेली' का हृदय फूट पड़ता है—

Misery we have known each other,
Like a sister and a brother.

दुखी-हृदय को, अपने चारों ओर सुख का स्रोत बहता देख, अपना अभाव और भी वेदनाप्रद हो जाता है—

मधुमालतिआँ सोती थीं, कोमल उपधान सहारे।
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर गिनता अम्बर के तारे॥

यह वेदना कालान्तर में निराशा का रूप धारण कर लेती है। इसी निराशा

से कवि-हृदय भार-स्वरूप बन जाता है। वह विवशता में बँधकर व्याकुल हो रो उठता है—

मेरे दुःख में प्रकृति न देती क्षण-भर मेरा साथ ;
उठा शून्य में रह जाता है, मेरा भिक्षुक हाथ।

—रामकुमार वर्मा

पार्थिव घात-प्रतिघातों से निरन्तर निराशा का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उसका भार मानव-शक्ति द्वारा वहन नहीं किया जा सकता। कवि आक्रान्त हो जाता है—

नहीं सहा जाता अब देवि,
असफलता का यह भीषण भार!

—भगवतीचरण वर्मा

महाकवि 'शेली' भी इसी प्रकार असफलताओं, वेदनाओं के भार से दबा जाता है; किन्तु वह अकर्मण्य बनकर प्रलाप ही नहीं करता, वह उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है—

Oh lift me as a wave, a leaf, a cloud
I fall upon the thorns of life, I bleed!

जिस प्रकार निशा के अंधकार में व्यक्तिगत भेद-भाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दुःख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। दुःख की भावना ही ऐसी वृत्ति है जो मानव को परस्पर सहानुभूति के एक तार से बाँध देती है। 'मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, पर दुःख सबको बाँटकर। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जलबिंदु समुद्र में मिल जाता है—यही कवि का मोक्ष है। व्यक्तिगत सुख विश्व-वेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है, किन्तु व्यक्तिगत दुःख विश्व के दुःख में घुलकर जीवन को अमरत्व'। दुःख के इस सिद्धांत की अन्वेषक महादेवीजी इसी भाव को निम्न पंक्तियों में इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कम्पन का
एक सूत्र सबके बन्धन का;

चरित्र-चित्रण हृदय में एक क्रांति-सी; एक मधुर टीस-सी क्यों मचाने लगता है ? कारण वही कि ह्यूगो ने मानव जीवन में प्रवाहित एक अलक्षित वीणा की स्वर-लहरी को प्रत्यक्ष स्वरूप प्रदान किया है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य की छायावाद-धारा की कलकल-ध्वनि में भी वेदना का एक हृदय-स्पर्शी संगीत मिला हुआ है, जो अबाधगति से मानवात्मा की करुण-वृत्ति में जागृति का कम्पन भर रहा है, एक मधुर स्पन्दन उत्पन्न कर रहा है। प्रेयसी की निष्ठुरता से कवि का हृदय भग्न होकर कैसी तप्त उसासें निकालता है—

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को,
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो, हृदय रो !

—पंत

इसी प्रकार प्रेमिका के सलज्ज मौन के आघात से विश्रृंखल कवि के हृदय की वीणा सिसकियों की ध्वनि में झंकृत हो उठती है—

आह ! कितने विकल-जन-मन मिल चुके;
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके !
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके।
क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं !

—निराला

इसी प्रकार की करुण सिसकियों में 'शेली' का हृदय फूट पड़ता है—

Misery we have known each other,
Like a sister and a brother.

दुखी-हृदय को, अपने चारों ओर सुख का स्रोत वहता देख, अपना अभाव और भी वेदनाप्रद हो जाता है—

मधुमालतिआँ सोती थीं, कोमल उपधान सहारे।
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर गिनता अम्बर के तारे॥

यह वेदना कालान्तर में निराशा का रूप धारण कर लेती है। इसी निराशा

से कवि-हृदय भार-स्वरूप बन जाता है। वह विवशता में बँधकर व्याकुल हो रो उठता है—

मेरे दुःख में प्रकृति न देती क्षण-भर मेरा साथ ;
उठा शून्य में रह जाता है, मेरा भिक्षुक हाथ।

—रामकुमार वर्मा

पार्थिव घात-प्रतिघातों से मिलकर निराशा का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उसका भार मानव-शक्ति द्वारा वहन नहीं किया जा सकता। कवि आक्रान्त हो जाता है—

नहीं सहा जाता अब देवि,
असफलता का यह भीषण भार !

—भगवतीचरण वर्मा

महाकवि 'शेली' भी इसी प्रकार असफलताओं, वेदनाओं के भार से दबा जाता है; किन्तु वह अकर्मण्य बनकर प्रलाप ही नहीं करता, वह उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है—

Oh lift me as a wave, a leaf, a cloud
I fall upon the thorns of life, I bleed !

जिस प्रकार निशा के अंधकार में व्यक्तिगत भेद-भाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दुःख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। दुःख की भावना ही ऐसी वृत्ति है जो मानव को परस्पर सहानुभूति के एक तार से बाँध देती है। 'मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, पर दुःख सबको बाँटकर। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जलबिंदु समुद्र में मिल जाता है—यही कवि का मोक्ष है। व्यक्तिगत सुख विश्व-वेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है, किन्तु व्यक्तिगत दुःख विश्व के दुःख में घुलकर जीवन को अमरत्व'। दुःख के इस सिद्धांत की अन्वेपक महादेवीजी इसी भाव को निम्न पंक्तियों में इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कम्पन का
एक सूत्र सबके बन्धन का;

लघु मानस में वह असीम जग को आमंत्रित कर लाता।

दुःख की उपयोगिता उनके भावना-क्षेत्र को इतना परिपूर्ण कर देती है कि उसमें सुख के लिए कुछ भी स्थान नहीं रह जाता। दुःख के पक्ष को प्रबल सिद्ध करने में सुख के प्रति उनके हृदय में लघुता और निष्प्रयोजनीयता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं—

सुख आता प्यासों के पग धर
रुद्ध हृदय के पट लेता कर
गर्वित कहता मैं मधु हूँ मुझसे पतझड़ का क्या नाता!

पंत जी के हृदय से भी दुःख के प्रति बड़े ही मार्मिक उद्गार उद्भूत हुए हैं—

दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन
दुख के तम को खा-खाकर भरती प्रकाश से वह मन।
अपनी डाली के काँटे नहीं वेधते अपना तन
सोने-सा उज्जवल बनने तपता नित प्राणों का धन।

'ग्रे' भी इसी प्रकार पंतजी के साथ स्वर मिलाता है—जब वह अपने अनुभव को निम्न शब्दों में चित्रित कर देता है—

Sorrow, the tamer of the human breast!

किसी-किसी कवि को तो सुख से इतनी विरक्ति तथा दुःख से इतना प्रेम हो गया है कि वे उसको हृदय के कुंज में मृग-छौना-सा पालते हैं—

मेरा दुख हत्यारे जग का बन जाये न खिलौना सा;
इस भय से उर के कुंजों में छिपा रखा मृग-छौना-सा।

इस प्रकार आधुनिक काव्य-साहित्य में छायावादी कवियों ने विषाद और वेदना का जो अबाध-स्रोत बहाया है उसमें अन्य विषय पूर्णतया डूब-से गए हैं। कवि श्रेष्ठ 'शेक्सपियर' के शब्दों में वे अश्रु के टलमल-नृत्य को हास के मधुर लास से अधिक मनोहर मानते हैं—

A Beauty's tears are lovelier than her smiles.

वेदना, विषाद, करुणा, आँसू की अनुभूति में इस काल में जो कलात्मक चित्र अंकित किये गए हैं, वे हिन्दी-साहित्य की अमूल्य रत्न-लड़ियाँ हैं। करुणा के व्यापक प्रभाव को दृष्टि में रखकर पंतजी का कवि आर्द्र-वाणी में कह उठता है—

आँसू की आँखों से मिल भर ही आते हैं लोचन

... ...

दुखदावा से नव अंकुर पाता जग-जीवन का वन।
करुणार्द्र विश्व की गर्जन बरसाती नव-जीवन-[illegible]।

'प्रसाद' जी की करुणा तो उनकी सर्वस्व है। 'निराला' जी [illegible] कोमल और सुकुमार नहीं, किन्तु उनमें एक आह-सी, एक [illegible] सजीव टीस है, जो बरबस करुणा से आँखें सजल कर देती है। [illegible] विधवा' और 'भिक्षुक' में उनकी स्वर-लहरी के [illegible] करुणा इस प्रकार घुली पड़ी है कि वह उसकी आत्मा, [illegible] 'भारत की विधवा' की निम्न पंक्तियों में कितना [illegible]—

वह इष्ट-देव के मन्दिर की पूजा-[illegible]
वह दीप-शिखा-सी शान्त भाव [illegible]

... ...

वह टूटे तरु की छुटी [illegible]

... ...

दलित भारत की [illegible]

उस करुणा की सरिता [illegible]
लघु टूटी हुई कुटी का [illegible]
अति छिन्न हुए भीगे [illegible]
दुख रूखे-सूखे अधर [illegible]
वह दुनिया की [illegible]
रोती है अस्फुट [illegible]—
दुख सुनता है [illegible]
निश्चल [illegible]
सरिता की [illegible]

जीवन और [illegible]—

No man [illegible]
the same time [illegible]

अमेरि[illegible]

[illegible] सी
[illegible]ात्मक
[illegible] से ऊब
[illegible]वव-जगत् के

सम्बन्ध में लिखा था—'उसका जन्म-स्थान आत्मा है; अतः जिस रचना का सर्वस्व आत्मा नहीं, वह कविता नहीं। कवि न तो सदुपदेश देता है और न लेता है। वह अपनी आत्मा को जानता है। इसी में वह अपना आत्म-गौरव समझता है। इस आत्म-गौरव के साथ उसकी सहानुभूति अनन्त है। इसी भाव के कारण वह विश्व को अपने में और अपने को विश्व में देखता है। इस प्रकार कवि जगत् और जीवन का एक बड़ा उत्तरदायी समालोचक है। अपने अनुभव से, भावना से, कल्पना से वह जगत् और जीवन पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालता है। जीवन के सभी पक्षों की अनुभूति के निमित्त अपने हृदय को वह खुला रखता है। जीवन के प्रत्येक तत्व में, प्रत्येक मनोविकार में, वह घुसकर उसके एक-एक कण को टटोलता है, और अंत में अपनी साधना से सन्तुष्ट होकर उनके चित्र खींचता है।'

हिन्दी के छायावादी कवियों की दृष्टि भी पर्याप्त रूप में जीवन और जगत् की समस्याओं पर गई है। फल-स्वरूप अनेक ऐसे मुक्ताकण प्रकट हुए हैं, जो साहित्य की 'स्थायी सम्पत्ति' में सन्निविष्ट किये जा सकते हैं।

जीवन सुख-दुख, हास-विषाद, प्रेम-घृणा की आँख-मिचौनी है। न तो जीवन पूर्णतया सुख ही है और न पूर्णतया दुख ही। सुख-दुख जीवन-पक्षी के दो पंख हैं, जिनसे वह इस अनन्त विश्व में साधनाशील होकर जीवन के, आत्मा के सत्य को खोजता फिरता है। कविवर पंत जी इसी को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

> सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन;
> फिर घन में ओझल हो शशि औ शशि में ओझल हो घन।

यदि जीवन के प्रत्येक पक्ष में, प्रत्येक स्थिति में उल्लास की ही सुधा-स्राविणी रागिनी बजती रहेगी, अथवा जीवन के पग-पग पर दुःख के अश्रु ही बिखरा करेंगे तो वह जीवन भी एक भार-स्वरूप हो जायेगा—

> अपने मधु में लिपटा पर कर सकता मधुप न गुञ्जन,
> करुणा से भारी अन्तर खो देता जीव-कम्पन।

—पंत

'प्रसाद' जी ने भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

> लिपटे सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे;
> चन्द्रिका अँधेरी मिलती मालती कुंज में जैसे।

महादेवी जी जीवन को हर्ष-प्रधान अथवा हर्ष और विषाद का सम्मिलन मानने की अपेक्षा उसे वेदना-प्रधान मानती हैं। अपने इस सिद्धांत में वे तथागत भगवान् बुद्ध के दर्शन से प्रभावित हुई प्रतीत होती हैं। भगवान् बुद्ध की भांति वे संसार की उत्पत्ति को ही दुःखमय मानती हैं—सभी वस्तुओं में वे उस अनन्त विषाद का ही प्रतिबिम्ब देखती हैं—

विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द ;
यहाँ किसका अनन्त यौवन ?

'प्रसाद' का कवि-हृदय जीवन की नश्वरता तथा क्षणभंगुरता का ध्यान कर ही विकल मुख फेर लेता है—

मत कहो कि यही सफलता कलियों के लघु जीवन की ;
मरकन्द-भरी खिल जावें, तोड़ी जावें; बे-मन की।

हम जीवन को साररूप में ग्रहण कर सकते हैं, असाररूप में नहीं, क्योंकि संसार के सुख-दुःख सरिता के युगल पुलिनों की भांति उसके जीवन से एक भिन्न वस्तु हैं; जीवन का तो एक और ही शाश्वत अस्तित्व है—

अस्थिर जीवन का सुख-दुख, जीवन ही सत्य; चिरन्तन !
सुख-दुख से ऊपर मन का जीवन ही रे अवलम्बन !

आधुनिक छायावादी कवियों का वैराग्य में अथवा जगत के कार्य-क्रम से उदासीनता में विश्वास नहीं, वरन् कर्म में विश्वास है। मुक्ति की अपेक्षा जीवन के बन्धनों में उनकी अधिक आस्था है—

जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिरगूढ़ सरलपन;
है सहज मुक्ति का मधुक्षण; पर, कठिन मुक्ति का बंधन।

इसी प्रकार का भाव रवीन्द्र की 'स्वर्ग से विदा' में मिलता है। इसी प्रकार अँगरेजी का प्रसिद्ध विचारक कवि 'ब्राउनिंग' अपने Rephan नामक काव्य में अपने हृदय की वृत्तियों को चित्रित करता है। वह स्वर्ग के सुख से ऊब गया, स्वर्ग के अस्तित्व में ग्लानि का भाव उदित हुआ, वह पार्थिव-जगत् के लिए व्याकुल हो गया—

I yearned for no sameness but difference
In thing and thing.

...   .

Thou art past, Rephan,
Thy place to earth.

महादेवी जी भी इसी प्रकार अपनी रागिनी गाती हैं—

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार !
मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति का कण भर।

कर्म-योग में विश्वास के साथ कवियों को फल की आकांक्षा नहीं। उनका सिद्धान्त है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' निम्न पंक्तियों में यही भाव है—

इस अचल क्षितिज-रेखा से, तुम रहो निकट जीवन के;
पर तुम्हें पकड़ पाने के, सारे प्रयत्न हों फीके।

—महादेवी

उठ-उठ लहरें कहतीं यह, हम कूल विलोक न पावें;
पर इस उमंग में बह-बह नित आगे बढ़ती जावें।

—पंत

इन साधनाशील तथा विश्व-प्रिय हृदयों के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या उन कवियों की भी है जो संसार की ज्वाला से, वेदनापूर्ण स्थिति से व्याकुल होकर एक नये ही लोक में जाना चाहते हैं—

हमें जाना है जग के पार—जहाँ नयनों से नयन मिलें;
ज्योति के रूप सहस्र खिलें, सदा ही बहती नव रस-धार;
वहीं जाना इस जग के पार।

—निराला

एक श्रेणी के कवियों के हृदय में संसार की इस अशान्ति, उद्वेग, विशृंखलता के प्रति क्रोध का एक बवंडर छिपा पड़ा है। वे संसार का अस्तित्व ही मिटा देना चाहते हैं। अपनी वेदनापूर्ण स्थिति से वे इतने क्रोधित हैं कि शेष संसार की उनको कुछ चिन्ता नहीं। वे प्रलय को निमन्त्रित करते है—

गगन पर घिरो मंडलकार ! अवनि पर गिरो वज्रसम आज !
गरज कर भरो रुद्र हुंकार, यहाँ पर करो नाश का साज !

—भगवतीचरण वर्मा

प्रकृति—

आधुनिक छायावादी हिन्दी कवियों ने प्रकृति की गोद में किलोलें करके उसका बड़ा ही कलापूर्ण दृश्य चित्रित किया है। जिस प्रकार अंग्रेजी की रोमांटिक कविता ने निखिल प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश कर उसमें अमर-सौन्दर्य, अलौकिक रहस्य तथा जीवन के मधुर सम्बन्ध से संश्लिष्ट चित्र अंकित किये हैं, उसी प्रकार वर्तमान छायावाद की धारा के कवियों ने भी 'शैली' के स्वर-में-स्वर मिलाकर गाया है—

I sang of the dancing stars,
I sang of the daedal earth;
And of heaven—and the giant wars,
And love, and death, and birth.

हिन्दी-साहित्य का प्रकृति का सलोना सुकुमार कवि भी प्रकृति से इसी प्रकार मधुरालाप करता है—

सिखा दो न अयि मधुप-कुमारि, सुरीले अपने मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ-कुछ मधु-पान।

फिर तो प्रकृति का वह इतना दुलारा और परिचित प्राणी हो जाता है कि वह उसी के साथ खेलता है, कलरव करता है, उसी में मिल जाता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि इन पक्षियों को भी उसी ने गान सिखाया हो—

विजन-वन में तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान ?
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि सजल मेरा सोने-सा गान।

—पंत

पंत जी ने 'वादल', 'चाँदनी', 'नौका विहार', 'एक तारा', 'छाया', शीर्षक कविताओं में प्रकृति के बड़े ही संलिष्ट चित्र निर्माण किये हैं, जिन पर हिन्दी को गर्व और गौरव है। 'निराला' जी की 'जुही की कली', 'संध्या सुन्दरी', 'शेफालिका' तथा 'यमुना के प्रति' कविताओं में प्रकृति-चित्रण एवं प्रकृति पर्यवेक्षण चातुरी की जिस अद्वितीय प्रतिभा के दर्शन होते हैं; वह हिन्दी के लिए

एक सौभाग्य की वस्तु है तथा उससे निर्मित चित्र संसार की किसी भी उच्च कला एवं साहित्य के सम्मुख रखे जा सकते हैं। इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती', 'प्रथमवर्षा', 'मधुवन का माली' कविताओं में प्रकृति के मर्मों का मननशील रहस्योद्घाटन है—

वह सरिता की कलित ललित गति
सागर का फेनिल कल्लोल;
उपवन की वह मृदु मादकता;
कानन का मर्मर हिल्लोल!
मधु आसव से गंध विधुर वह
मलयानिल का मदिरोच्छ्वास;
उच्छल फेनिल जलधि विलोड़ित
पुरवैया का सजल उसास।

महादेवी जी का प्रकृति के साथ तादात्मय अपनी सुषमा में अनन्य है। प्रकृति के मानवीकरण के उनके चित्र अत्यंत मनोरम हैं।

भाव और विचार की इस नवीनता तथा अलौकिकता के साथ आधुनिक हिन्दी साहित्य में छायावाद के द्वारा प्राचीन परम्परा के प्रति क्रांति और विद्रोह की अग्नि भी प्रज्वलित हुई। इसका स्पष्ट स्वरूप काव्य-शैली के कलेवर में देखा जा सकता है। प्रबन्ध-काव्य की परम्परा अतुल उदासीनता में डूब-सी गई है तथा उसके स्थान पर गीति काव्य का पुनर्निर्माण किया जा रहा है। 'प्रसाद', 'निराला', 'पंत' ने सर्व प्रथम बंगला साहित्य और अँगरेजी साहित्य की गीति कला से प्रभावित होकर हिन्दी काव्य-साहित्य में एक ऐसी लहर आलोड़ित कर दी कि उसमें समस्त अन्य शैलियां मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठीं तथा गीति-काव्य कला ही आधुनिक कविता की मुख्य धारा रह गई। गीति-काव्य का नेतृत्व मुख्यतया महादेवीजी ने किया, उनके गीतों की मधुरता एवं रमणीयता अन्यत्र नहीं है।

कालिदास और तुलसी की शब्द चित्र-कला अतीत के गर्भ में विलीन होकर नष्ट-सी हो गई थी। यमक, श्लेष-अनुप्रास आदि के साथ कुशल चित्रकारों का भी हमारे काव्य साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ। 'शैली' का आंतरिक चित्र निर्माण पंत का मुख्य विषय बन गया। उन्होंने मुद्रा, स्थिति तथा भाव भंगिमाओं का ऐसा चित्रण किया कि जो स्वयं बोलकर बिना प्रयास के ही अपना स्वरूप स्पष्ट कर देता है—

गहरे धुँधले धुले साँवले मेघों से मेरे भरे नयन।

निराला के शब्द चित्र तो हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। वस्तुओं के अंतराल तथा बाह्य स्थिति का उनका प्रत्यक्ष-दर्शन एवं शिल्प-कौशल उनके चित्रों को चेतन-जैसा सवाक्, सप्राण तथा सरल बना देता है—

सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न—
अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।

इस युग ने पुराने छंदों को, जो कि ब्रजभाषा के ही विशेष उपयुक्त पड़ते थे, बहिष्कृत कर उनके भग्नावशेष पर नए-नए छंदों की उद्भावना की। कवियों ने विरोध की भीषणता में भी अपने आन्दोलन को गतिशील रखा। नवीन छंदों के साथ-साथ मुक्त छंद भी हमारे काव्य कानन में गूंजने लगे। इनका सूत्रपात एवं समर्थन 'निराला' जी ने किया। उन्होंने व्याकरण की वे कड़ियाँ भी तोड़ीं, जिनसे कविता की स्वच्छन्द गति बँध-सी गई थी।

कल्पना-शक्ति अधिक सरस एवं विस्तृत हो गई; साथ-साथ कविता-कला संगीत-कला के साथ एकाकार होकर मधुरता की मूर्ति बन गई। भारतीय संगीत के साथ-साथ बंगला, अँगरेजी संगीत का भी हमारी काव्य-कला पर रंग चढ़ गया। इस प्रकार छायावादी हिन्दी-काव्य-अप्सरा पुराने बंधनों से मुक्त होकर, विविध शृंगार से युक्त होकर नूपुरों की मंजुल ध्वनि करती तथा अपने कल कंठ से जगत् पर माधुरी कण बरसाती विश्व-साहित्य प्रांगण में उतर पड़ी है। वस्तुतः छायावाद आधुनिक काव्य का मुकुट मणि है और छायावाद युग आधुनिक हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग, इसमें सन्देह नहीं।

३

छायावाद में वेदना-माधुर्य

सत्य आत्मा की सनातन ज्योति है। प्रलयकाल में अनादि वृक्ष के पत्तों पर शयित शिशु ने एक सक्रिय अनुभूति का स्पर्श किया—वह एक दिव्य एवं अमर आलोक की रश्मि-रेखा थी, वह सत्य की शाश्वत स्पंदन-लहरी थी। उसे पाकर उस वृक्ष की सूखी नसों में संजीवन की साँस जग उठी, किसलय की क्रोड़ इस दिव्य द्युति को अपने भीतर भरने के लिए आकुल हो उठी। बस फिर शाश्वत-पदों से पहले सृजन आया, फिर विकास की प्यास।

सृष्टि-क्रम में, जन्म-मरण, अश्रु-हास, मिलन-विरह की सीमा में घिरा हुआ प्राणी पृथ्वी के धरातल से उठा और अपनी मानवीय अपूर्णता से पूर्णता की ओर उठने का पवित्र प्रयत्न करने लगा। यह मानवता का सत्य ही एक पूर्णता है। इसी पूर्णता की खोज में मनुष्य अनन्त काल से अपने जीवन के सफल-असफल व्यापारों में लीन है—यही कला की कल्लोलिनी है, साहित्य का स्रोत है और सङ्गीत की स्वर-लहरी का प्राण है। इसी सत्य में अनश्वरता और चिदानंद के प्राण समाये रहते हैं, जिसको छूकर वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास अमर हो गए।

कलाकार की साध्य परिणति इसी प्रकार सत्य के ग्रहण पर होती है। साहित्य में सत्य की यह संजीवनी सम्मान्य होती है, क्योंकि प्रत्येक कला की सुन्दर कल्पना इसी अलौकिक स्पर्श से जीवित हो पाती है। कला के किसी भी क्षेत्र में हमें इस 'पारस' की आवश्यकता है, महादेवीजी के शब्दों में इस 'पारस' के स्पर्श से सब कुछ सोना हो जाता है—एक पागल-से चित्रकार को

जब फटा कागज, टूटी तूलिका और धब्बे डाल देने वाला रंग मिल जाता है तब क्षण भर में वह निर्जीव कागज जीवित हो उठता है, रंगों में कल्पना साकार हो उठती है, रेखाओं में जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है, उस पार्थिव वस्तु के अपार्थिव रूप के साथ हम हँसते हैं, रोते हैं और उसे मानवीय सम्बन्धों से बाँध रखना चाहते हैं।

हमारा हिन्दी काव्य-साहित्य भी इसी 'पारस' सत्य की समीपता प्राप्त करने का सफल प्रयत्न कर रहा है। अनेक कवि, लेखक तथा गायक अपनी कला की साधना को साथ लिये इसी पथ का अनुसरण कर रहे हैं। आधुनिक काल में श्रीमती महादेवी वर्मा इन पथिकों में सर्वाधिक सफल हैं। उनकी काव्य-साधना उनके हृदय के अध्यात्म की एक गंभीर, अतल प्रवासी अनुभूति है, उन्होंने सांध्य-गीत की भूमिका में लिखा है—'सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था-विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्रायः भाव की अतिथ्यता में कला की सीमा लाँघ जाते हैं और उसके उपरांत, भाव के संस्कार-मात्र से मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ, दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त्तक्रंदन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती, जिसमें संयम का नितांत अभाव है; उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में भी है, जिससे संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत संयत हो जाने की सम्भावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ निश्वास में भी है जिससे संयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देती और उसका प्रकटीकरण निस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है, जो निष्क्रिय बन जाती है। वास्तव में गीत के कवि को आर्त्तक्रंदन के पीछे छिपे हुए दुःखातिरेक को दीर्घ निःवास में छिपे हुए संयम से बांधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा। गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं। मीरा के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था; उसके वाह्य राजरानीपन और आंतरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूत थी, अतः उसका 'हेरी, मैं तो प्रेम-दिवानी मेरो दरद न जाने कोय' सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी वेदना को स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। उसके इस उपर्युक्त

विवेचन से हम इस निश्चय पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि उन्होंने जो कुछ लिखा, वह उनके हृदय की अमर अभिव्यक्ति है, जो मानवीय सीमा के अंतिम पद पर पहुँच चुकी है, और यहाँ से देवत्व के उस अनंत तथा अलौकिक प्रकाश की सुदूर प्रसारित किरणों में से अपनी ज्ञानतव्य और ग्राह्य किरण का स्पर्श एवं चयन कर चुकी है और उन्होंने अपनी कला के पावन 'पारस' से लौकिकता की अपूर्णता को पूर्णता के पथ पर पहुँचा दिया है—

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य द्वैत क्या, कैसी बाधा !

आकुलता की चिर-तन्मय ज्योति जगाकर वे जीवन के दिव्य सत्य की झलक देख चुकीं; उनके अंतस्तल की करुण पुकार ही आज राधा बनकर अपने चिर-सत्य—मोहन की—स्मृति द्योतित कर रही है। विरह के अश्रु-सजल क्षण आज अपने दिव्य आराध्य के साथ एकाकार हो गए, फिर जीव और ब्रह्म क्या ? माया और ब्रह्म क्या ? जीवन क्या ? और मरण क्या ? अश्रु-हास, अमा-पूर्णिमा, आलोक-अंधकार—सब स्वरैक्य का शाश्वत स्वरूप बन गए। यही सत्य की परम ज्योति है, मानव जीवन की अमर साधना की पुनीत परिणति है। उपनिषदों के मनीषी ऋषियों ने सत्य की खोज में अपने जीवन को पुनीत बनाया था, उन्हीं के दिव्य अनुभवों और पुनीत पदचिन्हों पर महादेवीजी की साधनाका दिव्य-दीपक समुज्ज्वल है। उपनिषदों के मतानुसार पार्थिव की ससीमता और अपार्थिव की असीमता के विस्तृत आवरण में स्थित जड़-चेतन के निरंतर परिवर्तन तथा पूर्णता की चिरंतन प्रवृत्ति में सामंजस्य की स्थापना ही सत्य के सहज ज्योतिर्मय स्वरूप का अस्तित्व है। महादेवीजी इसी पथ की अचल पथिक हैं। इस समन्वय का जैसा उज्ज्वल एवं कल्याणकारी स्वरूप उनकी साधना में आलोकित है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है—

सेतु शूलों का बना बाँधा विरह-वारीश का जल;
फूल-सी पलकें बनाकर प्यालियाँ बाँटा हलाहल;
दु:खमय सुख, सुख भरा दुख
कौन लेता पूछ जो तुम ज्वाल जल का देश देते ?

अथवा—विरह की घड़ियाँ हुईं, अलि, मधुर मधु की यामिनी-सी !
सजनि ! अंतर्हित हुआ है 'आज' में धुंधला विफल 'कल;'
हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह में मिल;
राह मेरी देखती स्मृति अब निराश पुजारिनी-सी !

आधुनिक हिन्दी काव्य-वीणा से अश्रु-तरल वेदना का गीला गान ही निःसृत हो रहा है। 'पंत' और 'प्रसाद' के अंतर्लोक वेदना की चिरंतन निर्झरिणी से ही कल्लोलित हैं। विरह-व्यथा की तरल लड़ियां करुणा की मूर्ति बनकर 'प्रसाद' के भावलोक को अभिव्याप्त कर रही हैं। 'प्रिय' से उपेक्षित एवं अन-पेक्षित प्रेम के प्रतिदान का अभाव कवि की सांस-सांस में जीवन की आकुलता आलोड़ित कर गया। 'प्रसाद' का कवि-चातक अधीर हो उठता है—

चिर तृषित कंठ से तृप्ति विधुर, वह कौन अकिंचन अति आतुर ?
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ सदृश ध्वनि कंपित करता बार-बार,
धीरे से वह उठता पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार !

जीवन की पलकों पर सूने क्षणों का अज्ञात और असह्य भार प्रस्थित हो जाता है, एकाकीपन की आक्रांत व्यथा शून्य के क्षितिज से उतरकर जीवन के मुकुल को भाराच्छन्न करने लगती है। जीवन का गतिमय सरल सहज प्रवाह सहसा अवरुद्ध होकर फूट पड़ता है—

कब तक और अकेले ? कह दो हे मेरे जीवन बोलो ?
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत अपनी निधि न व्यर्थ खोलो !

कितनी तिमिरमयी निराशा ! कितना विवश-अवश उद्गार ज्वाला को आँसू से बुझाकर धूम्र का कितना घनीभूत वाष्पीय विस्फोटन ! मानव-हृदय की इस परिव्याप्त प्लुति के पश्चात् उद्बोधन का पुनीत पवन चलता है और कवि की मानस अपने विस्मृत और विगत अतीत की गोद में सहज शिशु की भाँति अपना सजल मुख छिपा लेता है—

अब जागो जीवन के प्रभात !
वसुधा पर ओस बने बिखरे, हिमकण आँसू जो क्षोभ भरे,
ऊषा बटोरती अरुण गात, अब जागो जीवन के प्रभात !

अथवा—वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे !
जब सावन-घन सघन बरसते इन आँख की छाया भर थे।
वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे !

'प्रसाद' की इस भारान्वित व्यथा से क्षणिक त्राण पाने का दूसरा शरणास्थल अपने 'प्राणप्रिय' का सतत आह्वान और उनके दिव्यागमन की मनुहारमयी प्रतीक्षा है।

मेरी आँखों की पुतली में तू बनकर प्राण समा जा रे!
खिंच जाय अधर पर वह रेखा जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा, वह स्मित-का चित्र बना जा रे!

इसके अतिरिक्त उनकी एक और परित्राण पर्णिका है, वह है संसार-चक्र के परिवर्तनमय क्रम की चरम सत्यता पर परम आस्था। सुख-दुख जीवन की चिरंतन नवीनतामयी सुरम्य आँख-मिचौनी।

चिर वसंत का वह उद्गम है, पतझर होता एक ओर है,
अमृत-हलाहल यहाँ मिले हैं सुख-दुख बंधते एक डोर हैं।

'प्रसाद' जी की वेदना में आश्रय की आशा है, उनके आँसू में भविष्य के गर्भ में छिपी उल्लास राशि की प्रत्याशित छाया है, उनके निश्वासों में अभावपूर्ति का एक मंगलमय दिव्य संदेश है।

महादेवी जी का कवि पार्थिव जीवन की नश्वर क्षणभंगुर आशा-स्फुलिंग की टिमटिमाती क्षीण प्रकाशरेखा पर विश्रामस्थ नहीं होता। उन्हें हास अश्रु की चिर-परिवर्तनमयी माया की उलझन और भी पीड़ाप्रद अनुभव होती है। उन्होंने कण-कण में अनुप्राणित सत्य को और भी आगे चलकर समझा है। सुख की गोद में दुख और दुख की छाया में सुख की स्मृति—इसी में तो द्वैत की बाधा निहित है। वे जीवन के सत्य के इस प्रथम सोपान से और ऊपर के सोपान पर पहुँच जाती हैं जहाँ सुख-दुख अपनी स्वतन्त्र विलग सत्ता का परित्याग कर एकाकार हो जाते हैं—द्वैत अद्वैत हो जाता है। इसी दिव्य समन्वय में सत्य की परम ज्योति उद्भासित हो रही है।

सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति इसी पार्थिव सत्ता के प्रवर्त्तन क्षेत्र में, इसी जीवन-गति के शाश्वत प्रवाह में होती है, जो कि अपनी अचल साधना में इस परिधि के सीमित क्षेत्र को पार कर जाता है, और इसी कारण अनन्त अनिर्वाच्य तत्व का मधुर निर्देश करता है। जड़ चेतन के व्यष्टि-रूपात्मक अनिवार्य एवं अपरिहार्य तत्वों की समष्टि का लक्षण ही परम जीवन है और इसलिए सत्य है। इसी दिव्य सत्य की स्वर्ण आभा छूकर महादेवी जी का प्रशांत कवि कह पड़ता है—

क्यों मुझे प्रिय हों न बंधन!
बन गया तमसिंधु का आलोक सतरंगी पुलिन-सा
रजभरे जगबाल से है अंक विद्युत का मलिन-सा
स्मृति-पटल पर कर रहा अब वह स्वयं निज रूप अंकन!

किन्तु विषमताओं की आत्मसात् परिणति और भी भास्वर एवं परिपूर्ण हो जाती है—

चाँदनी मेरी अमा का, भेंट कर अभिषेक करती ;
मृत्यु जागृति के पुलिन दो आज जागृति एक करती ;
हो गया अब दूत प्रिय का प्राण का संदेश, स्पंदन !

किन्तु यहीं तक उनकी भावना का प्रवाह सन्तुष्ट हो निश्चेष्ट नहीं हो जाता। वे जीवन के गहनतम प्रकाश को और भी सृष्टि-समष्टि रूप में देखती हैं—

दमकी दिगंत के अधरों पर स्मित की रेखा-सी क्षितिज कोर,
आ गये एक क्षण में समीप आलोक तिमिर के दूर छोर,
घुल गया अश्रु में अरुण हास हो गई हार में जय विलीन !

इस निरामय स्थिति में न आशा की मृगमरीचिका की क्षणिक तृप्ति में छिपी निराशा की प्रच्छन्न निर्धूम ज्वाला का अस्तित्व है और न निराशा की अश्रुप्लाविनी के अंतराल में अचिर उल्लास का चिर करुण अहमिति का अमर निवास। यहाँ स्वीय पूर्णता है, अभाव और अनाभाव के इस दिव्य एकात्म ही में 'आनन्द' है—यहाँ पहुँचकर 'प्रियतम' का वियोग कैसा ? यहाँ 'महामिलन' का चिदानन्दमय सजल प्रसाद है, जिसके प्रमुद संस्पर्शन से प्रकृति का कण-कण एक चिर नवीन और चिर मधुर रागिनी में परिणत हो जाता है—

सजग प्रहरी से निरंतर जागते अलि रोम-निर्भर !
निमिष के बुदबुद मिटाकर, एक रस है समय-सागर !
हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले !

संसार की कण कण निलयित माया की सम्मोहन लीला से अपने आत्मरूप को अपरिचित एवं अस्पर्शित रखने के लिए दार्शनिक मनीषी और आर्त भक्तगण मोक्ष अथवा मुक्ति के हेतु 'परमप्रिय' की आराधना करते हैं। स्वार्थ का कितना एक रस और जड़ीभूत तांडव ! महादेवी जी के कवि ने इससे विमुख होकर कितनी मधुर साधना का अवलंबन लिया है ! उन्हें मोक्ष मुक्ति की अभिलाषा नहीं। वे तो चाहती हैं—

आज वर दो मुक्ति आवे बंधनों की कामना ले !

इस बंधन में ही वे अपने जीवन की परम एवं चरम सार्थकता उद्भासित पाती हैं, क्योंकि इस अनोखी कारा के धूमिल वातावरण में ही उन्हें परम सत्य

की चिदानन्द ज्योति के दर्शन हो पाये हैं; यहाँ आकर ही वे विरोधमयी विषमताओं से ऊपर उठकर संसृति के गहन अंतराल में आच्छन्न परम सत्य के दिव्य संदेश को सुन पाई हैं—

> विरह का युग आज दीखा, मिलनी के लघु पल-सरखा,
> दुःख-सुख में कौन तीखा, मैं न जानी औ' न सीखा !
> मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले !

विरह वेदना के अन्तस्तल से उत्थित तरल हिमकण लेकर, कविवर पंत जी की काव्य साधना भी अपना उन्मन अंचल ओढ़े परम सत्य के चिर विहान के शाश्वत आह्वान में तन्मय थी। विरह आता है, कवि के हियशतदल पर तुषार भाराक्रांत मेघ बनकर, वे उसके एक ही संस्पर्शन से सिहर जाते हैं—कोमल किसलय सा मन और तुषार की प्राणांतक हिम सजल शीतलता ! वे व्यथित होकर पुकार उठते हैं—

> मेरा पावस ऋतु सा जीवन,
> मानस सा उमड़ा अपार मन;
> गहरे, धुँधले धुले; साँवले,
> मेघों से मेरे भरे नयन।

अथवा—मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को
थाम ले अब, हृदय ! इस आह्वान को
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को !

पंत जी का कवि विवश निराशा के इस चिरंतन और अनन्त प्रसारित क्रंदन से आर्तनाद कर उठा। जीवन के इस विषम ज्वालामय अभाव से उसे प्रसाद जी की भाँति जीवन के 'दर्शन' में कुछ आश्वासन प्राप्त होता है। कवि से वे दार्शनिक बन जाते हैं और अनुभवों का मधुर लेपन जगती के विदग्ध घावों पर करने लगते हैं—

> आज का दुख, कल का आह्लाद,
> और कल का सुख आज विषाद।

या—बिना दुख के सब सुख निस्सार
बिना आँसू के जीवन भार !

चाहे दुख का, उनकी साधना में अमर अ
उपेक्षामयी अवहेलना नहीं—दोनों का समभाव
साध्य है, जो मानव जीवन के लिए परमावश्यक
साधना क्रियात्मक भाव से वेदना के गहन अन्त
की सौरभरूपी सत्य अनुभूति को नहीं छू पाई अ
उद्गार में बिखर पड़ा—

मैं सीख न पाया अब तक
दुख को सुख से अपनाना !

महादेवी जी का कवि इस दृष्टि से अपनी साधना में अधिक सफल एवं परिपूर्ण है। आत्मगत विजय की अनुभूति से उनकी साधना और भी प्रदीप्त एवं उज्जवल हो गई है। दार्शनिक सत्यसंधानों का अनुभूत समूहजाल न तो इतना व्यापक, न इतना प्रभविष्णु एवं न इतना स्थायी ही होता है जितना व्यक्तिगत जीवन के अमर क्षणों की दिव्य अनुभूतियों से निःसृत मधुर प्रवाह। इसके अतिरिक्त ये दार्शनिक सूत्र विपथगामी ही बनाते हैं, और अपनी निरी संख्या और परिमाण के अतुल संभार से मानव-मन को भाराच्छन्न किया करते हैं, किन्तु आत्मा का संसार इससे कहीं अधिक विस्तृत एवं प्रकृत है। महादेवी जी की साधना में यही विशेषता है। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत वेदना के एक सजल छोर को पकड़ कर सर्वात्म के चिदानन्दमय विषाद के उस छोर को भी करतलगत कर लिया जहाँ उनकी व्यष्टि दिव्य समष्टि का स्वीय स्वरूप बन जाती है। इस चरम अनुभूति की परिणति में, इस परम सत्य की तदाकारता में विलीन होकर महादेवी जी क्यों न अपने 'प्रियतम' की समता करें ? उस 'प्रियतम' के समस्त गुण उनमें आ गए हैं—

उमड़ता मेरे दृगों में बरसता घनश्याम में जो ;
अधर में मेरे खिला नव इन्द्रधनु अभिराम जो ;
बोलता मुझमें वही जग मौन में जिसको बुलाता !

अपने असीम व्यक्तित्व को 'प्रिय' के असीम व्यक्तित्व में लय करके उनमें कौनसा अभाव, कौनसा 'अपूर्ण' अवशेष रह गया है ? फिर क्यों वे 'प्रिय' की सदय करुणा के लिए अकुल होवें ! जिस भाँति 'प्रिय' की अधर-छलकती मुसकान में प्रकृति के नवल उल्लास का आवास है और जिस भाँति उसका क्षणिक विषाद चराचर की वेदना का उत्स स्थान है, उसी भाँति क्या उनके भावों की

की चिदा[illegible]
विषम[illegible]प्ति संसृति के आवर्तन-परिवर्तन में नहीं ? जीवन के चपल क्षणों के दि[illegible]चर देहपिंडों पर नहीं ? जीवन के अंतस्तल में निहित सत्य तो सृजनात्मक है। 'प्रिय' की सर्व-शक्ति-शालीनता की समता दिखाते हुए महादेवी जी के गर्वीले उद्‌गार निःसृत हो पड़ते हैं—

> फैलते हैं सांध्य नभ में भाव ही मेरे रंगीले,
> तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले ;
> बंदिनी बनकर हुई मैं बंधनों की स्वामिनी-सी !

'बंधनों की स्वामिनी' बनकर उन्हें क्यों न अपने निजत्व का मूल्य ज्ञात हो ! 'प्रिय' के मिलन-क्षण की निलयता में उनका 'निजत्व' लय हो जायगा। समता की प्रभुता का ध्यान फिर उनके सहज व्यक्तित्व को ऊँचा उठा देता है—

> मिलन-मंदिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन
> मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल-कण,
> सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं !

मुक्ति और निर्वाण का संदेश लेकर 'प्रिय' वेदना की करुण प्रतिमा पर अनुकंपा प्रदर्शन करने आये हैं, पर कवि को स्मरण है कि विरह की तप-साधना से ही 'प्रिय' का आगमन संभव हुआ है। वह इस विरह के वातावरण में ही अपने 'प्रिय' को प्राप्त कर पाया है, फिर वह कैसे अपने इस परम प्रिय सहचर का परित्याग कर 'निर्वाण' की स्वर्गिक निधि के सम्मुख हाथ फैला दे ? इसी हृदय के परमधन विरह का विनाश करने प्रिय आये हैं। कवि का आत्म-सम्मान बड़े गर्व से प्रतिस्पर्धा के संभ्रांत स्वर में कह उठता है—

> शिथिल चरणों के थकित इन नूपुरों की करुण रुनझुन,
> विरह का इतिहास कहती जो कभी पाते सुभग सुन ;
>
> चपल पग धर,
> आ अचल उर
> वार देते मुक्ति, खो
> निर्वाण का संदेश देते !

कवि के सरल हठीलेपन को अपनी अमित ममता से 'प्रिय' मानते हैं, किन्तु वह अपना आत्माभिमान नहीं त्याग सकता। वह विरह की परम निधि की संरक्षा में अपने प्रिय की अवहेलना करने को प्रस्तुत है—

मेरे बिखरे प्राणों में
सारी करुणा ढुलका दो,
मेरी छोटी सीमा में
अपना अस्तित्व मिटा दो !
पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूँढा
तुम में ढूँढूँगी पीड़ा !

आराध्य के प्रति आत्मभाव-भरी निजता का इतना मधुर चित्र विश्व के साहित्य की परम चित्रोपमता अनुप्राणित चित्रावली के सम्मुख अपनी महानता का उद्‌घोष अपनी अमरता में चिरकाल तक करता रहेगा। हिन्दी काव्य के लिए यह परम गौरव की वस्तु है, और भारत की भारतीयता की प्रलुप्त ज्योति का जो नवावतीर्ण रूप महादेवी जी की अनंत करुणा में उद्‌भासित हो रहा है वह आधुनिक विश्व की मोहांधता में एक अमर आलोक का सनातन प्रकाश-स्तंभ है।

वेदना और विरह का इतना अधिव्यापक और सफल चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है—जीवन की क्षुद्र ससीमता में विरह के राजमार्ग पर चलकर उन्होंने जिस प्रशांत निःश्वास की परिधि में परम सत्य के दर्शन किये वह अनेक विरह-व्यथा के चित्रण करने वाले वर्तमान एवं भावी कवियों के लिए दिव्य पथप्रदर्शक ध्रुव-तारक है। उनके चित्रण में निराशा की संतत उच्छ्‌वासों का रौद्र तांडव नहीं, उनके अश्रुकणों में अस्थिपंजरों की संधियों में प्रसरण करने वाली प्रचंड वायु का-सा हाहाकार नहीं क्योंकि—

मैं आज चुपा आई चातक,
मैं आज सुला आई कोकिल,
कंटकित मौलश्री हरसिंगार,
रोके हैं अपने श्वास शिथिल !
सोया समीर नीरव जग पर
स्मृतियों का भी मृदु भार नहीं !

कवि के अंतराल में कितनी व्यापकता एवं गहराई से अभिभूत वेदना का प्रशांत निश्वास अधिवास करता है। शारीरिकतामय शोक की नग्नक्रीड़ा नहीं,

जो कि सतह की वस्तु है, वरन् आत्मा के चिरंतन उत्ताप की शाश्वत धूपमयी प्रज्वाल है। कितना संयत, संयमित और भाव परिमार्जित चित्रण है! यदि आधुनिक खड़ी बोली के काव्य में भाषा को सुकोमल, सुमधुर तथा सुसम्पन्न बनाने एवं उसके परिष्करण और परिमार्जन का श्रेय पंत जी को है तो भावना के सरस सजग संयम का, माधुर्यमयी कोमल संयतता तथा सप्रमाणता का और सुवर्ण-शालीनता का श्रेय महादेवी जी को है।

देवी जी के काव्य में आत्मानुभूत सत्य का दिव्यालोक केवल दर्शनशास्त्र की शुष्क उलझनों में फँसे हुए प्रकाश की तरह कोई वस्तु नहीं, साथ ही काव्यानन्द के छायालोक की स्पप्नीहारिका भी नहीं, जहाँ कभी-कभी केवल कल्पना का प्राधान्य रहता है, वरन् उनके सत्य की पुनीत प्रभा कला के अलौकिक आनन्दमय नवजीवन की प्रकाश-किरण है। वह आत्मत्याग की साधना से उपार्जित विश्व-कल्याण की दीप्ति है और है जीवन तथा कला का चरम सामंजस्य। किसी ने कहा है—

'कविता पढ़ना अच्छा है। काव्यरचना करना और भी अच्छा है, पर सबसे सुन्दर है काव्यमय जीवन व्यतीत करना।' अस्तु, हम कह सकते हैं कि महादेवी जी का काव्य जीवनमय है और जीवन काव्यमय है। यही आत्मा का कवित्व और कला की सर्वश्रेष्ठ सत्ता है, इसी से उनकी कृतियाँ अपनी दिव्यता में पुनीत, अपनी ज्योति में शाश्वत और अपनी साधना में सनातन हैं, इसमें संदेह नहीं है।

४

छायावादी काव्य में गीत-तत्त्व

प्रथम महायुद्ध के प्रायः समानान्तर प्रस्फुटित होने वाले तथा द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के कुछ पहले अपने विकास की चरम परिणति का स्पर्श करने वाले हिन्दी-काव्य-सृजन के स्वरूप को छायावाद नाम क्यों और कैसे दिया गया, इसका ऐतिहासिक विवेचन हमारा यहां उद्देश्य नहीं, परन्तु इतना कह देना अनिवार्य है कि छायावाद राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ व्यक्ति स्वातंत्र्य की वह अभिनव कलात्मक अभिव्यक्ति है जिसने साहित्य-संसार में समस्त प्राचीन रूढ़ियों और जन-जीवन में विदेशी गुलामी के प्रति एक ऐसा विद्रोह तथा वितृष्णा का भाव भर दिया जिसका न केवल ऐतिहासिक वरन् स्थायी महत्व और मूल्य है ।

सामाजिक और भौतिक विज्ञान जिस प्रकार हमारी बौद्धिक चेतना को नयी दिशा और विस्तार देता है उसी प्रकार हमारा साहित्य हमारी भाव-चेतना को गहराई और सघनता देने में सक्षम है । हमारा भाव-जगत्, हमारे सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, मिलन-विरह और उद्वेग-उल्लास से जितना संलग्न है उतना जीवन जगत् की निरपेक्ष स्थितियों से नहीं, क्योंकि उसका सम्बन्ध हमारी रागवो-धात्मक वृत्ति से है न कि हमारी बौद्धिक जिज्ञासाओं से । यदि ऐसा न होता तो प्रत्येक युग के काव्य-साहित्य का निजी महत्व और मूल्यांकन करना कठिन हो जाता । वस्तुतः काव्य का प्रमुख निकप अनुभूति की गहराई, व्यापकता और अभिन-वता ही है । इसीलिए काव्य, अभिव्यक्त अनुभूति के विपयवस्तु के सौन्दर्य और सत्य को स्पष्ट करने के साथ-साथ उसकी विषयातीत आत्मा का आभास भी

देता चलता है और यही उसकी चरम सफलता और सार्थकता भी है। इस दृष्टि से छायावाद ने जीवन और जगत् में बिखरे सौन्दर्य और उसकी आत्मा-प्रेम-वृत्ति की आनंदाभिव्यक्ति में जो कुशलता प्राप्त की है, वह हमारे साहित्य में अद्वितीय है।

बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् से सम्बद्ध अनुभूतियों की विविधता और विचित्रता तथा उनकी सघन जटिलता की स्पष्ट और अनायास बोधगम्यता के लिए कोई भी स्थूल माध्यम पूर्णतया कभी सक्षम नहीं हो सकता, उत्तमतम माध्यम भाषा भी नहीं, क्योंकि वह स्वयं भी भाव-व्यंजना का उपकरण मात्र ही है। किसी भी अनुभूति की शब्दबद्ध अभिव्यक्ति मूल अनुभूति का प्रतिबिम्ब ही उपस्थित कर सकती है इससे अधिक कुछ और नहीं। संभवतः इसीलिए काव्यालोचकों ने अनुभूति और व्यंजना में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की स्थापना पर बल दिया है। वास्तव में सफल से सफल शब्द-रूप भी जीवन और जगत् की मूल अनुभूति का स्थानापन्न नहीं वरन् उसका छाया रूप ही हो सकता है। संसार को ब्रह्म की छाया माननें का भी यही कारण जान पड़ता है।

सृष्टि क्रम का विश्लेषण करते हुए सांख्य दर्शन ने जो अभिमत व्यक्त किया है, वह कुछ इस प्रकार है—सूक्ष्म-चेतन-अव्यक्त पुरुष अपने को व्यक्त-स्थूल प्रकृति के माध्यम से प्रत्यक्ष करता है। यही नियम साहित्य सृष्टि में भी लागू होता है। सूक्ष्म-चेतन-अव्यक्त भाव अपने को व्यंजना के व्यक्त-स्थूल माध्यम से प्रकट करता है। स्पष्ट है कि व्यंजना अनुभूति के अनुरूप ही अपना स्वरूप स्वतः प्राप्त कर लेती है। सौन्दर्यमयी अनुभूति की व्यंजना कभी कुरूप नहीं हो सकती। वस्तुतः सृष्टि मात्र सूक्ष्म-स्थूल, व्यक्त-अव्यक्त, चेतन-जड़ के सहयोग-सम्पर्क अथवा मिलन से ही संभव होती है। जिस प्रकार अरूप चेतन पुरुष सस्वरूप प्रकृति के माध्यम से व्यक्त होता है, उसी प्रकार हमारे अरूप चेतन भाव सस्वरूप भाषा के माध्यम से व्यक्त होते हैं। अस्तु हम कह सकते हैं कि व्यक्त के आधार पर अव्यक्त का आभास, प्रतिबिम्ब या छाया रूप ही सृष्टि है। रूप, रंग, रेखा तथा शब्दों और शिल्प की नाना विधि भंगिमाओं में बँध कर अरूप भाव प्रकट होता है, पर यह प्राकट्य स्वयं भाव नहीं, उसका छायाभास मात्र है। बहुत संभव है इसीलिए, भावावेग और अनुभूति की तीव्रता के आधार पर अभिव्यक्त होने वाले काव्य का नाम छायावाद पड़ा हो तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, स्वाभाविक ही है।

हिन्दी काव्य के ऐतिहासिक आलोक में संचरण करते हुए जब हम छाया-

वाद युग की सीमा रेखा का स्पर्श करते हैं तब उसकी सहज आत्मीयता से हमारा मन प्रसन्न और प्राण पुलकित हो उठते हैं। काव्य के इतिहास में प्रथम वार इस युग के कवि ने धर्म, राधा-कन्हाई सुमिरन का वहाना, तथा स्वमिनः रंजनार्थ के कृत्रिम प्रचलित माध्यमों-आवरणों को अस्वीकार करते हुए अपनी आत्मस्थ सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति ऐसे सीधे ढंग और इस स्वाभाविक तन्मयता के साथ उपस्थित किया कि उसके साथ सहज तादात्म्य की अनुभूति का अनुभव और अनन्य आत्मीयता का भाव सब का अपना हो उठा। कवि की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है।

रागात्मक अनुभूति से समन्वित होने के कारण हमारी वृत्तियों का निर्वैय-क्तिक होना कठिन है। अतः इस विषय के कृत्रिम आवरण को उतार फेंकने के फलस्वरूप छायावाद में वैयक्तिक भाव-वृत्तियों का संक्रमण स्वाभाविक है। वस्तुतः इस काव्य में गीत-तत्व का प्राधान्य है। जो आत्मानुभूति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति का उपयुक्ततम माध्यम है। महादेवी जी के शब्दों में--'सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था विशेष का, गिने-चुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।'

गीतों की क्रमबद्ध प्राचीनतम भारतीय परम्परा को छोड़ भी दें तो भी हमारे आदि कवि के काव्य का प्रारम्भ ही अनुष्टुप गीत से माना जाता है और हिन्दी साहित्य का भी अधिकांश गेय ही है। 'तुलसी का इष्ट के प्रति विनीत आत्म-निवेदन गेय है, कबीर का बुद्धिगम्य तत्व निदर्शन संगीत की मधुरता में बसा हुआ है, सूर के कृष्ण जीवन का बिखरा इतिहास भी गीतमय है और मीरा की व्यथासिक्त पदावली तो सारे गीत जगत् की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है।' आधुनिक युग के प्रभाती गायक भारतेन्दु का काव्य भी गीत-बहुल है। परन्तु गीतों का जो कलात्मक स्वरूप छायावाद में उपलब्ध हुआ, वह अन्यतम है। रागात्मक अनुभूति और उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति से पूर्ण छायावाद का गीत-वैभव काव्य, संगीत और चित्र की जिस संतुलित तथा एकान्वित स्थिति को रसात्मक स्पष्टता देने में समर्थ हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कलात्मक गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका सौन्दर्य तथा प्रभाव संगीत में नहीं वरन् इनकी भाव तन्मयता में निहित रहता है। इनका संगीत केवल रागात्मक भावावेश को उन्मेष देता है, उसके प्रवाह को संयमित तथा व्यवस्थित करता है, पर प्रमुखता भाव की ही रहती है।

छयावाद की गीत-चेतना संगीत का सहयोग केवल लय-प्रसार और भाव-

स्पष्ट है कि सौन्दर्य विषय और द्रष्टा के सम्बन्ध पर निर्भर करता है, उसकी कोई निरपेक्ष स्थिति नहीं। हम यह भी कह सकते हैं कि हमारा रागात्मक आवेश ही सौन्दर्य का स्वरूप निश्चित करता है। वस्तुतः सौन्दर्य केवल विषय से ही सम्बद्ध नहीं, वरन् शब्द, संगीत, भावना, अर्थ, अनभूति तथा कल्पना आदि सभी में इसका अस्तित्व है और गीतकार इसी को प्रत्यक्ष करता है।

सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण में छायावादी कवियों को दक्षता प्राप्त है, इसमें संदेह नहीं। यों छायावादी गीतों में सौन्दर्य के प्रति अबाध आकर्षण, प्रणय निवेदन, विश्व व्याप्त वेदना की व्यंजना, प्रकृति प्रेम तथा जीवन और जगत् की मार्मिक छवियों का रूपांकन एवं आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी रहस्यात्मकता का उन्मेष है, पर इससे उसकी सीमा का विस्तार किसी प्रकार बाधित नहीं होता।

छायावाद के वैतालिक प्रसाद के गीतों में सौन्दर्य, प्रेम और वेदना की त्रिवेणी का सरस स्निग्ध प्रवाह पाया जाता है। काव्य और संगीत के संतुलन से समन्वित प्रसाद का एक सौन्दर्य चित्र देखिए—

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?

नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के धन, रस-कन झरते
हे लाज भरे सौन्दर्य ? बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?

अधरों के मधुर कगारों में
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में
मधु सरिता-सी यह तरल हँसी
अपनी पीते रहते हो क्यों ?

बेला विभ्रम की बीत चली
रजनी गंधा की कली खिली
अब सान्ध्य-मलय-आकुलित
दुकूल कलित हो, यों छिपते हो क्यों ?

लाज भरे सौन्दर्य का यह चित्र है, जो इस गीत में जीवंत हो उठा है। भाव-गाम्भीर्य, कल्पना का स्पष्ट रूप विधान, अनुभूति की अन्विति के साथ संगीत का सामंजस्य आदि मिलाकर कलात्मक गीत का यह उत्तम उदाहरण

है। ऐसा कनक-वर्ण प्रकाशमान सौन्दर्य जो लज्जा के कारण अपने आप में डूबा हुआ बेसुध-सा है और जिसका माधुर्य केवल स्मित की रेखाओं में ही अभिव्यक्त हो रहा है। सौन्दर्य का यह अद्वितीय चित्र किसे आकर्षित नहीं करेगा, यह बताना कठिन है।

प्रसाद का एक दूसरा गीत देखिए। प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से इस गीत में जन-जागरण का स्वर संधान किया गया है—

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी।

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा;
लो यह लतिका भी भर लायी
मधु मुकुल नवल रस-गागरी।

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये;
तू अब तक सोयी है आली!
आँखों में भरे विहाग री!

महाप्राण 'निराला' मुक्त छंदों के अतिरिक्त अनेक नूतन गेय छन्दों के भी उद्भावक हैं। उनका यह गीत, गीततत्व के उद्घाटन के साथ ही अरूप को रूपवान बनाने की चेष्टा में आकुल है। संगीतज्ञ होने के कारण इनके गीतों में संगीत का मार्दव इनके स्वर सामन्जस्य के साथ ऐसा मिल-जुल गया है कि उससे एक नए कलात्मक संगीत की सृष्टि सम्भव हो सकी है—

मेरे प्राणों में आओ!
शत-शत शिथिल भावनाओं के
उर के तार सजा जाओ!
गाने दो प्रिय मुझे भूल कर
अपनापन, अपार जग सुन्दर
खुली करुण उर की सीपी पर
स्वाती जल नित बरसाओ!

मेरी मुक्ताएँ प्रकाश में
चमके अपने सहज हास में
उनके अचपल भ्रू-विलास में
लास-रंग-रस सरसाओ।

मेरे स्वर की अनल-शिखा से
जला सकल जग जीर्ण-दिशा से,
हे अरूप, नव-रूप-विभा के
चिर स्वरूप पा के जाओ!

सौन्दर्य और प्रेम-गीतों के सनातन विषयों पर भी निराला ने सफल गीतों की रचना की है। 'गीतिका' में से सौन्दर्य का एक उज्ज्वल, जीवंत गीत यह है—

(प्रिय) यामिनी जागी,
अलस पंकज-दृग अरुण मुख
तरुण अनुरागी।
खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अमर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तड़ित—
द्युति ने क्षमा माँगी।
हेर उर-पट, फेर मुख के बाल
लख चतुर्दिक, चली मन्द मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जय माल
वासना की मुक्ति, मुक्ता
त्याग में तागी।
(प्रिय) यामिनी जागी।

प्रकृति पक्ष में यह रात जागरण के पश्चात् प्रभात कालीन चित्र है। अंधकार की बिखरी लकीरें प्रकृति रूप से उतर कर नायिका के बालों का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। आँखों की कमल-लालिमा और बादलों से घिरे सूर्य की मुख दीप्ति के साथ प्रकाश को जैसे इस गीत का केन्द्र बनाया गया है। सब मिला कर प्रकृति के सूक्ष्म उपादानों से निर्मित यह नारी चित्र अत्यन्त दिव्य

और उदात्त है, जो नारी के प्रति निराला के दृष्टिकोण का परिचायक है।

प्रकृति के माध्यम से नारी का यह चित्र उभारा गया है, जिसमें अतीन्द्रियता का आभास मिलता है। सद्यः जाग्रत नायिका का यह चित्र है। इसमें छोटी-सी छोटी मुद्रा का अंकन करते हुए उसकी गति को काव्य में प्रतिष्ठित किया गया है। इस चित्र में सौन्दर्य की चेतना मन के बाहरी-भीतरी मर्म का स्पर्श करती हुई भी वासनात्मक नहीं है। वासना की मुक्ति का संदेश देने वाला यह सौन्दर्य चित्र वास्तव में बेजोड़ है। शब्द-चित्र, स्वर-संगीत और भाव-प्रसार की दृष्टि से शृंगार का ऐसा निर्लिप्त चित्र साहित्य में बहुत ही विरल है।

पन्त जी प्रमुखतः प्रकृति-सौन्दर्य के गायक हैं। प्रकृति उनकी सौन्दर्य-दृष्टि का सहज आधार है। यही पन्त जी की भाव-चेतना की विशेषता है। इनके गीतों में शब्द और अर्थ का सामंजस्य एक लयात्मक संगीत की सृष्टि करने में समर्थ है। माधुर्य और कोमलता न केवल इनकी भाषा की वरन् इनके भावों की भी विशिष्ट भूमि है—

बना मधुर मेरा जीवन !
नव-नव सुमनों से चुन-चुन कर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण,
मेरे उर की मृदु कलिका में
भर दे, कर दे विकसित मन !

बना मधुर मेरा भाषण !
वंशी से ही कर दे मेरे
सरल प्राण औ' सरल वचन,
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें
बोलूँ अधिक मधुर, मोहन,
जो आकर्प अहि को भी सहसा
कर दे मंत्र मुग्ध, नत फन,
रोम-रोम के छिद्रों से मा !
फूटे तेरा राग गहन
बना मधुर मेरा तन, मन !

इस गीत में छायावादी काव्य तथा भाषा पर प्रहार करने वालों के प्रति इतनी कोमलता से व्यंग्य किया गया है कि चोट और घाव की गहनता का

अनुमान लगाना भी कठिन है। पन्त जी का एक दूसरा गीत है जो मन की साधना का आह्वान करता है—व्यष्टि-समष्टि के सामंजस्य का स्वर इस गीत में मुखर है—

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व वेदना में तप प्रतिपल
जग जीवन की ज्वाला में गल
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल
तप रे विधुर विधुर मन !
अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन !
तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन,
गंध हीन तू गंध युक्त बन
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिवान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !

महादेवी जी ने कविता के रूप में केवल गीतों की ही रचना की है। इनके गीतों का संगीत विधान बहुत ही परिष्कृत और मनोहारी है। ध्वनियों के लयपूर्ण संगठन से इन्होंने एक अभिनव संगीत की मार्मिकता का आकलन किया है। इनके गीतों में छन्दों की परिधि सीमित है, परन्तु इनमें लयात्मक विविधता का जो प्रणयन महादेवी जी ने किया है वह अनन्य है। लघु-सूक्ष्म ध्वनियों पर आधारित संगीत इन गीतों में जादू का प्रभाव रखता है। केवल गीतकार होने के कारण महादेवी जी ने संगीत-चेतना के अनेक ऐसे प्रयोग किये हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इनके गीतों का विषय प्रणय के संकल्प और उसकी उच्चतम भावनाएँ हैं, जिसके कारण इनके गीतों में एक मधुरिमामयी मृदुता और आलोक पूर्ण स्निग्धता का बहुत ही सुखद सामंजस्य बन पड़ा है। छायावाद के दुर्वासा आलोचक आचार्य शुक्ल को भी कहना पड़ा था—'गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को हुई है वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय

की ऐसी भावभंगी । जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।' वास्तव में महादेवी जी के गीतों का प्रभाव बहुत ही व्यापक है। उनके गीतों में भावानुभूति की गहराई और जीवन-दर्शन की ऊँचाई का सम्यक् विधान अद्भुत है।

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु बयार ।
रंजित कर दे ये शिथिल चरण ले नव अशोक का करुण राग,
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनी गंधा का पराग।
यूथी की मीलित कलियों से
अलि, दे मेरी कबरी संवार ।
पाटल के सुरभित रंगों से रंग दे हिम सा उज्ज्वल दुकूल,
गुथ दे रशना में अलि गुंजन से पूरित झरते बकुल फूल ।
रजनी से अंजन माँग सजनि
दे मेरे अलसित नयन सार ।
तारक लोचन से सींच-सींच नभ करता रज को विरज आज,
बरसाता पथ में हर सिंगार केशर से चर्चित सुमन लाज ।
कण्टकित रसालों पर उठता—
है पागल पिक मुझको पुकार ।
लहराती आती मधु बयार !!

मधु बयार का कोमल स्पर्श किसी बीते क्षणों की याद दिलाता है। किन्तु यह याद केवल मिलन की उत्कंठा बढ़ाती है किसी प्रकार की चपलता का कारण नहीं बनती। ऐसी मीठी याद जो मन में हलका सिहरन भर दे, उत्तेजना को न उभारे, क्योंकि उसमें विरह की कसक न होकर, मिलन का संदेश है। इस मिलनाकांक्षा में वासना-नदी का बरसाती आवेग नहीं बल्कि शरदकालीन संयम और गंभीरता है। समस्त प्रकृति में मिलन का उल्लास है। हिम-सा उज्ज्वल दुकूल दिव्यता का वह प्रतीक है जिसमें राग-रंग का कोई चिन्ह नहीं है और अलि गुंजरित रशना आशाओं के उन्मेष तथा गति के संगीत को स्पष्ट करती है। मार्ग भी धूलिहीन है और उसमें हरसिंगार के फूल बिछे हैं। रोमांचित रसाल की डाल से पिक की पुकार भी प्रेरणा प्रद है। वस्तुतः मिलन का उल्लास सर्वत्र व्याप्त है। मिलनानुभूति की यह मधुर व्यंजना प्रकृति के चित्रों द्वारा सुसज्जित होकर अत्यन्त मनोरम हो उठी है। उनका दूसरा गीत देखिए—

मैं बनी मधुमास आली !
आज मधुर विषाद की घिर करुण आयी यामिनी,
बरस सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चाँदनी,
उमड़ आयी री दृगों में
सजनि कालिंदी निराली।
रजत-स्वप्नों में उदित अपलक विरल तारावली,
जाग सुख-पिक ने अचानक मदिर पंचम तान ली,
बह चली निश्वास की मृदु-
वात मलय-निकुंज-पा ली !
सजल रोमों में बिछे हैं पावड़े मधुस्नात से,
आज जीवन के निमिष भी दूत हैं अज्ञात से,
क्या न अब प्रिय की बजेगी
मुरलिका मधु-राग वाली।

यह विरहिणी का एक परम दीप्तवान चित्र है। यह विरहिणी अपनी वेदना में भी कितनी उदात्त और गरिमामयी है, कहने की आवश्यकता नहीं। उसके सजल रोमों, तप्त निश्वासों और गीले पलकों में विश्व की विराट् शक्तियाँ जैसे क्रीड़ा कर रही हैं। पीड़ा उसकी पराजय का कारण नहीं, अध्यात्मिक दर्प की दीप्त से मंडित है। इसी कारण उसके स्वरों में दीनता की अपेक्षा ओज और उच्चता का आभास मिलता है, जैसे प्रकृति के व्यापक रूपों से वह सहज ही सम्पृक्त है।

अन्त में छायावादी गीतों के विषय में महादेवी जी का वक्तव्य उद्धरणीय है—'इनमें कुछ गीत मलय समीर के झोंके के समान हमें बाहर से स्पर्श कर अन्तर तक सिहरा देते हैं, कुछ अपने दर्शन के बोझिल पंखों द्वारा हमारे जीवन को सब ओर से छू लेना चाहते हैं, कुछ किसी अलक्ष्य डाली पर छिप कर बैठी हुई कोकिल के समान हमारे ही किसी भूले स्वप्न की कथा कहते रहते हैं और कुछ मंदिर के पूत धूप-धूम के समान हमारी दृष्टि को धुंधला, परन्तु मन को सुरभित किए बिना नहीं रहते।' सच तो यह है कि गीतों की दृष्टि से छायावादी काव्य आधुनिक साहित्य का मुकुटमणि है, इसमें दो मत नहीं।

५

प्रसाद की साहित्य साधना

'प्रसाद' की प्रतिभा विधायक होने के साथ ही विराट भी है। हिन्दी में ही नहीं विश्व साहित्य में भी महाकाव्यकार, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार, निवन्धकार, गीतकार तथा समालोचक की सम्मिलित प्रतिभा बहुत ही विरल है। प्रसाद ने इन सभी विधाओं में उच्चकोटि की सफल रचनायें प्रस्तुत की हैं, जो उनकी वहुमुखी मनीषा का प्रयत्क्ष प्रमाण है। मानव मनोवृत्तियों की विविधता का व्याख्यान करने के लिए ही उन्हें इन विविध विधाओं का आधार ग्रहण करना पड़ा होगा, ऐसा अनुमान स्वाभाविक है। मानवीय जीवन की सम्पूर्णता—अन्नमय कोष से आनन्दमय कोष तक के प्रसाद सफल व्याख्याता हैं; किंतु मानव के मनोमय कोष के विश्लेषण में उनकी रुचि अधिक रमती जान पड़ती है। मानव जीवन की सम्पूर्णता से अवगत होने के लिए काल की अखंड स्थित का वोध अनिवार्य है। वस्तुतः जिस कल्पना को हम काल कहते हैं, और जिस रूप में वह हमारे सामने व्यक्त होती है; वह हमारी चेतना का ही आन्तरिक भाग है। उसकी वाह्य सत्ता कुछ भी नहीं है। 'प्रसाद' ने इसे स्पष्ट किया है—

देश कल्पना काल परिधि में होती लय है,
काल खोजता महाचेतना में निज क्षय है ?

और इस महाचेतना का साक्ष्य स्वयं मानव चेतना है—

चेतन का साक्षी मानव, हो निर्विकार हँसता सा,
मानस के मधुर मिलन में गहरे-गहरे धँसता सा।

और इस दृष्टि से यह अखिल संसार—

अपने दुख सुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर,
चित का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

अस्तु, सम्पूर्ण विश्व को अपना ही स्वरूप मानकर चलने से व्यष्टि मानव का व्यक्तित्व समष्टि का रूप धारण कर लेता है और उसके स्वार्थ, संघर्ष और भेद भावना की समाप्ति हो जाती है, भारतीय संस्कृति का यही मूल स्वर और यही 'कामायनी' का सन्देश है।

प्रसाद ने काल और महा चेतना के इस रहस्य को भलीभाँति समझ लिया था, इसीलिये उन्होंने काल की अविछिन्नता में मानवीय विकास की शृंखला को संगठित करने के लिए इतिहास का आधार खोज निकाला था। इतिहास काल अपने प्रकृत रूप में यथार्थ के साथ आगे बढ़ता है और चेतना दर्शन एवं आदर्श को लेकर। साहित्य में इन दोनों पक्षों का समाहार होता है, इसी कारण उसमें यथार्थ और आदर्श का सामञ्जस्य पाया जाता है।

प्रसाद ने अपनी कृतियों में इतिहास और दर्शन की इसी सम्मिलित परम्परा के सुरक्षित करने का प्रयास किया है। इतिहास से उन्होंने केवल उन्हीं घटनाओं तथा पात्रों का आकलन किया है जो मनोविज्ञान तथा आत्मानुभूति से परिपूर्ण होने के कारण मानवता के विकास के लिए उपयोगी एवं सारवान हैं। कहना न होगा कि ऐतिहासिक घटनायें मनोवैज्ञानिक भावनाओं की क्रिया मात्र होती हैं।

साहित्य में प्रसाद जी सदैव अतीत के सम्पन्न आँचल की ओट से अभिव्यक्त हुये हैं, यहीं तक वे जीवन के कवि हैं। कवि की कल्पना चिर संगिनी है, किन्तु द्रष्टा को कल्पना का साथ छोड़कर अनुभूति (वास्तविक) का साथ देना पड़ता है। समाज के लिए साहित्य की यही सबसे बड़ी देन है। वास्तविकता का अर्थ इन्द्रिय-ग्राह्य संसारिक सत्य होगा इसे स्मरण रखना चाहिये। जिसे हम आँखों से देखकर उसका दर्शन लाभ कर सकते हैं, उसके कोमल कठोर होने का अनुभव कर सकते हैं, तर्क और बुद्धि से परीक्षित प्रामाणिकता का आरोप कर सकते हैं—वही हमारे लिए वास्तविक है।

इसके परे भी एक स्थित है, चाहे हम उसे मानसिक कहें, आध्यात्मिक कहें या मनोवैज्ञानिक कहें, उसका अस्तित्व अक्षुण्ण है। यथार्थ और आदर्श की सीमायें भी इसी सत्य से अनुप्राणित हैं। आदर्श की सम्भावनाएँ जीवन को गति देती हैं और यथार्थ की जीवन को दौड़ (व्यायाम)। आज का सारा संसार

जैसे मार-मार कर सैनिक बनाया गया है। जीवन में चलने व दौड़ने दोनों की आवश्यकता है। ऐसे ही यथार्थ और आदर्श की भी।

साहित्य का मर्मी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के विश्लेषण से उतनी ममता नहीं रखता जितनी उसकी समन्वय की सुरुचि से। प्रसाद जी साहित्य की इसी श्रेणी के मनीषी हैं। आध्यात्मिक दर्शन और भौतिक दर्शन के समीकरण से जीवन की जिस दिशा का उन्होंने संकेत किया है, उसे अवास्तविक कहना संभव नहीं। आदर्शोन्मुख साहित्य जीवन को गति और उत्कर्ष दोनों देता है, इस विचार से प्रसाद आदर्शवादी हैं।

उन्होंने साहित्य में यथार्थ की स्थित का मानसिक संस्कार किया है। जमीन पर पैर टेक कर आकाश पर कवि अवलोकन किया है। यथार्थवादियों की अदूरदर्शिता जब जीवन की गति की तीव्रता में स्थित की उपेक्षा कर जाती है तब भी आदर्शवादी की साधनशील सम्भावनायें गति के साथ स्थित का समर्थन करने की शक्ति रखती है। ऐसी सम्भावनाओं को असत्य नहीं कहा जा सकता अन्यथा जीवन, जीवन न रहकर यन्त्रमात्र रह जावेगा। साहित्य न तो आध्यात्मिक दर्शन का 'ब्रह्म सत्यं जगन्नमिथ्या' लेकर चल सकता है, न आधुनिक भौतिक दर्शन का न, केवल जगत का वरन् जगत् ही सत्य' का सम्बल ग्रहण कर सकता। उसे तो दोनों के बीच की सचाई ग्रहण करनी है।

'कामायनी' में प्रसाद की इस चेतना का दर्शन हमें काव्य के माध्यम से होता है और उपन्यासों में सामाजिक निरूपण से। प्रसाद दोनों जगह आधुनिक युग में अकेले हैं। उपन्यासों का सामाजिक दृष्टिकोण भारत का ही नहीं विश्व मानवता का भावी दृष्टिकोण है। दृष्टा को इसी कारण त्रिकालदर्शी कहा गया है। यों भी व्यतीत (अतीत) और व्यक्त (वर्तमान) की स्थित भविष्य में अपना विकास करेगी, भाव योगियों से यह छिपा नहीं। भारतीय संस्कृति और अध्यात्म के आधार से व्यक्ति और समाज का यथार्थ और आदर्श का, स्थूल और सूक्ष्म का जो सुन्दर स्वरूप उपन्यासों के द्वारा संसार के सामने रक्खा गया है वह व्यक्ति और समाज को दूध और पानी की तरह अपने में मिलाये हुये है। उनके चरित्र, शरीर कम और शक्ति अधिक हैं। देश की सामाजिक स्थित और विकृति का ही चित्रण उपन्यासों में नहीं है, धार्मिकता की भी धज्जियाँ उड़ायी गई हैं। सबसे बड़ी विशेषता उनका भारतीय वातावरण है। समाज के एक विशेष स्थित के पात्र इस विचार धारा के वाहन हैं, उन्हीं के द्वारा इस सत्य की प्रतीति पुष्टि पाती है।

उनके उपन्यासों के सामाजिक विचार स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पर एक गहरा अध्ययन उपस्थित करते हैं। इसका कारण है, प्रसाद जी जीवन में आनन्द के उपासक और उद्भावक हैं और प्रेम उनका आधार है। अतः प्रेम का स्वस्थ उष्ण स्पन्दन उनकी कृतियों में अवश्यम्भावी रहता है।

प्रसाद के उपन्यासों से हम सहज ही इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि उनके ही उपन्यासों में नारी जाति की निरीह पुकार है। इसके लिए प्रसाद को कभी उपदेशक बन कर सामने नहीं आना पड़ा। चरित्रों की गतिविधि से स्वयं पाठकों को स्थित विशेष से राग या विराग पैदा हो जाता है। किसी एक आदर्श का अभाव आदर्श की कल्पना कराने में समर्थ होता है, यह लेखक का अपूर्व कौशल है। उपन्यासकार की हैसियत से भी प्रसाद आधुनिक युग में किसी से कम नहीं, क्योंकि उपन्यासों में विचारों की उस प्रगति का उन्होंने समर्थन किया है जिसे भावी युग अपना कंठहार बनाकर गौरवान्वित होगा, इसमें सन्देह नहीं।

प्रसाद के उपन्यासों में चित्रोपम सार, सूक्तियाँ, आधुनिक, समय की भिन्नमुखी जीवन समस्यायें, भारतीय संस्कृति की योजनायें, उनकी सहज भाव प्रवणता के माध्यम से सामने आकर एक अप्रत्याशित आकर्षण की सृष्टि करती हैं। भावों के संचरण में वे सिद्धहस्त भाव योगी हैं। अध्ययन और अनुभव की सम्पन्नता के संयोग से भावनाओं की जिस कोमलता, कठोरता का प्रसाद ने उद्घाटन किया है, वह इस संसार की विपन्नता ग्रस्त स्थित में, एक मनोरम विश्राम स्थल की भाँति शान्ति का सन्देश देने में अचूक है। मनोभावों के आन्दोलन से प्रभावित, तन-मन को प्रत्यक्ष स्थित के शब्द स्वरूप देने में प्रसाद बेजोड़ हैं। उनके उपन्यासों का यही साध्य है।

प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से, उस युग की भावना, संघर्ष और समस्याओं से, अपने युग का सामंजस्य करने में सफल होते हैं। हम उनकी राष्ट्रीयता और देश प्रेम से प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं, भूत काल को वर्तमान काल के संदर्भ में देख सकते हैं, इतिहास की पुनरावृत्ति का यही रहस्य है। भारत का ऐतिहासिक स्वर्ण-काल बिंबसार से लेकर हर्ष तक प्रायः १२०० वर्षों तक माना जाता है। इसका गौरव, इसकी संस्कृति और इसका साहित्य स्वतंत्र भारत की निजी देन है। प्रसाद के 'आजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'विशाख' 'स्कन्दगुप्त' तथा 'राज्यश्री' आदि नाटकों में इसी युग का सजीव चित्रण मिलता है। राष्ट्रीय उन्नति के साथ विदेशी आक्रमणों, बौद्ध धर्म की रक्षा के

प्रयत्नों, वैदिक धर्म के पुनः स्थापना के विराट संघर्षों और राज परिवारों और राजनीतिक षणयंत्रों की भीषणता का भी इसी युग में आविर्भाव होता है। अपने चित्रण में राष्ट्र की मौलिक दुर्बलताओं का, उन्हें दूर करने का, सम्पूर्ण भारत में एक और अखंड होने की क्षमता का प्रसाद ने बड़ी मार्मिकता से दिग्दर्शन कराया है। भारत के एक राष्ट्र और उन्नतिशील होने के लिए जिस आदर्श चेतना की आवश्यकता थी, है, और रहेगी, का पूर्ण सजीव चित्र 'प्रसाद' के नाटकों में अंकित है। बौद्ध काल की कृतियाँ होने के कारण इनमें गौतम की करुणा परिव्याप्त अवश्य है, पर वो राष्ट्र को निर्वीर्य बनाने वाली या कर्त्तव्य-च्युत करने वाली नहीं है। जिस प्रकार की राष्ट्रीय भावना और राजनीति भारत के लिए अनिवार्य है उसका मूल स्वर 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक में ही सुनाई पड़ जाता है। सिंहरण चाणक्य से कहता है......"आर्य मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अस्त्र-शास्त्र की। मुझे तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।" यह स्वर हमारी आज की स्थित के लिए कितना बलप्रद, स्वयं सिद्ध है। चाणक्य का यह कथन भी चिर-स्मरणीय है, जो उसने चन्द्रगुप्त और सिंहरण से कहा था......"तुम मालव और यह मागध यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्मसम्मान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम लोग आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।" चाणक्य के सारे प्रयत्न भारत को अखंड राष्ट्र बनाने के लिए होते हैं।

'स्कन्दगुप्त' इतिहास, राष्ट्रीयता और भारतीय भावना का उज्ज्वलतम प्रतीक है। गुप्त काल के भारत स्वातंत्र्य रक्षण के प्रचंड और प्रबल प्रयत्नों का इसमें पूर्ण विवरण पाया जाता है। उस युग के गुण-दोष, पराक्रम, पराजय, संगठन, विघटन का जो विश्लेषण इस कृति में मिलता है उससे प्रत्यक्ष है कि युद्ध के समय में पारस्परिक द्वेषों को किस प्रकार भुला देना चाहिये और राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए किस प्रकार संगठित हो जाना चाहिये। देश की सुरक्षा और सम्मान के लिए ग्रह कलह, वैयक्तिक स्वार्थ तथा प्रांतीयता की कटुता को दबा कर राष्ट्र भावना को किस प्रकार ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार 'प्रसाद' की कृतियों में भारतीय संस्कृति और उसकी अमरता, राष्ट्र की कठिनाइयाँ, समस्यायें और उनके सुझाव भरे पड़े हैं। उनके पात्रों से भूत और वर्तमान का समन्वय तथा भविष्य का गौरव-मय पथ प्रशस्त एवं प्रत्यक्ष होता है, और हम 'प्रसाद' के साथ-साथ गा उठते हैं......

किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं,
हमारी जन्म भूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं।
जियें तो सदा उसी के लिये, यही अभिमान रहे, यही हर्ष,
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

'प्रसाद' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भारत की राष्ट्रीय भावना, उसकी उदात्त संस्कृति और उसकी आध्यात्मिक जिज्ञासाओं व उपलब्धियों को रमणीय वाणी देकर, उसके चिर-परिचित तथा परीक्षित सनातन मूल्यों की स्थापना करके बड़ी सहजता से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। भारतीय इतिहास और दर्शन पर आधारित 'कामायनी' मानवता के ऐतिहासिक विकास की कथा का महाकाव्य है। इस कृति के कथानक और व्यापक दृष्टिकोण के कारण वे राष्ट्रीय कवि के धरातल को छोड़ कर विश्व कवि के आसन पर प्रतिष्ठित होते हैं। प्रतिभा का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है ?

प्रथम विश्व-महायुद्ध से द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के कुछ पहले के बीच की गतिविधि में मानव की मनोस्थित का अध्ययन, अनुशीलन एवं अनुभव करने के पश्चात् प्रसाद ने 'कामायनी' की रचना की, जिसमें मानव मन के विकास और मानव संस्कृति का विशाल एवं विराट् चित्र अंकित करते हुये उन्होंने जीवन की मूल व्याधियों—विलास, स्वार्थ, अहंकार, अनास्था तथा भेद भावना का विश्लेषण करके समरसता और सामंजस्य की भावना—इच्छा, क्रिया, ज्ञान के संतुलन से मानव मात्र को आनन्दमय सत् पथ की ओर ले जाने का अजर अमर उपक्रम किया है।

कामायनी में नर-नारी, व्यक्ति-समाज, राष्ट्र-अन्तर्राष्ट्र, बुद्धि-भावना, वस्तु-चेतना, यथार्थ-आदर्श, अतीत वर्तमान, भौतिकता-आध्यात्मिकता, पूर्व-पश्चिम, शाशक-शाशित, अर्थ-काम, धर्म और मोक्ष का सामयिक एवं शाश्वत सामंजस्य निर्दिष्ट करते हुये अखिल भावों के सत्य-प्रेम का प्रतिपादन किया गया है। समस्त मानवता के विकास के लिए श्रद्धा के ये वचन स्थायी महत्व रखते हैं—

डरो मत अरे अमृत सतान अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।
चेतना का सुन्दर इतिहास अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य।
शक्ति के विद्युतकण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरूपाय,
समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।

पारस्परिक जीवन व्यवहार में सहृदयता, संवेदनशीलता, समता, और आध्यात्मिक एकता को लेकर चलने से ही मानवता विजयी हो सकती है,' यह निर्विवाद है। जिस दिन बाहरी विषमता को छोड़कर अपनी आन्तरिक समता के उल्लास में मानव यह गा उठेगा—

सब भेद-भाव भुलवाकर दुःख-सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे 'यह मैं हूँ' यह विश्व नीड़ बन जाता।

उस दिन सर्व-हित-रत की आनन्द स्थिति में वह मनु, 'कामायनी' के नायक की तरह, आरूढ़ हो जायेगा, इसमें संदेह नहीं।

'कामायनी' आधुनिक युग का एक ऐसा महाकाव्य है, जो राष्ट्रीय तथा जातीय जीवन के साथ सम्पूर्ण मानवता के इतिहास को समेट कर वर्तमान के संदर्भ में उपस्थित कर भविष्य निर्माण के संकल्प और साधन को काव्य गरिमा के रूप में स्पष्ट करने में समर्थ है, वस्तुतः यह महाकाव्य होने के साथ-साथ इस युग की महान कविता भी है।

संस्कृत रीति ग्रन्थों में महाकाव्य के जो स्थायी लक्षण बताये गये हैं उसका निर्वाह इसमें पाया जाता है। इसकी नायिका श्रद्धा का धीरोदात्त चरित्र, कथा का ऐतिहासिक दृढ़ आधार एवं सदाश्रयत्व, मानव जीवन के प्रमुख भावों की व्याख्या, सर्वव्यापी मानव भाव की प्रधानता, उच्चतम चेतना की साधना तथा प्राप्ति, राष्ट्रीय तथा विश्व जीवन की ज्वलंत स्थितियों और समस्याओं का चित्रण, प्रकृति के कोमल-कठोर नाना रूपों की रमणीय-अद्भुत झाँकी, आन्तरिक रूप में और सर्गों की सख्या, छन्द-विधान, वर्ण्य विषय की विविधता और व्यापकता आदि वाह्य लक्षणों का भी इसमें पालन किया गया है। परन्तु भाव-प्रधान महाकाव्य होने के कारण इसमें वाह्य लक्षणों की अपेक्षा उनकी आत्मा के उन्मेप का आधिक्य है।

महाकवि ने आमुख में स्पष्ट कहा है—'आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुप मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराणों और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण में चाहे पिछले काल में मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासों के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, किन्तु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गई है। इसलिये वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक

पुरुष ही मानना उचित है। मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हीं के वंशज हैं। भागवत में इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है।' आमुख से यह भी विदित होता है कि इस कथानक के मूलाधार ग्रंथ ऋगवेद, शतपथ, ब्राह्मण और भागवत है। ब्राह्मण ग्रंथों के विषय में यह स्मरण रखना चाहिये कि वे वेदों के व्याख्यान मात्र ही नहीं, इतिहास के भी अंश हैं, क्योंकि उनमें अनेक स्त्री-पुरुषों एवं राजा-रानियों के वृतान्त भी मिलते हैं और पुराण तो इतिहास ही हैं। संस्कृत शब्दों में लाक्षणिक अर्थ-व्यंजना इतनी व्यापक और समृद्ध होती है कि इससे सांकेतिक अर्थ करने में प्रसाद जी को कोई आपत्ति नहीं, किन्तु कामायनी की 'ऐतिहासिकता' को वे अक्षुण्णय रखना चाहते हैं। अस्तु, हम कामायनी को इतिहास, कल्पना और मनस्तत्व के समन्वित आधार पर प्रतिष्ठित मानव विकास का महाकाव्य मान सकते हैं। इस दृष्टि से इसे कलात्मक या साहित्यक (Epic of art) भी माना जा सकता है। परन्तु इससे उसकी ऐतिहासिकता में कोई अन्तर नहीं आता।

'कामायनी' की कथा का प्रारम्भ जल प्लावन के वर्णन से प्रकृति के विराट रंगमंच पर होता है। ओघ या जल प्लावन की कथा केवल भारतीय पुराणों में ही नहीं, यहूदियों, यवनों, इसाईयों तथा असीरियों के पुराणों में भी उल्लिखित है। यह घटना धार्मिक भावना के अनुसार दैवी कोप का प्रतीक मानी जाती है। परन्तु प्रसाद ने इसे दैवी करुणा का प्रतीक माना है—

> उनको देख कौन रोया यों अन्तरिक्ष में बैठ अधीर,
> व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय यह प्रलेय हलाहल नीर।

प्रसाद ने जल प्लावन को एक स्वतन्त्र लेख—'आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट' में बहुत ही पुष्ट प्रमाणों द्वारा ऐतिहासिक सिद्ध किया है। विदेशी विद्वान तथा भूगर्भ शास्त्री भी इसे स्वीकार करते हैं। इसी तरह आदि मानव की कल्पना भी प्रायः प्रत्येक देश में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। यह ठीक है कि इसका विस्तार और समृद्धि भारत में सर्वाधिक है। प्राचीनतम साहित्य की उपलब्धि संस्कृत भाषा में होने के कारण इस कल्पना का उद्‌भव और विकास भी यहीं खोजा जा सकता है। आदम या एडम की कथा जो इस्लाम, यहूदी तथा ईसाई परम्परा में मिलती है, वह वेदों में उस समय वर्णित की गई थी जिस समय उपर्युक्त परम्पराओं का जन्म भी नहीं हुआ था। आदम वैदिक आत्मन् के अतिरिक्त और कुछ नहीं। आत्मन् का अर्थ मनुष्य भी है। आमन के दो भाग आत् तथा मन में

से, मन से ही मनु बना जो मिस्र में मेनस, अंग्रेजी में मैन (Man) होकर प्रचलित है। डा० अविनाशचन्द्र दास ने सिद्ध किया है कि आर्यों ने मिस्र या ईजिप्ट में जाकर अपनी सभ्यता और धर्म का प्रचार किया था। एच० एच० विलसन का भी मत है कि मिस्र शब्द संस्कृत का है और भारतीयों द्वारा पहुँचाया गया है। मेनस या मेना मनु का ही रूप है। यही मेनस या मेना उसका प्रथम धर्मोप्देष्टा और प्रथम राजा था। मनु की अनुकृति का ही यह उदाहरण है। आदि पुरुष की भाँति उसकी पत्नी के नामों का अध्ययन करने पर भी हम उनके संस्कृत प्रसूत होने का प्रमाण पा लेते हैं। इस प्रकार संसार में प्रचलित आदि पुरुष एवं आदि नारी के रूपों का यदि विस्तृत अध्ययन किया जाय तो इसका आदि शुद्ध एवं मूल रूप वैदिक साहित्य में मिल जाने की नितान्त सम्भावना है।

कामायनी में 'हिमगिरि' के उत्तुंग शिखर पर, जल प्लावन के विषय में स्वगत कथन करते हुए हम मनु का दर्शन पाते हैं। जीवन के प्रति निराशा जन्य नास्तिक दर्शन की भूमिका—अनास्था का वह प्रतिपादन करता है—

> मृत्यु अरी चिर निद्रे तेरा अंक हिमानी सा शीतल,
> तू अनंत में लहर बनाती काल जलधि की सी हलचल।
> महानृत्य का विषम सम अरी अखिल स्पन्दनों की तू माप,
> तेरी ही विभूति बनती है सृष्टि सदा होकर अभिशाप।

मनु के इस कथन में मृत्यु के मूल में प्रतिष्ठित विभीषिकायें मन में अंकित हो उठती हैं और पाठक मनु से तादात्मय करके करुणा-सिक्त हो उठता है। जन्म के साथ ही मृत्यु का भय मनुष्य की निजी विशेषता है।

विश्व के महाकाव्यों के कथानकों के अध्ययन से पता चलता है कि उनकी कथा प्रायः राष्ट्र विशेष तक ही प्रचिलित या प्रख्यात रहती है, कथा में अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वजनीन रूप नहीं दिखाई पड़ता। इस कारण उन महाकाव्यों के कथानक के साथ केवल राष्ट्र विशेष ही पूर्ण तादात्मक तथा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम हो पाते हैं, विश्व हृदय से उनका सम्बन्ध नहीं हो पाता। 'कामायनी' के नायक-नायिका मनु और श्रद्धा की कहानी केवल भारत में ही नहीं, विश्व के कई राष्ट्रों में कई रूपों में प्रचलित है। इसका कथानक केवल अपने राष्ट्र से ही नहीं, विश्व के कई राष्ट्रों के हृदय से भी सम्बन्ध स्थापित करने में स्वभावतः समर्थ है। कथानक की इस व्यापकता के

कारण इस कृति का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है, जो इसकी बहुत बड़ी विशेषता है।

कवि की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि आदि मानवों की इस कथा की वैज्ञानिक व्याख्या के साथ इसकी ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुये उसने इसके मनोवैज्ञानिक रूपकत्व का भी पूर्ण निर्वाह किया है। तात्पर्य यह है कि मनु से नवीन संसृति का सूत्रपात होता है। वह ऐतिहासिक पुरुष भी है और मानव विकास के रूपक का आधार भी। मनु के व्यक्तित्व के विषय में जो सत्य है वही श्रद्धा के विषय में भी लागू होता है। मनु और श्रद्धा से संबद्ध कथानक में हम एक में 'मनन शील पुरुष स्वभाव दूसरे में विश्वासमयी नारी प्रकृति का परिचय सहज ही पा सकते है।' इस प्रकार मनु का अर्थ मन और श्रद्धा का अर्थ विश्वास को धारण करने वाली शक्ति भी किया जा सकता है।

इड़ा का उल्लेख कई प्रकार से मिलता है, 'शाब्दिक अर्थ में इड़ा वाणी या बुद्धि है जिसके अभाव में मन की मनन शक्ति असम्भव हो जाती है। मनु को यदि मननशील के अर्थ में लें तो श्रद्धा उसका भाव पक्ष और इड़ा ज्ञान पक्ष का पर्याय वन जाती है। इन दोनों के सामंजस्य से मनुष्य की पूर्णता में मनुष्य का अधूरा रहना स्वाभाविक है।' 'कामायनी' में इसका संकेत है—

ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सकें यह विडम्बना है जीवन की।

... ...

मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध दोनों में हो सद्भाव नहीं,
वह चलने को जब कहे कहीं तब हृदय विकल चल जाये कहीं।
रोकर बीते सब वर्तमान क्षण सुन्दर सपना हो अतीत,
पेंगों में भूले हार जीत।

इस प्रकार प्रसाद ने परम्परागत इतिहास को लक्ष्य करते हुये मानवता के सतत विकासशील भविष्य को प्रकाशित तथा प्रत्यक्ष करने की जो सफल चेष्टा की है वह सारवती होने के साथ ही युग-पथ प्रशस्त करने में भी सफल मनोरथ है। काव्य के ऐतिहासिक आधार के माध्यम से कवि ने अपने युग की महत्वपूर्ण समस्याओं—व्यक्तिवाद, समाजवाद, बुद्धिवाद, अहिंसावाद, आत्मवाद, आनन्दवाद तथा नारी स्वातन्त्र्य, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रगति, भौतिकता और आध्यात्म आदि पर बहुत ही स्वस्थ तथा सशक्त प्रकाश विकीर्ण करने की

अद्‌भुत क्षमता दिखलाई है। सम्पूर्ण मानवता के इतने लम्बे जीवन का साथ देने वाली काव्य-कृति केवल 'कामायनी' ही है।

इस काव्य की प्रभविष्णुता का प्रमुख कारण कवि का वह दृष्टिकोण है, जो जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखने का आग्रही है। भारतीय संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत पर सामंजस्य मूलक रहा है। 'कामायनी' भारतीय साहित्य परम्परा के उस मूल उत्स से कहीं विछिन्न नहीं, इसलिये उसमें व्याप्त सामंजस्य और अन्तर्निहित समन्वयात्मक प्रेरणा का पूर्ण परिचय इसमें सुरक्षित है। इस प्रवृत्ति के कारण इसका मूल्य और महत्व सार्वभौमिक तथा सर्वकालिक हो उठता है, इसमें संदेह नहीं। अपने कथानक, प्रतिपाद्य और कलात्मक काव्य सौष्ठव की व्यापकता और महत्ता के कारण 'कामायनी' महाकाव्यों के इतिहास में एक सर्वथा नवीन एवं स्मरणीय अध्याय जोड़ती हुई विश्व काव्य की सीमा में प्रवेश करती है। कवि का स्पष्ट उद्‌घोष है—

> सब की सेवा न पराई वह अपनी सुख संसृति है,
> अपना ही अणु-अणु कण-कण द्वयता ही तो विस्मृति है।
> सब भेद भाव भुलवाकर दुःख सुख को दृश्य बनाता,
> मानव कह रे 'यह मैं हूँ' यह विश्व नीड़ बन जाता।

स्पष्ट है कि 'कामायनी' का क्षेत्र बहुत ही विराट और व्यापक है। अन्न-मय कोष से प्रारम्भ होकर आनन्दमय कोष में उसकी समाप्ति होती है। वह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन—वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक का विश्लेषण-विवेचन तथा प्रतिष्ठापन एक कलात्मक और संकल्पात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने में सर्वथा सफल और सार्थक है। ऐसे काव्यों में रहस्य और दर्शन का पुट अनि-वार्य रहता है। दान्ते, गेटे और मिल्टन को भी आदि मानव या आत्मन के विकास-क्रम दिखाने के लिए अलौकिक तत्वों और दार्शनिक वृत्तियों का सहारा लेना पड़ा है। 'कामायनी' का मनु मानव की भूमिका में स्थित होकर मानव की समस्त वासनाओं की विभिन्न धाराओं का अवगाहन करके श्रद्धा के सहयोग से जिस आनन्द भूमि में पहुँचता है वह कवि के आत्मवाद—'रसो वै सः' की अभेद-जन्य अनुभूति की आनन्दमय स्थित की ही उच्च पीठिका है।

'कामायनी' हिमालय की मत्स्यवंधन चोटी से जहाँ 'एक तत्व की ही प्रधानता' और 'कहो उसे जड़ या चेतन' की दार्शनिक शक्ति का साकार रूप प्रत्यक्ष होता है, प्रारम्भ होकर कैलाश-शिखर की उच्चतम आनन्द स्थित में पूर्ण

होती है। इसका स्वरूप कवि ने इस प्रकार चित्रित किया है—

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखंड घना था।

इस आनन्द का काव्यात्मक रूप शान्त रस है। 'कामायनी' में इस रस का परिपाक है और आनन्द ही उसकी चरम सिद्धि है। कामायनी (श्रद्धा) पूर्ण काम की प्रतिमा है। उसका अवलम्बन पाकर ही मनु शिवत्व प्राप्त करने में सफल होता है। इस दृष्टि से 'कामायनी' की चरम उपलब्धि अभेद भावना तथा समरसता के माध्यम से आनन्दानुभूति की ब्राम्ही स्थित प्राप्त करना सिद्ध होती है, जो मानव जीवन की परम सार्थकता है।

संसार के प्रायः सभी दर्शन प्रकृति की प्रधानता स्वीकार करते हैं। 'कामायनी' का सारा कार्य-व्यापार प्रकृति की रंगस्थली में ही प्रतिपादित होता है। प्रकृति के कोमल तथा कठोर एक से एक सजीव एवं मार्मिक चित्र 'कामायनी' में मिलते हैं। हिमालय की गरिमा और सागर का जो उग्र-भीषण रूप कामायनी में चित्रित हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। उषा, सन्ध्या, रात्रि एवं एकान्त के इन्द्रिय बोध जगाने वाले प्राकृतिक चित्रों की तो यह कृति एक चित्रशाला ही है। वाह्य प्रकृति के साथ मानवीय अन्तर्प्रकृति के मनोरम चित्रों की संश्लिष्ट योजना 'कामयनी' के सदाश्रयत्व को स्पष्ट करने में अमोघ है। प्रकृति को प्रसाद ने पुरुष की शक्ति का सहचरी के रूप में ग्रहण किया है! वस्तुतः वाह्य अन्तर समन्वय इस कुशलता से हुआ है कि कवि की उत्कृष्टता प्रत्यक्ष होती चलती है—

दूर दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदय समान,
नीरवता सी शिला चरण से टकराता फिरता पवमान।

कभी मानव पर प्रकृति का और कभी प्रकृति पर मानव सौन्दर्य का आरोप करके कवि दोनों की अन्तर्निहित एकता को सहज ही व्यंजित करता चलता है। ऐसी संहृत् व्यञ्जनाओं का ही परिणाम 'कामायनी' में जड़-प्रकृति और चेतन-प्रकृति की आध्यात्मिक अभेदता है—

वह चन्द्र किरीट रजत नग स्पंदित सा पुरुष पुरातन,
देखता मानसी गौरी लहरों का कोमल नर्तन।

'कामायनी' में पुरुषार्थ के चतुर्वर्ग का चित्रण अपनी एक अलग विशेषता

रखता है। इच्छालोक के वर्णन में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध का विश्लेषण बड़ी काव्यगत कुशलता से किया गया है। सौन्दर्य को 'हृदय की अनुकृति वाह्य उदार' तथा 'उज्ज्वल वरदान चेतना का' कह कर कवि ने जिस सौन्दर्य बोध की अभिव्यक्ति की है, वह बड़े से बड़े सौन्दर्य को भी चकित कर देने के लिए पर्याप्त है। 'कामायनी' का अध्ययन सहृदयों को यह बोध कराने में समर्थ है कि भावराज्य में दर्शन का रूपातीत भी साकार हो जाता है। भावोन्मेष की यही क्षमता काव्य में प्राण प्रतिष्ठा का कारण बनती है। श्रद्धा के ये शब्द कानों में गूँजते रहते हैं—

> चेतना का सुन्दर इतिहास अखिल मानव भावों का सत्य,
> विश्व के हृदय पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य।

कामायनी की व्यापकता का विश्लेषण करने के पश्चात् हम स्वभावतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस कृति के रचना का मूल उत्स कवि की जीवन पर अडिग आस्था है, जिसे उसने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
> सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह।
> ... ...
> अपने दुःख सुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर,
> चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

जीवन के प्रति इस दृष्टिकोण का ही सुफल है कि प्रसाद ने अतीत तथा वर्तमान के, पतन और उत्थान के, व्यक्तिगत क्षणों एवं ऐतिहासिक पात्रों के, वाह्य जीवन स्थितियों और आन्तरिक मनोस्थितियों के सजीव चित्रों के चित्रण में इतनी सफलता पाई, जो अन्यथा सम्भव नहीं। जीवन के प्रति ऐसी आस्था व्यष्टि और समष्टि में अन्यायोश्रित सम्वन्ध स्थापित करने में सहायक होती है। इसी कारण प्रसाद अन्दर और वाहर व्यक्ति और समाज के प्रति समान संवेदनशीलता का परिचय देते हैं। इसी संवेदनशीलता के प्रभाव के कारण उनका रागात्मक सम्वन्ध समाज और संसार के प्रति विकसित होता रहा और 'कामायनी' में वे निखिल मानवता के प्रति संवेदनशील होकर उसकी आत्मा का अनुभव करने में समर्थ हो सके और उन्होंने विश्व निर्माणकारी मानवीय गतिविधियों की सफल अभिव्यक्ति भी की। वर्तमान सापेक्ष दृष्टि से अतीत तथा भविष्य का जो स्वरूप उन्होंने उद्घाटित

किया, वह कवि की लोक सामान्य अनुभूति का उदाहरण है। उन्होंने लिखा है—

> मनु का मन था विकल हो उठा संवेदन से खाकर चोट,
> संवेदन ! जीवन जगती को जो कटुता से देता घोट।
> संवेदन का और हृदय का यह संघर्ष न हो सकता;
> फिर अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहाँ बकता ?

स्पष्ट है कि संवेदन का अभाव ही दुःख का मूल कारण है और संवेदन का विस्तार सुख का सोपान। 'विलासमयी लालसा' को विकासमयी सत्ता से नियोजित कर देना ही संवेदन की उच्चतम भूमि है। यहीं सामाजिकता या लोक चेतना का अभ्युत्थान होता है। प्रसाद इस चेतना से समन्वित होने के कारण ही अपने युग की गहन एवं मार्मिक समस्याओं का विश्लेषण करते हुये उनके समुचित समाधान का पथ प्रशस्त कर सके हैं, इसमें सन्देह नहीं।

ऐसा जान पड़ता है कि राष्ट्र तथा विश्व में हृदय-तत्व दिन प्रति दिन क्षीण होने की अनुचित तथा ह्रासशील प्रवृत्ति प्रतिक्रिया से ही 'कामायनी' लिखने की प्रेरणा कवि को प्राप्त हुयी है। बुद्धिवादी विदेशी प्रवृत्ति के विचार तथा व्यवहार से विकल कवि-मन हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए लालायित हो उठा तो यह स्वाभाविक ही है। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशे-षता समन्वय है। वस्तुतः बुद्धि और हृदय, व्यक्ति और समाज, भौतिकता और आध्यात्मिकता, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता आदि जीवन के विभिन्न तत्वों में संतुलन और अराजकता देख कर प्रसाद ने उसमें सम्यक् समन्वय और सामं-जस्य का प्राण फूंकने की चेष्टा की, जो युग जीवन को गतिशील बनाने के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था। यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रसाद ने संस्कृति का तात्पर्य पुरातनता, स्थिरता या अपरिवर्तनशील परम्परा को कभी नहीं माना वरन् वे उसे युगानुरूप सतत विकासशील स्थित का ही स्वरूप स्वीकार करते हैं—

> पुरातन का यह निर्मोह सहन करती न प्रकृति पल एक,
> नित्य नूतनता का आनन्द किये है परिवर्तन में टेक।

प्रकृति के समान संस्कृति भी अभिनवता को ग्रहण करती चलती है, यही प्रसाद की मान्यता है। इस परिवर्तनशीलता में भी काल की अबाधता में कोई

अन्तर नहीं आता। 'कामायनी' में मानवीय विकास चेतना के साथ काल की यह अविछिन्निता प्रतिपादित है। वर्तमान अतीत से और भविष्य वर्तमान से निर-पेक्ष नहीं हो सकता। गत से आगत और आगत से आगामी का प्रेरणात्मक सम्बन्ध निर्वाह 'कामायनी' में सुरक्षित है! सारस्वत नगर की स्थितियों से इस तथ्य को प्रत्यक्ष किया गया है।

ईर्ष्यावश श्रद्धा को छोड़कर जब मनु सारस्वत नगर में प्रवेश करता है तव उसकी जो स्थित है वह देवासुर संग्राम का परिणाम थी—इस देश का कोना-कोना अपने दुःख सुख का इतिहास सम्हाले हुये है। इसके खण्डहरों से स्पष्ट है कि इसका निर्माण कुशल शिल्पियों द्वारा हुआ था। इसने सुख वैभव तथा स्वतन्त्रता के दिन भी देखे थे, पर आज काल की गति से इसे दुःख के दिन झेलने पड़ रहे हैं। यह चित्र राष्ट्र की पराधीनता जनित अवस्था का भी आभास देता है। इड़ा इस प्रान्त की शासिका है अर्थात् यहाँ मातृ-सत्ता युग की जन-सत्तात्मक राज्य व्यवस्था है। इड़ा के प्रस्ताव से मनु बुद्धिवाद का सहारा लेकर सारस्वत का राष्ट्र मंत्री बनता है और उसकी शासन-व्यवस्था में लग जाता है। परन्तु जो मनु अपने वैयक्तिक तथा पारिवारिक जीवन को सुखी नहीं बना सका वह अपने राजनीतिक जीवन में भी सफल नहीं हो सकता। मनु शासन-सत्ता ग्रहण करते ही अपनी वैयक्तिक भावना का आग्रह प्रारम्भ कर देता है, जिससे जनतंत्रात्मक व्यवस्था को आघात पहुँचता है। वर्गों तथा वर्णों की पुष्टि होती है और राज सत्ता की नीव पड़ जाती है। मनु राजा प्रजा का कर्म निर्धारित करता है और प्रत्येक वर्ग को उन्नति करने की प्रेरणा देता है। कृषि उद्योग कला एवं अविष्कारों की आशातीत प्रगति होती है साथ ही मनु अपनी वैयक्तिक भावना की चरमावस्था में पहुँचकर एक निरंकुश सामन्त का रूप धारण कर लेता है। इसका स्पष्ट आशय यह है कि वैयक्तिक महत्वाकांक्षा और बुद्धिवाद के सहयोग से राज सत्ता तथा सामन्तशाही का विकास होता है। मनु अपनी सामन्ती भावना के अनुसार नारी को केवल विलास की सामग्री समझता है और मातृ-सत्ता युग के उसके सभी अधिकारों को हड़प लेना चाहता है। आशय यह कि मनु का भोगवाद बुद्धिवाद के प्रश्रय में अपनी उस पराकाष्ठा को स्पर्श करने लगता है, जो अधिनायकवाद को जन्म देती है। जिस समय प्रसाद जी 'कामायनी' की रचना कर रहे थे उस समय तक भारत में पूंजीवाद से विकसित व्यक्तिवाद का प्रादुर्भाव हो चला था, उसी की मनु में झलक दीखती है। केवल भौतिक सुख को जीवन की सार्थकता माननेवाले व्यक्तिवादी लोग सब

के साथ कैसा निर्मम तथा स्वार्थपूर्ण व्यवहार करते हैं, यह किसी से छिपा नहीं। वासना तृप्ति ही उनका स्वर्ग बनता है और अपने सुख-साधन में व्यतीत क्षण ही उनके लिए महत्व रखते हैं, बाकी सब व्यर्थ। इस वर्णन में बौद्धिक वैज्ञानिक उत्कर्ष की एकाङ्गी दृष्टि पर कवि ने पूरा प्रहार किया है। इसका शमन मनु और प्रजा के संघर्ष से होता है। मनु की पराजय राजसत्ता और सामन्तवाद की पराजय का प्रतीक है। अतीत के वृत्तों तथा भावों को लेकर युग की परिस्थितियों के साथ उनका संयोजन कवि के अपने वर्तमान से अगाध प्रेम का ही परिचय है। अपने युग के सारे संघर्ष, वैषम्य, शोषण, हिंसा, अहँकार तथा बुद्धिजन्य अतिवादों का जो मार्मिक चित्रण 'कामायनी' में पाया जाता है, वह कवि की यथार्थवादी दृष्टि का प्रमाण है। अन्त में कवि ने श्रद्धा द्वारा बुद्धिवादी विचारधारा तथा हृदयवादी विचारधारा का शान्ति पूर्ण सम्मेलन तथा समन्वय कराते हुये जैसे इस बात का संकेत किया है कि मानवीय व्यापक कल्याण के लिए इनका समन्वित स्वरूप ही श्रेयस्कर हो सकता है। इड़ा और मानव के सहयोग-साधन का यही उद्देश्य जान पड़ता है। श्रद्धा कहती भी है—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तू सब संताप निश्चय हर ले, हो मानव भाग्य उदय,

सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत सुन माँ की पुकार।

इसे हम बौद्धिक ज्ञान-विज्ञान तथा हार्दिक ज्ञान-अध्यात्म का भी सामंजस्य कह सकते हैं, क्योंकि—

विच्छेद बाह्य था आलिंगन—
वह हृदयों का अति मधुर मिलन,
मिलते आहत होकर जल कन।
लहरों का यह परिणित जीवन।

इड़ा और मानव के सहयोग से सारस्वत प्रदेश की व्यवस्था सुधर जाती है और उसकी खोई हुई शक्ति की पुर्नस्थापना हो जाती है। अस्तु, सारस्वत प्रदेश की भूत-वर्तमान स्थितियों के विश्लेषण से भविष्य के उज्ज्वल स्वरूप का संगठन, काल की अबाधता का मानवीय चेतना में पर्यवसान नहीं तो और क्या है? यही इतिहास की सनातन प्रगति है। मेरा विश्वास है कि कवि के सामने यदि अपने समय का अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय सजीव चित्र न होता तो

बूढ़े बाबा मनु के जीवन से चित्रित करना सहज नहीं था । कवि के सामने पश्चिमी पूंजीवाद की निर्णात्मक क्षमता तो थी ही उसके साथ प्रथम महायुद्ध की विनाश लीला और उसके बाद की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी अपना मुंह बाये प्रत्यक्ष थीं । अस्तु प्रसाद ने पूंजीवाद से उद्भूत व्यक्तिवाद को शासन सत्ता से सम्बद्ध करके उसकी प्रभुत्व कामी रूप का वर्णन बड़े ही मनोयोग से किया है—

मैं चिर बन्धनहीन, मृत्यु सीमा उल्लंघन
करता सतत चलूँगा, यह मेरा है दृढ़ प्रण।
महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तुष्टि वही है, फिर सब सपना।

दूसरों के लिए नियम विधान और अपने लिए उच्छृंखल वन्धनहीनता किसी भी पूंजीवादी शासक वर्ग की विशेषता होती है । अस्तु हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि प्रसाद का काव्य-मनोभाव अत्यन्त आधुनिक और सामाजिक है ।

'कामायनी' में इड़ा बौद्धिक विज्ञान एवं पूंजीवादी सभ्यता की उन्नायक है । भौतिक श्रीवृद्धि, विज्ञान की आशातीत उन्नति, शासन सत्ता की आतंकमयी व्यवस्था इस सभ्यता के प्रधान लक्षण हैं, किन्तु इसका दूसरा पक्ष—युद्ध, अत्यन्त ध्वंसकारी और मानवता के विकास का अवरोधक है । पिछले दोनों महायुद्ध इसके ज्वलंत प्रमाण हैं । आज भी पूंजीवादी सभ्यता का केन्द्र अमेरिका और साम्यवादी सभ्यता का परम उपासक रूस, दोनों ही अधिक से अधिक घातक वैज्ञानिक अस्त्र बनाने में व्यस्त हैं । प्रसाद ने 'कामायनी' में सारस्वत प्रदेश के संदर्भ में इस सभ्यता की विकृतियों को उभार कर इसकी बड़ी ही सशक्त भर्त्सना की है ।

अँग्रेज कवि ईलियट ने भी अपने काव्य 'वेस्ट लैंड' (Waste land) की रचना इसी सभ्यता की विनाश-लीला की प्रतिक्रिया में की है, किन्तु वह केवल ग्लानि, क्षोभ और आतंक से त्रस्त करके छोड़ देता है और उसे इस विभीषिका से मुक्त होने के लिए उपनिषद् का महान वाक्य देना पड़ता है—'दत्त, दयध्वम् दम्यत् ।' दो, दया करो, दमन करो और इसके पश्चात् शान्तिः शान्तिः के उच्चारण के साथ मौन हो जाता है । प्रसाद ने इस विकृति को मोड़ने रूपान्तरित करने तथा इसमें गुणात्मक परिवर्तन करने का बहुत ही मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक

सुझाव भी दिया है, जो सामाजिक, ऐतिहासिक वास्तविकताओं के सर्वथा अनुकूल और सबके लिए सहज ही बोधगम्य है। इसका कारण यह है कि प्रसाद की चेतना अन्तर्जीवन के अनुभव और वाह्य-जीवन-जगत के निरीक्षण में बराबर मुक्त भाव से विचरण करती है। उसकी अनुभूति संपूर्णता के आकलन में जितनी तीव्र है उसके अंकन में उनकी प्रतिभा उतनी ही कलात्मक। सच तो यह है कि कलात्मक सौन्दर्य से अनुप्राणित उनका कला-कर्म अपनी प्रभावोत्पादकता में सर्वव्यापक है।

विज्ञान की एकाङ्गी उन्नति और बौद्धिक प्रतिवाद के कारण विश्व में जो संहार-अशान्ति, उद्वेग और हाहाकार मचा हुआ है उसका प्रत्यक्ष कारण यह है कि पूंजी और बुद्धि के द्वारा आविष्कृत यन्त्रों और मशीनों द्वारा भौतिक दृष्टि से सम्पन्न मनुष्य एक दूसरे के सुख-दुख की बिलकुल चिन्ता नहीं करता। उसका सम्बन्ध दो मशीनों का सम्बन्ध मात्र रह गया है। भौतिक रूप में इतना समृद्ध होकर भी आध्यात्मिक रूप में वह केवल कंकाल है। उसे वास्तविक आनंद की अनुभूति नहीं हो पाती। प्रसाद ने इस दुर्दशा की अभिव्यक्ति इन शब्दों में व्यक्त की है—

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्यायें गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनंत चले, एकता नष्ट हो बढ़े भेद
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता
पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता
सब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि
दुख देगी यह संकुचित दृष्टि!

... ...

अनवरत उठे कितनी उमंग
चुम्बित हो आँसू जलधर से अभिलाषाओं के शैल शृंग
जीवन नद हाहाकार भरा, हो उठती पीड़ा की तरंग
दुख नीरद में बन इन्द्रधनुष बदले नर कितने नये रंग
बन तृष्णा ज्वाला का पतंग।

... ...

वह प्रेम न रह जाये पुनीत
अपने स्वार्थों से आवृत हो मंगल रहस्य सकुचे सभीत
आकांक्षा जलनिधि की सीमा हो क्षितिज निराशा सदा रक्त
तुम राग विराग करो सबसे अपने को कर शतशः विभक्त।

... ...

संकुचित असीम अमोघ शक्ति
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति
कर्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया सी ललित कला
नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरंतर चले ढला
तुम समझ न सको, बुराई से शुभ इच्छा की है बड़ी शक्ति
हो विफल तर्क से भरी युक्ति।

... ...

जीवन सारा बन जाय युद्ध
उस रक्त अग्नि की वर्षा में वह जायँ सभी जो भाव शुद्ध
अपने को आवृत किए रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप
वसुधा के समतल पर उन्नत चलता फिरता हो दम्भ स्तूप
दुखमय चिर चिन्तन के प्रतीक, श्रद्धा वंचक बनकर अधीर
मानव संतति ग्रह रश्मिरज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर
आशाओं में अपने निराश निज बुद्धि विभव से रहे भ्रान्त
वह चलता रहे सदैव श्रान्त।

बुद्धि तथा विज्ञान विशिष्ट आधुनिक मानव जाति का यह चित्र कितना जीवन्त और ज्वलन्त है; कहने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः 'कामायनी' की सृजन-प्रेरणा का मूल उत्स प्रसाद का अपना युग ही है। इसमें सन्देह नहीं कि 'कामायनी' के पात्र ऐतिहासिक महत्व रखते हैं, परन्तु प्रसाद ऐतिहासिक सत्य का अर्थ कभी स्थूल घटना मात्र नहीं मानते, उनकी दृष्टि ऐतिहासिक घटनाओं एवं पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति और उसमें अन्तर्निहित आत्मानुभूति पर रहती है। इतिहास की स्थूल घटनायें और पात्र केवल सामयिक एवं क्षणिक महत्व रखते हैं, किन्तु उनकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया और अनुभूति अखंड मानवता का चिरन्तर सत्य बन जाती है, जिनकी पुनरावृत्ति घटनाओं तथा पात्रों के रूप में होती रहती है। मानवता का यही सनातन इतिहास है।

'कामायनी' के ऐतिहासिक पात्र मनु, श्रद्धा, इड़ा, कुमार, आकुल और किलात इतिहास की सनातन प्रवृत्तियों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी मानव सुलभ आनन्द की खोज में व्यस्त हैं। मनु-श्रद्धा, नर-नारी का संयोग इसी आधार पर होता है। मनु, मन की मननशील प्रवृत्ति और श्रद्धा, हृदय की आस्था तथा भाव की विभिन्नता के कारण शरीर से निकट रह कर भी हृदय से दूर रहते हैं। श्रद्धा, अहिंसा, सह-अस्तित्व और प्राणी मात्र के प्रति स्नेह-दया का पाठ पढ़ाती है और मनु किलात-आकुलि (असुर पुरोहित) के संग दोष से अपने शारीरिक सुख को ही परम पुरुषार्थ मानता है। काल क्रम में श्रद्धा गर्भवती होती है और मनु ईर्ष्या से अभिभूत होकर उसे छोड़कर चल देता है।

इड़ा (बुद्धि) से उसकी भेंट सारस्वत प्रदेश में होती है। उसकी प्रेरणा और उत्साह से मनु शासन-सूत्र सम्हाल कर स्वेच्छाचारी बन जाता है। अधिकार जन्य आत्म मोह और व्यक्तिवादी निर्बाध उच्छृंखलता के कारण उसकी प्रजा विद्रोह करती है और वह पराजित होकर मुमूर्ष सा गिर पड़ता है।

श्रद्धा अपने स्वप्न के अनुसार मनु को खोजती हुयी वहाँ पहुँचती है और अपने स्वप्न को साकार देखती है। वस्तुतः मनु पुनः श्रद्धा समन्वित हो जाता है। श्रद्धा, इड़ा और कुमार की समरसता पूर्ण शासन चलाने के लिए सारस्वत प्रदेश छोड़कर मनु के साथ कैलास (आध्यात्मिक उच्चता) की ओर प्रस्थान कर जाती है। जहाँ मनु शुद्ध होकर शिवत्व प्राप्त करता है।

इतने छोटे से कथा सूत्र को लेकर 'कामायनी' का विराट-चित्रपट बुना गया है। अपने युग की विषमताओं और विभीषिकाओं के आधार पर ही कवि ने इस काव्य की रचना की है, इन शब्दों से यह प्रमाणित भी है—

> विश्व विपुल आतंक त्रस्त है अपने ताप विषम से
> फैल रही है घनी नीलिमा अन्तर्दाह परम से।

युग के भीषण यथार्थ की संवेदनात्मक अनुभूति से ही 'कामायनी' का उद्भव हुआ है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्रों के बीच जो आत्मविरोध तथा परस्पर विरोध का ज्वालामुखी भड़क उठा है, उसके वाह्य और अन्तर्दाह से सारा विश्व आतंक त्रस्त है। 'कामायनी' में इसी का विश्लेषण है। साथ ही भविष्य को सबके लिए मंगलमय बनाने का सुझाव भी संरक्षित है। 'कामायनी' पूर्ण काम की प्रतिमा है। सह-अस्तित्व और अखिल मानव भावों का सत्य प्रेम तथा समरसता का सिद्धान्त जो समन्वय और सामंजस्य के माध्यम से विकसित तथा परि-

पुष्ट होता है; 'कामायनी' के कवि का उज्ज्वल उद्देश्य है। अपने कथानक, उद्देश्य, कलात्मक नैपुण्य, मानवीय अन्तर्वृत्तियों की मार्मिक विश्लेषण क्षमता, दार्शनिक प्रौढ़ता और आध्यात्मिक उत्कर्ष के कारण 'कामायनी' बीसवीं शती की सर्वश्रेष्ठ विश्व-काव्य कृति है। अखिल मानवता के द्वन्द्वात्मक जीवन को केन्द्र मानकर उसके नाना संघर्षमय पक्षों का विश्लेषण-विवेचन करते हुये कवि ने जिस समन्वयात्मक दृष्टिकोण की दार्शनिक परिणति का इस कला कृति में प्रतिपादन किया है, वह आज की बुद्धि-क्रीड़ा की एकांगिता से पीड़ित मानवता के लिए अत्यन्त कल्याणकारी, स्फूर्तिप्रद एवं आशामय है। अपने कथानक के माध्यम से सम्पूर्ण मानवता की कथा कहने वाला कोई दूसरा महाकाव्य नहीं है।

स्व और पर तथा आत्म और अनात्म तत्वों के कलह कोलाहल के बीच जीवन के विकास पथ का अनुसरण और अनुसंधान करते हुये मानवता जिस लक्ष्य की प्राप्ति का सतत प्रयत्न करती आयी है, 'कामायनी' में उसी का स्वस्थ उद्भावन किया गया है—विश्व की मंगल कामना (श्रद्धा) के शब्द कानों में गूंज उठते हैं—

> तुमुल कोलाहल कलह में
> मैं हृदय की बात रे मन!
> विकल होकर नित्य चंचल
> खोजती जब नींद के पल,
> चेतना थक सी रही तब
> मैं मलय की वात रे मन!
> चिर विषाद विलीन मन की
> इस व्यथा के तिमिर घन की,
> मैं उषा सी ज्योति रेखा
> कुसुम विकसित प्रात रे मन!
> जहाँ मरु ज्वाला धधकती
> चातकी कन को तरसती,
> उन्हीं जीवन घाटियों की
> मैं सरस बरसात रे मन!

६

काव्यकला और कामायनी की कथावस्तु

मानव जीवन के अनुभूत भावों तथा विचारों की समन्वयात्मक सृष्टि को साहित्य कहते हैं। महाकवि भवभूति ने साहित्य को आत्मा की कला कहा है—

वन्देमहि च तां वाणीममृतात्मनः कलाम् ।

विश्व में बिखरे विभिन्न उपादानों के समुचित रस ग्रहण तथा सम्मिश्रण से जिस प्रकार मधुमक्खी मधु का निर्माण करती है, उसी प्रकार कलाकार भावों की बिखरी राशि के समन्वयात्मक साधनों से साहित्य की सृष्टि करता है। अन्तर इतना ही है कि मधुमक्खी मधु में अपनी आत्मा का रस नहीं मिला पाती और साहित्यकार अपने साहित्य में अपनी आत्मा का रस भी भर देता है। "यदि साहित्य को आत्मा का कुसुम कहा जाय तो उपयुक्त होगा। जिस प्रकार एक फूल अपने वृक्ष के समस्त रस को अपने अन्दर आकर्षित करके एक नवीन, उज्ज्वल आह्लादमय, पूर्ण रूप में विकसित हो उठता है। अन्ततः जिस प्रकार एक फूल अपने वृक्ष के रस को छोड़कर मूल में और कुछ नहीं है ठीक उसी प्रकार साहित्य भी मूल में मनुष्य के हृदय के रस के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है।"

साहित्य की इस उपर्युक्त विवेचना से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य का प्रधान विषय भाव है ज्ञान नहीं, और साहित्य की इस भावात्मक अभिव्यक्ति में काव्य का एक विशेष महत्व है। भावों की सूक्ष्मता को कलाकार जब अपने हृदय की समवेदनात्मक स्पर्शिता से स्थूल रूप में (भाषा में) संजोकर

कर देता है तब हम उसे काव्य कहते हैं। भावों पर तो मनुष्य मात्र का समान अधिकार है, किन्तु कलाकार उन्हें एक प्रकार की विशेष मूर्तिमत्ता देकर सबके सामने इस रूप से उपस्थित करता है कि वे सबके लिए आनन्द का कारण बन जाते हैं, यही कलाकार की अपनी विशेषता है। भाषा में भावों की प्रतिष्ठा के लिए कलाकार को प्रमुखतः दो साधनों की शरण लेनी पड़ती है—चित्र और संगीत की। चित्र, कलाकार के भावों को एक निश्चित स्वरूप देता है और संगीत भावों को संचरणशक्ति। मानव-हृदय आदि-काल से अपनी इस भावात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील है और कवि मानस हृदय की सनातन साध के साधन मात्र हैं, इसमें सन्देह नहीं! कवि अपनी साधना से भावों की विछिन्न स्थिति में सत्य तथा गति का सामंजस्य करने के बाद ही उसे संसार के सामने रखता है, क्योंकि मानव मन के भीतर की सभी भावनायें तथा प्रवृत्तियाँ शेष विश्व के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ही उदित होती हैं। इसी सम्बन्ध के द्वारा मनुष्य अपने अस्तितव की सार्थकता को सत्य प्रमाणित कर सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हृदय को सत्य के साथ भावों के शुद्ध रस का सम्बन्ध-स्थापित कराने में कवि का सबसे बड़ा कौशल है। विश्व में व्यक्ति के साथ सत्य का मेल तीन प्रकार से सम्भव है—बुद्धि का मेल, प्रयोजन का मेल और आनन्द का मेल। कवि अपने सत्य का मेल सदैव आनन्दानुभूति के ही लिए कराता है। याज्ञवल्क्य ने इसी भावना की सुबोधता के लिए गार्गी से कहा था—

न वारे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति
आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।

अस्तु, कवि काव्य के माध्यम से अपने भीतर के आनन्द एवं सत्य को प्रकाशित करता है और संसार के समस्त जीवों में उसकी सार्थकता के लिए व्याकुल रहता है। अपनी आत्मीयता की सीमा अधिक से अधिक बढ़ाने और अपने सत्य को अधिक से अधिक दूसरों तक पहुँचा देने में ही उसकी कला की क्षमता निहित है। कलाकार नाना प्रकार के संकेतों से अपने आनन्द को दूसरों के हृदयों में जगाकर उसकी सत्यता चरितार्थ कराना चाहता है, इस क्रिया की सफलता में सत्य और सुन्दर एक हो जाते हैं। यही कलात्मक सत्य का समुज्जवल स्वरूप है।

"संसार-सागर की रूप तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान

हुआ है। सुन्दर, मधुर, भीषण या क्रूर लगने वाले रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं। इस प्रकार रूप-विधान तीन प्रकार के होते हैं—

१—प्रत्यक्ष रूप-विधान

२—स्मृत रूप-विधान

३—कल्पित रूप-विधान

इन तीनों प्रकार के रूप-विधानों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस-कोटि में आ सके।" दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं कि कला का आधार कल्पना, अनुभूति एवं यथार्थ-ज्ञान है, जिसका समुचित सदुपयोग कवि की प्रतिभा और साधना की अपेक्षा रखता है। कला, विशेषकर काव्य-कला मानव हृदय की उपज है, जीवन की अनुभूतिमयी मार्मिक अभिव्यंजना है। यह वह साधन है; जिसके द्वारा मानव हृदय का कलात्मक सहयोग तथा सम्बन्ध शेष मनुष्यों, प्राणियों और प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं से होता है। इसी कारण जड़-चेतन सभी का काव्य-प्रतिपादन होता है, किन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मानव जीवन से इसका विशेष और विशिष्ट सम्बन्ध है। कवि अपनी कविता का सृष्टा होता है और उसके द्वारा वह अपने जीवन-सम्बन्धी विचारों, अनुभवों, सुरुचियों और विश्वासों को समाज तथा संसार के सामने रखता है। जीवन की भिन्न परिस्थितियों का रागात्मक उद्घाटन तथा भिन्न मनोदशाओं का कलात्मक प्रत्यक्षीकरण ही काव्य का उपादान है। अपनी इसी विशेषता और साकारता के कारण वह मानवता से दूर नहीं हो सकता। कला की साधना अनुभव, कल्पना और अध्ययन की अपेक्षा रखती है और यही कारण है कि कला के अनेक रूप मिलते हैं जो कलाकार की व्यक्तिगत विशेषताओं और मान्यताओं से प्रस्फुटित होते हैं। काव्य मानव-जीवन के लिए समवेदना की सूझ देता है। जीवन से अपना स्वाभाविक सम्बन्ध रखने के कारण काव्य मानव-हृदय को परिष्कृत भी करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य जीवन की वाह्य सुचारुता तथा परिस्थितियों को पोषित करता हुआ हमारे भावों को जीवन देता है। आशय यह है कि काव्य का मानव जीवन से सीधा सम्बन्ध है। किसी समालोचक ने ठीक ही कहा है—

"कविता जीवन की वस्तु है, उसका अविर्भाव जीवन से होता है और अस्तित्व भी जीवन के लिए है।"

काव्य, मानव हृदय के भावों की संरक्षा करता हुआ जीवन के [illegible]

करता है। काव्य में, जीवन के दोनों पहलुओं (बाह्य और भीतरी) को बराबर स्थान है, कवि अपने व्यक्तित्व से इनका निर्वाह करता है। कलाकार की यही वैयक्तिक विशेषता उसकी कला का प्राण है। प्रसाद जी ने काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहा है। संकल्पात्मक अनुभूति का सौन्दर्यमयी तथा कल्याण-मयी होना आवश्यक है, तभी वह एक रमणीय आकार में उतर सकती है अन्यथा नहीं। काव्य में इस आत्मानुभूति की प्रधानता रहती है। सम्भवतः सत्य, शिव और सौन्दर्य इसी के उपकरण हैं। काव्य के विषय में आचार्यों में बड़े मतभेद हैं। उसका ध्येय तो और भी विवादास्पद है। कुछ लोग काव्य को साधन मानते हैं और कुछ लोग साध्य। काव्य को किसी साध्य का साधन मानना ही उपयोगिता-वाद और स्वयं साध्य मानना कलावाद है। यह विवाद बहुत पुराना है। किन्तु अभी तक सर्वमान्य निश्चय नहीं प्राप्त है और शायद भविष्य में भी न प्राप्त हो। किन्तु इतना तो निश्चित है कि कोई भी मानव-सृष्टि उपयोग, आदर्श और उद्देश्यहीन नहीं हो सकती, क्योंकि जीवन के दैनिक अनुभव से यह ज्ञात होता है कि मनुष्य बिना किसी उद्देश्य के कभी किसी कार्य में संलग्न नहीं होता, फिर कलाकार क्यों ऐसा करेगा ? मनुष्य की प्रकृति प्रारम्भ से ही एक निश्चित लक्ष्य की ओर उन्मुख है और उसकी किसी भी कृति की इसी में सार्थकता भी है। तब उसकी कला उद्देश्यहीन और आदर्शहीन कैसे हो सकती है ? किन्तु जीवन में यह भी सत्य है कि तारों का नभ में तैरना, फूलों का वन में हँसना, बादलों को देखकर मोर का नाचना आदि हमारे किसी विशेष उद्देश्य के सहायक नहीं हैं, किन्तु उनसे हमें समय-समय पर सुख और सन्तोष मिलता है। इस प्रकार कलावाद और उपयोगिता का, क्रम विवाद तथा क्षेत्र बहुत विस्तृत है। काव्य के विषय में भारतीय आदर्श इन दोनों वादों के समन्वय के समीप है। काव्य, मानव-हृदय की अनुभूति का स्थूल स्वरूप है, अतः उस में उद्देश्य का होना अत्यन्त आवश्यक है और यही उद्देश्य काव्य में लोकोत्तर आनन्द को संज्ञा पाता है। किन्तु ऐसे काव्यों में जिनमें नीति तथा आचार एवं आदर्श का ध्यान नहीं रखा गया उनसे इस आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यह आनन्द तो उसी काव्य में मिल सकता है जिसमें मानव जीवन का आदर्शमय कल्याणकारी स्वरूप उपस्थित किया गया हो, जिसमें आत्मा की उन्नति के साधन और जीवन की सुचारुता का आराधन हो। रामचरित मानस ऐसे काव्यों में आदर्श है। आचार, नीति और आदर्श की आधार शिला पर इसका काव्यप्रासाद खड़ा है क्योंकि आचार काव्य को शक्ति, नीति, रमणीयता तथा आदर्श जीवन देता है, यह

निश्चित है। यदि काव्य में सत्य, शिव और सौन्दर्य की भाँति आचार, नीति और आदर्श का समन्वय न हो सका तो काव्य की व्यापकता में व्याघात होता है; क्योंकि नीति के आदर्शों के आधार के बिना आत्मा की सामूहिक चेतना नहीं जगती और वह विश्वात्मा में नहीं लीन हो पाती। अस्तु, हम कह सकते हैं कि जहाँ जीवन होगा, वहाँ जीवन का विवेचन होगा, और जहाँ जीवन का विवेचन होगा, वहाँ नैतिक सिद्धान्तों और आदर्शों की अवश्य ही स्थापना होगी। जो काव्य इन तथ्यों का अनुकरण नहीं करता वह उत्तम काव्य नहीं है।

काव्य की सार्थकता के साथ यह न भूलना चाहिए कि आचार तथा नीति सम्बन्धी सिद्धान्त जहाँ अपनी स्वाभाविकता छोड़कर एक ऐसा आग्रह वन जाते हैं, जो कठोर और अप्रिय हो उठता है, वहाँ काव्य में उनका कोई मूल्य नहीं रह जाता। काव्य तो अपना उपादान सदैव भावना के माध्यम से लेता है, यह सभी जानते हैं। यों भी किसी वस्तु के दो रूप होते हैं, प्रथम आत्म-सम्पृक्त और द्वितीय पर-सम्पृक्त। एक रूप उसका अपना रूप है जो दूसरों से सम्बन्ध रखता है। यही हाल काव्य का भी है। काव्य का स्वतः सौन्दर्य अथवा उसकी उपयोगिता मनुष्य की अपनी अपेक्षा से है, क्योंकि काव्य-सृष्टि मनुष्य की अपनी दृष्टि और प्रतिभा से होती है। उपयोगिता स्वयं एक सापेक्ष वस्तु है, उसकी आवश्यकता मनुष्य की अपनी परिस्थिति पर निर्भर करती है। मनुष्य जिस परिस्थिति में जो काम एक साधारण सुई से लेता है वह काम तलवार से नहीं लिया जा सकता, किन्तु इस कारण तलवार की अनुपयोगिता नहीं सिद्ध होती। काव्य भी इसी प्रकार अपनी सापेक्ष भावात्मक उपयोगिता रखता है। सौन्दर्य-स्वरूप होने के कारण वह स्वतः उपयोगी है, क्योंकि सौन्दर्य, नीति, सदाचार तथा साधना से ही निर्मित एवं संरक्षित होता है, किन्तु उसका उपयोग पार्थिव-पूर्ति की अनगढ़ क्रूर कसौटी पर ही कसने से सम्भवतः उतना खरा न निकले। जब तक सुन्दर खिला हुआ फूल मनुष्य की भूख की ज्वाला शान्त करने में समर्थ नहीं होता, तब तक काव्य भी जीवन की प्रत्येक स्थूलता की उपयोगिता का सहायक हो, यह आवश्यक नहीं। भारतीय दृष्टिकोण से कला उपासना और निर्माण दोनों मानी जाती है। यहाँ पहुँच कर धर्म और कला में बहुत कुछ साम्य, हो जाता है। हमारे यहाँ कला और धर्म, विचार और व्यवहार दोनों एकात्मभाव से चलते हैं, इसलिए कला न तो केवल कला के लिए है और न केवल उपयोगिता के लिए। कला की संज्ञा ही धर्मप्राण और आदर्शमय होनी चाहिये। इस विचार-पद्धति से, इस वातावरण में, इस आदर्श तत्व में कला

धर्ममय होने के कारण कभी उद्देश्यहीन अथवा सामंजस्य हीन नहीं हो सकती। भारतीय जीवन का ध्येय अमृत्व और अनंत की प्राप्ति रहा है तथा कला उसका साधन और साध्य दोनों। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कला जीवन साम्य है और जीवन कला साध्य। यह ठीक भी है क्योंकि कला जीवन से दूर कोई एकान्तमयी कोरी कल्पना नहीं और न जीवन कला से दूर कोई जड़ पदार्थ। कला और जीवन दोनों समाज-सापेक्ष हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु अनेकत्व का मिश्रित रूप है। परम तत्व परमात्मा स्वयं सत+चित+आनन्द का समन्वय सामंजस्य है, फिर कला का संपादन, समन्वय के बिना कैसे सम्भव हो सकता है? इस दृष्टि से काव्य और कला की उपयोगिता तथा कला का तादात्म-भाव सहज ही स्पष्ट और बोधगम्य हो जाता है।

यथार्थ और आदर्श के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। जिस प्रकार जड़-चेतन, अनुराग-विराग, गुण-दोष, भाव-अभाव तथा सुख-दुख के नाना द्वन्द्वों से संसार का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार मानव-प्रवृत्तियाँ भी द्वन्द्वात्मक हैं। जगत के अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ होने के कारण मनुष्य अपने दैनिक जीवन सुविधायें नोन, तेल, लकड़ी या इसी प्रकार की अन्य जीविका वृत्ति की आराधना से ही संतोष नहीं प्राप्त कर पाता, वरन् उसकी चेतना सद्-भावनाओं तथा उच्च आशाओं की प्रेरणा से जीवन के सामूहिक कल्याण तथा तृप्ति की आदर्श-स्थापना करना चाहती है। जीवन को आदर्शमय बनाने की चेष्टा ही मानव को मानवता से विभूषित करती है। शेष पशु-जगत अपनी दैनिक जीवन की दुर्बलताओं के प्रति एक शारीरिक चेतना रखता है, किन्तु मनुष्य अपनी दुर्वलताओं के प्रति एक शारीरिक चेतना रखता है और मनुष्य अपनी दुर्बलताओं की तात्विक बोध-गम्यता से खिन्न होकर उनसे मुक्त होने की आकांक्षा और आराधना करता है। अब तक मनुष्य ने अपनी इन दुर्बलताओं के विनाश की अनेक विधियाँ सोची हैं और प्रयोग भी किया है। आदर्श भी उनमें से एक है। मनुष्य ने अपनी हीनताओं का त्याग करने के लिए एक ओर अपने सामने सत्य, शिव और सुन्दर का स्वर्गीय सिद्धान्त रक्खा है, किन्तु दूसरी ओर यथार्थ उसके साथ है, क्योंकि यदि आदर्श जीवन के दूर सत्य का दिव्य दूत है, तो यथार्थ जीवन के साथ का सिपाही। दोनों ही जीवन की सहृदयता तथा सीमा को अपनी-अपनी शक्ति, दृष्टि तथा गति से स्पर्श करते हैं। जीवन का कोई भी आदर्श केवल सपनों का नहीं बना होता, उसमें जीवन की वास्तविकता

(यथार्थ) के विकृत या अँधकारमय अंश को दबाकर उसे संयमित और शिष्ट बनाने की प्रेरणा का प्राण-प्रवेग अवश्य रहता है। आदर्श के सिद्धान्त लौकिक तथा पारलौकिक उपादेयता का प्रतिपादन करते हैं और यथार्थ के केवल लौकिकता का। दोनों की स्थिति और महत्व जीवन ही के लिए है। जीवन के यथार्थ की अपूर्णताओं को मनुष्य आदर्श की कल्पना से पूर्णता दे देता है और जीवन को उन्हीं पूर्णताओं के बीच में स्थापित करना चाहता है। यही मनुष्य का आदर्शवाद है, इस तक पहुँचने का प्रयत्न मनुष्य की कलात्मक भावनाओं के परिष्कार पर निर्भर है।

अतः यथार्थ तथा आदर्श का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यथार्थ की प्रत्यक्ष स्थिति मनुष्य को आदर्श की दूर-स्थिति का स्वरूप देती है और आदर्श की काल्पनिक स्थिति यथार्थ की स्थूलता का बोध। इसे यों भी कहा जा सकता है कि यथार्थ की त्रुटियाँ आदर्श की पूर्णता का निर्माण करती हैं और आदर्श की पूर्णता यथार्थ की स्थूल यथार्थता को चरितार्थ करती हैं, "इस तरह जीवन में वह यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नहीं, केवल शव मात्र है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं प्रेम मात्र है।" यथार्थ और आदर्श के इस विवेचन के बाद कला की स्थिति यथार्थ की आदर्शात्मक अभिव्यक्ति हो जाती है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। यथार्थ में अभाव, पतन और दुःख का आधिक्य रहता है और आदर्श में भाव, उन्नति और आनन्द का। कला में इन दोनों की समन्वयात्मक ममता रहती है। कलाकार न तो यथार्थवाद की तरह इतिहास का स्पर्श करता और न आदर्शवादी की तरह शास्त्र का, उसमें दोनों के आवेगों की आकुलता रहती है, दोनों के शुद्ध सौन्दर्य रूपों का निरूपण करता रहता है। यही कारण है कि कला में हम जीवन की सच्चाईयाँ तथा अनुभूतियाँ दोनों पाते हैं। किसी कला का निर्माण इन दोनों तत्वों के अनुपात से ही सम्भव होता है इसमें सन्देह नहीं। कवि अथवा कलाकार की आत्मा सदैव इसी सामंजस्य की साधना करती हैं। नीचे दी गई जीवन के कठोर धरातल में विकसित अनुभूतियों की सम्मतियों से कला का स्वरूप और भी स्पष्ट हो जाता है।

> "कला ही जीवन और विविध कार्यों का उपादान है। साथ ही जीवन स्वयं कला है।"
>
> —गान्धी

> "जीवन यापन की विधि एक कला है और कला का कार्य किसी भी मानवीय आदर्श को कलात्मक नैपुण्य द्वारा साकार रूप प्रदान करना है।"
>
> —रार्बट पी० डाउन्स

अतः कह सकते हैं कि जीवन-अनुभवों से समन्वित और सामंजस्य पूर्ण होकर कला का सौन्दर्य निश्चय ही आनन्दप्रद और सामूहिक होता है। स्वरूपात्मक दृष्टि से कला समर्थन केवल सौन्दर्य के ही माध्यम से हो सकता है, किन्तु सत्य और शिव की भावना से उसका मूल्य अवश्य ही बढ़ जावेगा।

'कामायनी' में काव्य-कला का यही समन्वयात्मक स्वरूप कवि के द्वारा उपस्थित किया गया है। उसमें भारतीय आदर्श के अनुरूप आचारवाद-सम्मत व्यष्टि-समष्टि-हित साधक कल्याणमयी भावना का जो विकास हुआ है, वह सर्वथा ग्राह्य और गौरवशाली है। कवि ने एक पौराणिक रूपक द्वारा कल्पना तथा काव्य की मर्मस्पर्शिता से जीवन के शाश्वत सत्य की चिर पुरातन अभिव्यक्ति का स्वरूप निश्चित किया है। यही उसके व्यक्तित्व की व्यापकता और कला की सफलता है। कवि प्रसाद की कविता का प्रतिपाद्य विषय प्रेम है। प्रसाद का कवि संसार को प्रेममय मानता है, किन्तु कवि का यह प्रेम न केवल आध्यात्मिक है और न केवल शारीरिक ही। प्रसाद ने प्रेम की स्वस्थ शारीरिकता का भी सम्मान किया है और उसकी अतीन्द्रियता का स्वागत भी। वे आँख के खेल का, मन के खेल से मेल कराने के सदैव पक्षपाती रहे हैं। इसी कारण उनका सौन्दर्य तथा प्रेम जीवन के बीच में विकसित होता है, कल्पना लोक के विजन वन में नहीं। जीवन का यह सात्विक सौन्दर्य एक दिन स्वयं जीवन बन जाता है, तब मनुष्य का नहीं वरन् व्यक्तित्व का उपासक हो जाता है और उसका प्रेम संसार की सीमा से ऊपर उठकर व्यापक और दिव्य बन जाता है—

> इस पथ का उद्देश्य नहीं है, शान्त भवन में टिक रहना,
> किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।

'कामायनी' में मनु और श्रद्धा के प्रेम को कवि इसी स्थिति में पहुँचा देता है। प्रसाद के प्रेम की चरम परिणति साधनात्मक वैराग्य या विश्वप्रेम और करुणा में होती है, यही कवि के सन्देश का सार है। विचार-प्रधान कवि होने के कारण जीवन के गहनतम विचारों का विश्लेषण उन्होंने अपने काव्यों में किया है। प्रसाद को सम्भवतः इसीलिए हम कभी कवि-दार्शनिक तथा कभी दार्शनिक-कवि के रूप में पाते हैं। 'कामायनी' में काव्य और दर्शन के संयोग का परम विकास मिलता है। काव्य की भावुकता से वे जीवन की रागात्मक वृत्तियों को चेतना देते हैं और दर्शन से जीवन के राग विरागों को समझने और सुलझाने की शक्ति। उनकी कल्पनामयी भावुकता इतनी सजग तथा रंगमय है

और उनका दर्शन इतना साधनशील है कि उनका काव्य सहज ही एक सुन्दर स्पष्टता पा लेता है, जो मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से परिपुष्ट और भावना की भव्यता से भास्वर रहता है। "प्रसाद की कविता वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाती है। अंधकार का आलोक से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत का अन्तर्जगत से मेल कराना उसका मुख्य उद्देश्य है।" 'कामायनी' में यही तत्व कवि का विश्रामस्थल बना है—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था।

प्रसाद को जीवन में आनन्द की उपासना का इष्ट था, इसी कारण वे शिव के उपासक थे। शिव की उपासना की मूल भावना ही उनके साहित्य का, विशेषकर काव्य का मेरुदण्ड है। शिव तत्व की उपासना का साधक स्वभावतः अमृत और हलाहल में समरसता का अनुभव करता है, क्योंकि शिव का सारा शिवत्व ही इस पर आधारित है कि वे हलाहल पान के बाद भी अपने शिवत्व से च्युत नहीं हुए। प्रसाद के काव्य का आधार भी कुछ ऐसा ही है। आधुनिक जीवन की विषमताओं का विष उन्होंने पान किया था, किन्तु वह उनकी साहित्य प्रतिभा में मृत्यु का नहीं वरन् मुक्ति का साधन बना, यही प्रसाद की महानता है। कुछ प्रसाद को केवल आदर्शवादी, रोमांसप्रिय साहित्यिक मानते हैं, किन्तु 'कामायनी' का आरम्भ सहज ही इस भ्रम का निवारण कर देता है, क्योंकि आदर्शवादी देव-सृष्टि के विनाश के बाद से ही कवि ने इस काव्य का प्रारम्भ किया है।

'कामायनी' की कथा मानवता के क्रमिक आदि-विकास का रूपक है। यह बहुत ही भावमय और मनोवैज्ञानिक है। आमुख में कवि ने कहा है—"जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। देवगण के उच्छृंखल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणों को एक नये युग की सूचना मिली। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" इस कथन से ज्ञात होता है कि कवि की आस्था कथा की ऐतिहासिकता पर

उतनी नहीं है जितनी उसकी भावात्मकता पर है। प्रसाद ने कथा के साररूप में सत्य का प्रतिपादन किया है उसकी इति वृत्तात्मक असारता को नहीं। कवि की इस भावमयता के बीच कथा के पात्र बड़े ही सुन्दर संकेतों से पाठक को कथानक का आभास दे जाते हैं। पात्रों की अपनी उपस्थिति उतना ऐतिहासिक मूल्य नहीं रखती जितना मानवता के विकास की सैद्धान्तिक प्रतिपादना। पात्रों की प्रतीकात्मक स्थिति उनके स्थूल अस्तित्व से अधिक आकुल और प्रभावमयी है, संभवतः माधुर्य और मोदमयी भी।

'कामायनी' की कथा एक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चेतना की ठोस और शाश्वत भावभूमि पर स्थापित है। यह काव्य रूपकात्मक है। इस प्रकार के रूपकात्मक काव्यों में कवि अपने प्राणों के प्रवेग से शाश्वत जीवन की गति को सहस्त्र संघर्षों के बीच से प्रवाहित करने की चेष्टा करता हुआ जीवन और जगत के अमर सत्य की सीमा को अपनी संवेदना से स्पर्श करना चाहता है। 'कामायनी' के कवि ने भी यही किया है। प्रसाद ने अपनी मधुमयी प्रतिभा और एक सतत जागरूक भावुकता के सहयोग से इस काव्य पद्धति को और भी सुगठित तथा मनोरम कर दिया है। जीवन के मधुरिमामय आनन्द-पक्ष की ओर स्वाभाविक आस्था होने के कारण कवि की रहस्यात्मक अनुभूतियों का स्वरूप, रूपक काव्य में अधिक स्पष्टता पाता है, क्योंकि भावना की इस भव्यता का उपासक कवि कभी अपनी अतृप्त तथा अज्ञात आकांक्षाओं को नग्न रूप में, यथा-तथ्य रूप में या बहुत स्थूल रूप में अभिव्यंजित नहीं कर सकता। यही कारण है कि मिल्टन ने 'पैराडाइज लास्ट' में, शेली ने 'प्रामेथ्यूज अनबाउन्ड' में, गेटे ने 'फास्ट' में रुपकात्मक शैली का ही अनुसरण किया है। उन लोगों ने अपने उन ग्रन्थों द्वारा चिरन्तर तथा अमर सत्य का आभास जिस कलात्मक रूप से प्रकट किया है, वह दूसरी प्रकार की शैलियों में सहज सम्भव नहीं है। 'कामायनी' की भी यही विशेषता है। यह काव्य जीवन की सारी कठोर वास्तविकता तथा संघर्ष अपनाते हुये आनन्द प्राप्ति की साधना का मार्ग निर्देश करने में अद्वितीय है। मानव जीवन की चरम सार्थकता शिव की प्राप्ति का यह बहुत ही सुगम सोपान है। काव्य का नायक मनु जीवन की कठिनाइयों और जीवन-व्यापी संघर्षों से उलझता हुआ आगे बढ़ता है, बीच में थकता है, क्लान्त होता है, दुःखी होता है और फिर आगे बढ़ता है। किन्तु जब तक उसके मन में सहानुभूति, संतुलन और समन्वय की सम-दृष्टि के फलस्वरूप लोक-मंगल की कामना नहीं जागरित होती तब तक वह जीवन में शान्ति नहीं पाता। अन्त में

अनुभूति तथ्यों की अधिकता से उसके भीतर सोई सात्विक चेतना जग पड़ती है और वह श्रद्धा नियोजित प्रकृतिस्थ बुद्धि के कारण शुद्ध और स्वस्थ हो जाता है। तभी उसका सारा असंतोष और संघर्ष तथा वैषम्य और द्वन्द्व मिट जाता है और वह अपनी साधना में सफल होता है। समत्व की इस सीमा में जीवन का सारा ध्वंसात्मक विद्रोह अपने आप शान्त हो जाता है। आकाश में शब्दों की भांति आनन्द से सभी द्वन्द्व, सभी संघर्ष समाहित हो जाते हैं।

'कामायनी' का कवि मानवता के कल्याण के लिए शिव तत्व की ओर बराबर संकेत करता है, साथ ही वह यह भी बताता है कि इस यात्रा में श्रद्धा मानव की पथ-प्रदर्शिका है। उसी की प्रेरणा और संवेदना जीवन की साधना में, सफलता में और आनन्द में एक निश्चित और नियमित योग है और संघर्ष प्रस्फुटित इड़ा (बुद्धि) लोक कल्याण की साधना में सहायक है। "इस प्रकार 'कामायनी' के मूल में जो आध्यात्मिक तत्व है वह शैव-तत्व ज्ञान के आनन्द-तत्व के ऊपर खड़ा है। इस तत्व-ज्ञान की विवेचना कवि की स्वतन्त्र विवेचना है, मौलिक खोज है। इस पर बौद्ध-तत्व-ज्ञान की भी छाया है। शुद्ध निर्लेप चेतनता और आनन्द की प्राप्ति ही मानव का चरमलक्ष्य है। समाज-निर्माण और लोक-कल्याण इस लक्ष्य की सिद्धि के बीच की मंजिलों के रूप में आते हैं। व्यक्ति और समाज में अविरोधी चेतनता का भाव रखकर ही सच्ची उन्नति सम्भव है। इस उन्नति में बुद्धि का अनिवार्य महत्व है, पर बुद्धि की शुद्धि श्रद्धा द्वारा सदैव होती रहनी चाहिए। अनियंत्रित बुद्धि प्रमाद में परिवर्तित होकर परस्पर प्रतियोगिता और विनाश का कारण होती है। संस्कृत बुद्धि परस्पर सामंजस्य और सुख का कारण होती है। इस प्रकार श्रद्धा द्वारा भेद-बुद्धि के संस्कार से शुद्ध चेतनता और आनन्द की साधना ही चरम लक्ष्य है और इसी का सुबोध और कलापूर्ण सन्देश 'कामायनी' के कवि ने हमें दिया है। यह सन्देश आनन्द और शक्ति यानी पौरुष से पूर्ण है। उसमें निष्क्रियता नहीं, चिर चेतनता और कर्मण्यता है।" 'कामायनी' की रचना मानव मन की उस सनातन साधना से हुई है जो आदि काल से जीवन और जगत के अन्धकारमय अंश को विदीर्ण करके एक अमर सत्य और शाश्वत सुख की ओर अहर्निशि अविरत गति से उन्मुख है। इस काव्य में मन के, मानव के, मनु के द्वन्द्वों तथा संघर्षों का जो चित्र कवि ने उपस्थित किया है वह त्रिकाल में मानवता का साथी है। किन्तु कवि-प्रतिभा की पूर्णता इन विषमताओं के चित्रण में उतनी नहीं चरितार्थ होती जितनी इनके निवारण की गतिविधि वर्णन में। श्रद्धा और बुद्धि के सुमंगल सहयोग

से मनुष्य अपने सुखों और अधिकारों की रक्षा करता हुआ विश्व में स्थायी कल्याण और आनन्द की स्थापना कर सकता है, यही कवि का साध्य है। श्रद्धा का यह मर्मोदगार इसे और भी सजीवता तथा सार्थकता दे देता है, इसमें सन्देह नहीं।

हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा-भार
सबकी समरसता कर प्रचार
मेरे सुत सुन माँ की पुकार !

मनु अर्थात् मनन या मन के साथ श्रद्धा अर्थात हृदय की भावनात्मक सत्ता तथा इड़ा अर्थात् बुद्धि का द्वन्द्वात्मक विवेचन ही 'कामायनी' के कवि का लक्ष्य है। मानव मन के दोनों पक्षों का निदर्शन तथा विवेचन, कवि का उद्देश्य है क्योंकि हृदय और मस्तिष्क, आस्था और विवेक, जब तक सद्भावना से मिलकर काम नहीं करते तब तक मन (मानव) का कल्याण नहीं हो सकता, यह निश्चय है। यद्यपि 'कामायनी' की इस कथा का कहीं यथातथ्य रूप नहीं मिलता किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मानव मनु की सन्तान है। कवि ने कथा की रोचकता तथा क्रमवद्धता के लिए कल्पना का भी सहारा लिया है, जिससे कथा की सार्थकता और भी बढ़ गई है। पात्रों का यह उपयुक्त निरूपण 'कामायनी' की कथा का मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक पक्ष है। यदि ऐतिहासिक पक्ष से पात्रों का विवेचन किया जाय तो वह इस प्रकार होगा—

मनु—देव-वर्ग का अन्तिम प्रतिनिधि। जलप्लावन के वाद वचा हुआ एकमात्र आदि मानव।

श्रद्धा—जलप्लावन के वाद वची हुई नारी। इसका दूसरा नाम कामकन्या भी है। आगे चलकर मनु की प्रणयिनी।

इड़ा—मनु को यज्ञ पुत्री।

कुमार—मनु का पुत्र।

किलात और आकुलि—जलप्लावन के वाद वचे हुए असुरों के प्रतीक; मनु की शारीरिकता के सांकेतिक उपादान।

प्रलय की विभीषिका के वाद मनु देवताओं के श्मशान का साधन कर रहा है। अमरों की मृत्यु पर विचार कर रहा है क्योंकि वे अमर ऐसे थे जो मर

गये। एकान्त चिन्ता से उसकी अकुलता बढ़ जाती है, जिसमें उसका पौरुष और भी अधिक भास्वर हो उठता है—

चिन्ता कातर वदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत;
उधर अपेक्षामय यौवन का,
बढ़ता भीतर मधुमय श्रोत !

धीरे-धीरे यौवन के उल्लास-प्रवाह में उसकी चिन्ता प्रवाहित हो जाती है और आशा का उदय होता है। इस आशा के उत्थान की चरम परिणति मनु से श्रद्धा की भेंट में होती है। श्रद्धा काम की कन्या है, अत्यन्त सुन्दर, मनोहर और कोमल। संगीत की शिक्षा के बाद उसके सौन्दर्य की सार्थकता और भी बढ़ गई है। मनु पूर्ण युवा था किन्तु नारी से अपरिचित पूर्ण ब्रह्मचारी। श्रद्धा अपना परिचय स्वयं मनु को देती है—

हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें मन में धर सुन्दर वेश !

इतना ही नहीं श्रद्धा मनु के भीतर सोये हुए भावों को जगाने के लिए यह भी कहती है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म-रंगस्थल है।

इस वार्तालाप के पश्चात् स्वभावतः मनु श्रद्धा की ओर आकर्षित होता है और दोनों सहज समर्पण की साधना से साथ रहने लगते हैं—पति और पत्नी के रूप में। कुछ दिन सुख और शान्तिपूर्वक दोनों साथ रहते हैं। कुमार के जन्म के पहले ही अपने पूर्व संस्कारों की स्मृति-स्वरूप मनु का मन कुछ-कुछ उदास होने लगता है और वह कर्म की ओर उन्मुख होता है। मन की इस स्थिति में मनु को हिंसापूर्ण यज्ञ करने की आसुरी प्रेरणा भी असुर-पुरोहित किलात और आकुल से मिल जाती है तथा अग्नि को हवन। श्रद्धा इसे पसन्द नहीं करती। उसके मन में निरीह पशुओं के प्रति एक ममता है और है अपने भावी सन्तान के प्रति एक वात्सल्यमय आकर्षण। मनु इसे नहीं सहन कर पाता क्योंकि

वह चाहता है कि श्रद्धा अपनी सभी भावनाओं की पूर्णता स्वयं उसी में देखे, अन्यत्र कहीं किसी दूसरे रूप में नहीं। विचारों का यह विरोध इतना बढ़ जाता है कि मनु श्रद्धा को हिमालय की उसी कंदरा में अकेले छोड़कर अपनी शारीरिक सुख-साधना के लिए सारस्वत देश चला जाता है। वहाँ पहुँचकर मनु को काम की अभिशप्त स्वर लहरी सुनाई पड़ती है—

मनु तुम श्रद्धा को गये भूल ?
उस पूर्ण आत्म विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल।
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
सम-रसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की !

असामंजस्यपूर्ण मनोदशा के पश्चात् प्रभात होता है और मनु से इड़ा की भेंट होती है। इड़ा सारस्वत देश की सम्राज्ञी है। मनु उसके यहाँ एक राजप्रबन्धक के रूप में रहने लगता है। धीरे-धीरे मनु वहाँ का सम्राट् ही बन जाता है किन्तु उसे सन्तोष नहीं होता। उसकी अधिकार लालसा द्रौपदी के चीर की भाँति बढ़ती ही जाती है। वह इड़ा का भी अधिपति बनना चाहता है। उसकी इस अनुचित आकांक्षा और विलासमयी प्रवृत्ति का इड़ा विरोध करती है और मनु को छोड़कर कहीं अन्यत्र चली जाना चाहती है। परन्तु मनु अपनी अधिकार भावना की आकुलता में इड़ा को पकड़कर बाँध रखना चाहता है; ऐसी स्थिति में संघर्ष स्वाभाविक हो उठता है। इड़ा की प्रजा मनु के इस व्यवहार से बिगड़ उठती है और एक विद्रोह का सूत्रपात होता है। मनु साहस के साथ अकेले सारी प्रजा का युद्ध में सामना करता है किन्तु अन्त में पराजित तथा आहत होकर वह मूर्च्छावस्था में धराशायी हो जाता है।

उधर श्रद्धा की स्थिति भी बड़ी भयानक हो जाती है, पति के बिना पत्नी की स्थिति ही क्या ? अपनी इसी विपन्नावस्था में वह एक भयंकर स्वप्न देखती है, जिसके कारण उसका मन और भी अधिक आकुल-व्याकुल हो जाता है। अपने कुमार को साथ लेकर वह मनु की खोज में वहाँ से निकल पड़ती है और भटकती, खोजती उसी नगर में पहुँच जाती है जहाँ मनु मूर्च्छित पड़ा था। जैसे मनु की मूर्च्छा को एक चेतना मिल गई। श्रद्धा के स्नेहशील उपचार से मनु शीघ्र ही स्वस्थ हो जाता है और उसका मन क्षोभ तथा पश्चाताप से भर आता है। श्रद्धा के सुखमय सहवास की सारी मधुर स्मृतियाँ मनु के सामने उपस्थित हो जाती हैं और वह कहने लगता है—

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था
तो तुम उसमें सन्तोष बनी !

इसके साथ ही मनु श्रद्धा से उसे शीघ्र ही वहां से निकाल ले चलने की बात भी कहता है—

ले चल इस छाया के बाहर,
मुझको दे न यहाँ रहने !

किन्तु रात होते ही मनु श्रद्धा, इड़ा और कुमार को वहीं छोड़कर फिर कहीं चुपचाप चला गया। इड़ा अपने को इन सब घटनाओं का कारण समझती है और क्षुभित होकर श्रद्धा से कहने लगती है—

अधिकार न सीमा में रहते
पावस निर्झर से वे बहते।

... ...

सब पिये मत्त लालसा घूँट
मेरा साहस अब गया छूट।

इड़ा की बात का उत्तर श्रद्धा ने बहुत ही मार्मिक शब्दों में दिया है—

सिर चढ़ी रही पाया न हृदय
तू विकल कर रही है अभिनय;
सुख-दुख का मधुमय धूप-छाँह
तूने तोड़ी यह सरल राह।

... ...

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत
यह रूप बदलता है शत-शत,
कण-विरह मिलनमय नृत्य निरत
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।

इसके उपरान्त श्रद्धा अपने पुत्र कुमार को सांसारिक अनुभवों की प्राप्ति के लिए वहीं इड़ा के हाथों सौंपकर मनु को खोजने के लिए दूसरी बार निकल पड़ी। मनु शीघ्र ही सरस्वती तट पर एक गुफा में बैठा मिल गया। मनु उस

समय ध्यानमग्न था। श्रद्धा को देखते ही वह पुकार उठता है—

यह क्या श्रद्धे! बस तू ले चल,
उन चरणों तक दे निज सम्बल;
सब पाप-पुण्य जिसमें जल-जल
पावन बन जाते हैं निर्मल,
मिटते असत्य से ज्ञान लेश;
समरस अखंड आनन्द वेश!

फिर जीवन की अनुरागमयी सन्ध्या-वेला में श्रद्धा आगे-आगे और मनु पीछे-पीछे शुभ्र शिखर हिमालय में स्थित मानसरोवर की ओर चलने लगे। मनु अपनी स्वाभाविक विवशता से अब भी कभी-कभी विचलित हो जाता था, किन्तु श्रद्धा के सात्विक साथ ने उसे सँभाल रखा था। चलते-चलते वे ऊँचाई की एक ऐसी सीमा में पहुँच जाते हैं जहाँ वे अपने को एक निराधार सी स्थिति में पाते हैं। वहाँ पहुँचकर मनु को विश्व-जीवन के तीन आधार-विन्दु नीचे की ओर दिखलाई पड़ते हैं जो इच्छा, ज्ञान और कर्म के प्रतीक हैं। पूछने पर श्रद्धा ने बताया कि ये तीनों आजकल के जीवन में अलग-अलग हो गये हैं और विश्व जीवन की आधुनिक विडम्वना का यही सबसे वड़ा कारण है। श्रद्धा, मनु को एक-एक का रहस्य समझाती है।

पहले इच्छा की मनोरम भूमि का निदर्शन श्रद्धा ने किया—

शब्द, स्पर्श, रस, रूप गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ,
चारो ओर नृत्य करती ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ।

इच्छा की इसी मनोमय भूमि पर विश्व राग-रंजित चेतना की उपासना करता है।

फिर कर्म-भूमि की तपोमयी प्रवृत्ति का दर्शन कराती है—

यहाँ सतत संघर्ष विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है,
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।

आकांक्षाओं की कोमल कलिकाओं का यहीं पतझर होता है। सबसे अन्त में ज्ञान-भूमि की ओर संकेत करते हुए श्रद्धा ने बताया—

अस्ति नास्ति का भेद निरंकुश
करते ये अणु तर्क युक्ति से;
ये निस्संग किन्तु कर लेते
कुछ सम्बंध विधान मुक्ति से।

... ...

यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छू तो मत संचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा! मृषा वंचित होने दो।

इस ज्ञान-भूमि में सदैव बुद्धि का तर्क जाल बुना जाता है। यहाँ केवल मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु तृप्ति, आनन्द का यहाँ अभाव रहता है। शाश्वत तृषा और मृषा ही इसके आवश्यक उपादान हैं।

जीवन के इन तीनों आधार-बिन्दुओं की प्रथकता पर कटाक्ष करती हुई श्रद्धा हँस पड़ती है और उसकी हँसी की आलोक किरण से ये तीनों शीघ्र एक में मिल जाते हैं—

वे सम्बद्ध हुये फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।

इन तीनों के मिलने से संसार में एक दिव्य-स्वर-लहरी का संचार हो जाता है और मनु अनाहत नाद में तन्मय हो जाता है—

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे!

यही शुद्ध तन्मयता मनु के जीवन की चरम सिद्धि है। इसके अनन्तर आनंद भूमि की प्रतिष्ठा होती है। इसी शुभ अवसर पर इड़ा भी कुमार को साथ लिये हुए वहाँ पहुँचती है और देखती है कि सनातन पुरुष अपनी आदि शक्ति प्रकृत के साथ मिलकर आनंद कर रहा है—

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन;
निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अम्बु-निधि शोभन !

यह सब देखकर इड़ा श्रद्धा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है और अपनी भूलों पर पश्चाताप करती है। यहीं कुमार और इड़ा का मानवता की परम्परा चलाने के लिए सहयोग होता है और मनु कैलाश की ओर दिखाकर उस आनंद-भूमि का वर्णन करता है, जहाँ पाप-ताप का कोई अस्तित्व नहीं रहता। वहाँ तो—

अपने दुख-सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर!

... ...

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे! "यह मैं हूँ"
यह विश्व नीड़ बन जाता !

इस प्रकार प्राकृतिक सुखों की छाया में 'कामायनी' की कथा अपना अन्तिम विश्राम पाती है। कथा का दार्शनिक आधार यह है कि श्रद्धा या हृदय की कोमल वृत्ति की चेतना से ही मनुष्य संसार का कल्याण करता हुआ स्वयं आनंद का अनुभव कर सकता है। इड़ा या बौद्धिक वृत्ति सदैव जीवन को तर्क के जाल में फँसाये रहती है और उसे तृप्ति का उपभोग नहीं करने देती। वास्तव में इन दोनों वृत्तियों की समन्वयात्मक साधना से सुख का अनुभव और आनंद की प्राप्ति होती है। नीचे के रूपकमय कथानक से इस समन्वय की स्पष्टता पर पूर्व प्रकाश पड़ता है—कहीं पर एक स्वस्थ और बहुत ही शक्तिशाली अंधा और एक निर्बल और क्षीण लँगड़ा रहता था। आँखों के अभाव से अंधा और पैरों के अभाव से लँगड़ा जीवन के कार्यों में असफल और असमर्थ थे। उनका इधर उधर चलना फिरना भी सम्भव नहीं था। एक दिन किसी साधू ने उनसे कहा कि तुम दोनों मिलकर एक बहुत ही सुन्दर व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा

कर सकते हो। अंधे को चाहिए कि वह अपने सबल कंधों पर निर्बल किन्तु सनेत्र लँगड़े को बिठा ले और इस प्रकार मिलकर दोनों जीवन यात्रा करें। अंधे के पैर लँगड़े के नेत्र क्रम से दिशा और गति देते जायेंगे और फिर कोई भी कार्य करना कठिन नहीं होगा। ठीक यही स्थिति हृदय और मस्तिष्क की है। इन दोनों के समन्वय से ही विश्व के कार्य-व्यापार में सफलता सम्भव है। अकेला न तो हृदय ही कुछ कर सकता है और न मस्तिष्क हो। जीवन-यात्रा में इन दोनों का सामंजस्य सुकृति और असामंजस्य विकृति का रूप धारण करता है, इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। 'कामायनी' की कथा की यही मूल चेतना है।

७

दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ कामायनी का मूल्यांकन

ज्ञान, अनुभव और दर्शन की विकासमयी क्रमिक प्रक्रिया से ही जीवन तथा जगत् का वास्तविक बोध सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस बोध की अभिव्यक्ति के कई प्रकार है। काव्य भी एक प्रकार की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना एवं बुद्धि तत्व का रासायनिक समन्वय रहता है। काव्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार की अभिव्यक्तियों में इन तत्वों के सामंजस्य की स्थिति सम्भव नहीं। दर्शन में अर्थ और बुद्धि तत्व के साथ कभी-कभी कल्पना का भी समावेश पाया अवश्य जाता है, परन्तु वहाँ शब्द तत्व का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हो पाता, क्योंकि उसकी ध्वनि सम्बन्धी विशेषता का दर्शन में कोई महत्व नहीं। इसके अतिरिक्त दार्शनिक अभिव्यक्ति नीरस और जटिल होती है, जबकि काव्य सरस और सुबोध होता है। दर्शन में तर्क संगत अर्थ का ही महत्व है, परन्तु काव्य में शब्द की गति, ध्वनि तथा प्रयोग से प्रस्फुटित दृश्यावली आदि की भी महत्ता रहती है। यही कारण है कि कवि का दार्शनिक होना तो संभव है, पर दार्शनिक का कवि होना उतना सहज नहीं।

कामायनीकार प्रसाद कवि हैं, स्रष्टा हैं, यह तो सर्वमान्य है, पर क्या वे दार्शनिक भी हैं, यह विचारणीय है। युक्ति और तर्क के माध्यम से किसी मत-वाद का खंडन-मंडन यदि दर्शन की संज्ञा पा सकता है, तो प्रसाद को दार्शनिक मानना कठिन है, परन्तु जीवन और जगत के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण को,

जीवन के मूल तत्व के अनुसंधान को, यदि दर्शन की कोटि में माना जा सके, तो निश्चय ही प्रसाद एक बहुत बड़े दार्शनिक सिद्ध होंगे। स्रष्टा या कवि होना कम महत्वपूर्ण नहीं, परन्तु द्रष्टा होना और भी अधिक महत्वपूर्ण होता है। किसी व्यक्ति में जब स्रष्टा और द्रष्टा की वृत्तियों का सम्मिलन हो जाता है तभी महाकवि का व्यक्तित्व सामने उपस्थित होता है। प्रसाद ऐसे ही महाकवि हैं और उनकी 'कामायनी' दार्शनिक महाकाव्य की महिमा से मंडित है।

भारतीय साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ कवि दार्शनिक ऋषियों की वाणी से होता है। वैदिक ऋषियों की ऋचाएं काव्य और दर्शन की सम्मिलित प्रेरणाओं का परिणाम है। दर्शन की चरम उपलब्धि उपनिषदों के रचयिता कवि थे। मध्य युग के सन्तों में भी काव्य और दर्शन का योग था। कविवर प्रसाद ने अपने इस ऐतिहासिक उत्तराधिकार को अपनी श्रेष्ठ कृति 'कामायनी' में सम्पन्न और शक्तिशाली बनाया है। इस महाकाव्य की रचना में काव्य के साथ दर्शन की अमूल्य निधियां बिखरी पड़ी हैं, उनको खोजना, संजोना और समझना हमारा अपना दायित्व है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद दार्शनिक कवि न होकर कवि दार्शनिक है। जीवन को अभेद भावना के आधार पर समग्ररूप से देखने और समझने की चेष्टा के साथ मनुष्य जीवन की एकता के ध्येय को हमारे सामने रखकर प्रसाद ने जिस दार्शनिक उद्देश्य-समरसता को स्पष्ट किया है, वह आज के भेदमय जीवन की व्यवस्था के लिए अमोघ औषधि की उपयोगिता से पूर्ण और कवि की दार्शनिक उपलब्धि का चरम प्रतीक है। वस्तुतः हम कह सकते हैं कि इस विश्व बोध के परिणाम स्वरूप समन्वय तथा सामंजस्य की भावना प्रसाद दर्शन की मूल प्रवृत्ति है। यह सच है कि आज बिना इस उदार भावना को अपनाये मानवता का उद्धार अन्य प्रकार से सम्भव भी नहीं है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि प्रसाद का यह दर्शन उनकी जीवन व्यापी अनुभूति की आधारशिला पर आरूढ़ है, न कि तर्क की उलझनमयी किसी वितर्कात्मक पद्धति पर। उनका दर्शन एक रचनाकार का दर्शन है, कवि की चरम उपलब्धि है और इसीलिए उसका महत्व और भी अधिक है।

'कामायनी' के दर्शन में व्यक्ति और समाज, ज्ञान और कर्म, भाव और भक्ति, भोग और त्याग का ऐसा सम्मिश्रण है कि उसके सामने बड़ी से बड़ी दार्शनिक उपलब्धि नीरस जान पड़ती है। संसार के प्रायः सभी दर्शन प्रकृति की प्रधानता स्वीकार करते हैं। 'कामायनी' की प्राण प्रतिष्ठा भी इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि में हुई है—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन ॥

हिमालय की ऊँची चोटी, शिला की शीतल छाया, ऊपर जमी हिमराशि और नीचे गरजता हुआ सागर और चारों ओर शून्य का सन्नाटा। ऐसे ही गम्भीर वातावरण में मनु अपने भीगे नेत्रों के साथ स्तब्ध बैठा है। उच्च, महत् तथा गाम्भीर्य की वह स्थिति, जो किसी भी काव्य को महत्ता देने में सहज, समर्थ है, 'कामायनी' में भी पाई जाती है।

'एक पुरुष' में सृष्टि के आदि चेतन का स्मरण भी व्यंज्जित है। इस एक पुरुष से मानवीय सभ्यता का विकास उसी तरह होगा, जैसे एक से सृष्टि का विकास हुआ। पुरुष में पुरु की स्थिति अर्थात् शरीर अनिवार्य है, यही अन्नमय कोष है। 'कामायनी' की कथा का प्रारम्भ अन्नमय कोष से होता है और आनन्दमय कोष में उसकी समाप्ति होती है—

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।

दार्शनिक दृष्टिकोण से कोई जड़ को ही प्रधानता देता है तो कोई जड़ चेतन दोनों को ही मानता है और कोई केवल चेतन की स्थिति स्वीकार करता है। प्रसाद की दृष्टि में जड़ चेतन में कोई भेद नहीं, 'कहो उसे जड़ या चेतन' में 'या' का प्रयोग समानता का संकेत करता है, अभेद की स्थापना करता है। 'समरस थे जड़ या चेतन' में भी यही मान्यता ;स्पष्ट है। इस जड़ चेतन की दार्शनिक गुत्थी को कवि ने इतने काव्यमय ढंग से सुलझा दिया है कि इस बोध की प्रसन्नता के साथ-साथ आश्चर्य की स्थिति भी अनिवार्य हो उठती है।

नीचे जल, गतिमय प्रवाह और ऊपर जमी हिमराशि दोनों ही एक तत्व के विभिन्न रूप, विवर्त्त ! वस्तुतः चाहे उसे जड़ कहा जाय या चेतन, वस्तु स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। दो विरोधी तत्वों, भावों से एक की स्थापना कितनी

मार्मिक और हृदयग्राही है कहने की आवश्यकता नहीं।

काव्य और दर्शन का क्षेत्र अलग अलग माना गया है, एक हृदय की अनुभूतिमयी सरसता से प्रस्फुटित होता है, तो दूसरा बुद्धि की जटिल परुषता से, पर दोनों का लक्ष्य एक ही रहता है—सत्य की उपलब्धि। उक्त पद में काव्य और दर्शन की सीमाएँ मिलकर एक हो गई हैं। काव्य और दर्शन का समन्वित स्वरूप 'कामायनी' में बड़ी सफलता से प्रतिफलित हुआ है। प्रसाद ने प्रतिभा, अनुभूति और अर्जित दर्शन, तीनों का समावेश 'कामायनी' में किया है यही कवि कौशल की महत्ता है। दर्शन की तार्किक परुषता को काव्य की मधुमती भूमिका में स्थापित करके प्रसाद ने उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में सफलता प्राप्त की है, इसमें सन्देह नहीं।

प्रसाद जड़ चेतन मे कोई भेद नहीं मानते, इसलिए 'कामायनी' में प्रकृति का चेतनी करण निष्प्राण पद्धति निर्वाह के लिए न होकर कवि के अनुभूत विश्वास पर हुआ है। प्रकृति ने कवि को भारतीय मान्यताओं के अनुसार शक्ति अथवा आदि पुरुष की सनातन सहचरी के रूप में प्रतिष्ठित किया है—

माँसल सी आज हुई थी, हिमवती प्रकृति पाषाणी,
उस लास रास में विह्वल थी हँसती-सी कल्याणी,
वह चन्द्र किरीट रजत नग स्पंदित सा पुरुष पुरातन,
देखता मानसी गोरी लहरों का कोमल नर्तन।
चिरमिलित प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरँगायित था आनन्द अम्बुनिधि शोभन॥

इन पंक्तियों में अभेद दर्शन की जो रमणीय झाँकी उपस्थित की गई है, वह दर्शन को सरस तथा कवित्वपूर्ण बनाने में सहज ही सफल है। प्रायः समालोचक शेक्सपियर को अन्तर्जगत का और कालिदास को वाह्य जगत का सर्वश्रेष्ठ कलाकार मानते हैं, किन्तु गेटे और प्रसाद में अन्तर वाह्य का समन्वय इस कुशलता से हुआ है जो अन्यत्र दुर्लभ है। शक्ति, शक्तिमान की दार्शनिक उपलब्धियों में शक्ति के तीन रूपों—अतरंगा, वहिरंगा तथा तटस्था की स्थितियाँ मानी गई हैं, जो शक्तिमान के सत् चित एव आनन्द को मुखरित करती हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में इसी दार्शनिक सत्य का उद्घाटन है। 'एक तत्व' की प्रधानता कहकर कवि ने जिस शिव तत्व की ओर संकेत किया है, वह शैवागम दर्शन की मान्यता के अनुरूप है। इस शिव तत्व को प्राप्त करने के लिए श्रद्धा अनिवार्य है। वैदिक

श्रद्धा सूक्त में श्रद्धा की महत्ता स्थापित करते हुए कहा गया है कि श्रद्धा असुरत्व पर सुरत्व की विजय का कारण बनती है। 'कामायनी' की श्रद्धा उसी वैदिक श्रद्धा की प्रतिमूर्ति है। मनु के समक्ष वह निरंतर मानवता के विकासशील तत्वों का स्पष्टीकरण करती चलती है और अंत में मनु को शिवत्व और मानवता को समत्व बुद्धि प्रदान करने में समर्थ होती है।

यों तो 'कामायनी' में वैदिक पुरुष सूक्त, श्रद्धासूक्त, संज्ञानसूक्त, ऋतुसूक्त तथा पृथिवीसूक्त आदि के दार्शनिक मनतव्यों की झाँकी मिलती है, परन्तु उसका प्रमुख आधार एक सार्वभौम शाश्वत सत्य है, जो काव्य का मूलाधार एवं निर्मल मन का विशुद्ध प्रेम है। 'अखिल मानव भावों का सत्य' ही 'कामायनी' का प्रतिवाद्य है। शुद्ध प्रेम की सात्विकता समस्त मानव समाज को समरसता की भूमिका में बिठाकर उसे विजयिनी बनाने में किस प्रकार सक्षम होती है, इसका उद्घाटन श्रद्धा के द्वारा ही होता है। इस समरसता, आध्यात्मिक साम्यवाद अथवा समत्व बुद्धि के प्रचार एवं प्रसार से लिए जिस समन्वयवादी दृष्टिकोण की आवश्यकता अनिवार्य है, उसे भी श्रद्धा मनु से बताती है—

शक्ति के विद्युतकण, जो व्यस्त विखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।

कहने की आवश्यकता नहीं कि लौकिक व पारलौकिक का समन्वय ही मानव की विजय है। पारस्परिक जीवन व्यवहार में सहृदयता, संवेदनशीलता तथा आध्यात्मिक समता को स्वीकार करके ही मानवता विजयी हो सकती है, यही 'कामायनी' का सन्देश है।

जीवन विरोधी तत्वों का संगठन है। इस विरोधी तत्वों में समन्वय स्थापित करने के पश्चात ही जीवन में आनन्द की अनुभूति सम्भव है, अन्यथा नहीं। शैवागम के प्रत्यभिज्ञान दर्शन के आधार पर कवि ने समरसता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—

हम भूख प्यास से जाग उठे आकांक्षा तृप्ति समन्वय में,
रति काम बने इस रचना में जो नित्य रही यौवन वय में।
...   .
मैं तृष्णा था विकसित करता, वह तृप्ति दिखाती थी उनको
आनन्द समन्वय होता था, हम ले चलते पथ पर उनको।

इसी प्रकार अधिकार और अधिकारी की समस्या का सुलझाव भी प्रसाद

ने समरसता के व्यावहारिक धरातल पर करने की सफल चेष्टा की है—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में, कुछ सत्ता है नारी की,
समरसता है सम्बन्ध बनी, अधिकार और अधिकारी की।

मानव इतिहास के प्रारम्भ से ही यह समस्या बनी हुई है और इसके कारण न जाने कितने अनर्थ विश्व में घटित हुए हैं और हो रहे हैं। प्रसाद ने इस भीषण समस्या का जो शमन 'कामायनी' में बताया है, वह सर्वथा श्रेयस्कर और सहज ही सर्व सुलभ है। वस्तुतः व्यक्ति और समष्टि के बीच समरसता की भावना से जो सुखानुभूति सम्भव है वही व्यक्ति की विरोधी प्रवृत्तियों के सामरस्य में उसके आनन्द का कारण बन जाती है—

वह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील पर कर्म अभय
इसका सच तू संताप निचय,
हर ले, हो मानवभाग्य उदय
सबकी समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।

इस प्रकार 'कामायनी' में विश्व की विरोधी परिस्थितियों, जीवन की विरोधी प्रवृत्तियों और व्यक्ति की विरोधी वृत्तियों के शमन तथा आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान की समरसता द्वारा परमानन्द की प्राप्ति का सन्देश दिया है। 'कामायनी' का यही दार्शनिक प्रतिवाद्य है, जिसके प्रतिफलन में कवि को पूरी सफलता प्राप्त हुई है। प्रसाद का यह आनन्दवाद शैवागम दर्शन की मान्यता पर आधारित है, पर कवि ने उसे आत्मानुभूति के सहारे प्रतिपादित करके उसे काव्यात्मक स्थिति देने में बहुत बड़ी सफलता प्राप्त की है, यह निर्विवाद है।

अपने दुख-सुख से पुलकित, यह मूर्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल, यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

अन्त में यह कह देना आवश्यक है कि कवि की दार्शनिक पृष्ठभूमि 'कामायनी' को कहीं भी बोझिल नहीं बना पाती, वरन् दर्शन की नीरस उक्तियाँ काव्यकलेवर पाकर सरस और मधुमयी हो उठी हैं। यह कवि की चरम सफलता है।

'कामायनी' में शान्त रस का परिपाक है और आनन्द ही उसकी चरम-सिद्धि है। इसीलिए 'कामयानी' की समाप्ति आनन्दोपलब्धि की उच्चतम भूमि पर होती है। 'कामायनी' पूर्ण काम की प्रतिमा है। उसका अवलम्ब प्राप्त करके मनु शिवत्व प्राप्त करने में सफल होते हैं, उन्हें शान्त रस की उपलब्धि होती है, जिसके कारण उनकी समस्त द्वयता का तिरोभाव हो जाता है। मनुष्य को छोड़कर अन्य प्राणियों में शान्त रस का अभाव है, क्योंकि इसका सम्वन्ध जितना अन्तर्जगत से है, उतना वाह्य जगत से नहीं।

सब भेद भाव भुलवा कर,
दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि प्रत्येक मानव इस भाव की सिद्धि कर ले तो समरसता के चरमोत्कर्ष से विश्व शान्ति का स्वप्न सुगमता से सफल हो जाय।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि 'आत्मवत सर्व भूतेपु' के पश्चात् विश्व-प्रेम की स्थापना तथा उद्‌भावना में 'कामायनी' विश्व साहित्य में अद्वितीय है। मनु के माध्यम से मानव विकास की कथा का आकलन करके प्रसाद ने 'कामायनी' को समस्त मानवता की धरोहर बनाकर विराट प्रतिभा का जो दान दिया है, वह युग-युगों तक अपने अकम्प प्रकाश से मानव-पथ आलोकित करता रहेगा।

८

कामायनी में काम की वाणी

प्रलय के भीषण दृश्य के पश्चात् मनु चिन्ता में डूब गए। देव जाति के अतीत वैभव और विलास का स्मरण करते ही उनका हृदय वेदना से विगलित होने लगा। जीवन तथा मृत्यु पर वह विचार करने लगा। धीरे-धीरे उसकी चिन्ता-धारा एक ऐसी भूमिका पर स्थिर हुई जो मनु की प्रेरणा का आधार बनी।

उसने सोचा-जीवन क्षणिक है और मृत्यु शाश्वत। जीवन नाशवान है और मृत्यु अमर-अजर। इस विचार के आते ही मनु का मन और अधिक अधीर हो उठा। वह अपनी व्यथा की कथा स्वयं कहने और सुनने लगा। वह अपनी कथा का करुण वर्णन करने तो लगा परन्तु सुनने वाला कोई दूसरा न था। उसके चारों ओर प्रकृति परिव्याप्त थी, किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ से ही ऐसी अनेक कथाएँ सुन चुकने के कारण वह भी प्रायः अनुत्सुक तथा शान्त बनी रही। मनु कहता गया और वह चुपचाप मंद-मंद हँसती रही।

मनु ने तारों भरी रात से बातचीत शुरू की, अनेक प्रश्न किए, सहानुभूति उगाहना चाहा, पर वह भी चुप रही। इस शान्ति का अर्थ मनु ने रात्रि-सुन्दरी का मान समझा और उसे मनाने लगा। वास्तव में रात की मायाविनी मोहकता के प्रभाव से मनु का मन द्रवित हो उठा और वह सहसा प्रेम-विह्वल हो गया।

नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान,
चिर परिचित सा चाह रहा था
द्वन्द्व सुखद कर के अनुमान।

वस्तुतः अनुनय-विनय का प्रारम्भ हुआ। रात तुम्हारी गति अत्यन्त व्यापक है। मेरा खोया हुआ सुख यदि तुम्हें कहीं मिल जाय तो उसे लुटा मत देना। यदि तुम उसे मेरे पास ला दो तो मैं उसमें तुम्हें भी हिस्सा दूँगा और तुम्हारा चिर कृतज्ञ रहूँगा। इस प्रार्थना एवं कृतज्ञता की पूर्व स्वीकृति के बाद उसे श्रद्धा का साक्षात्कार हुआ।

श्रद्धा ने मनु की विह्वलता शान्त की और उसके सुखी होने का आश्वासन दिया। उसने मर्म वाणी में बताया—

काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर तुम उसको भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

इच्छा के उदय से ही कर्म का प्रारम्भ होता है और शुभ कर्म करने से कल्याण का अभ्युदय होता है। उदासीन होकर तुम इच्छा का तिरस्कार कर रहे हो। फलतः तुम्हारा जीवन निराश और असफल हो रहा है।

रात के समाप्त होते होते प्रभात का प्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रकार दुख के बाद सुख का आगमन भी स्वाभाविक तथा निश्चित है। जैसे ऊषा का स्वरूप अँधकार के पतले-हलके आवरण में ढका रहता है, उसी प्रकार दुख में सुख छिपा रहता है—

और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान,
शक्तिशाली हो विजयी बनो
विश्व में गूँज रहा जयगान।
डरो मत अरे अमृत संतान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

श्रद्धा के इस उद्बोधन से मनु कुछ-कुछ आश्वस्त हुआ और समझा कि सृष्टि में व्याप्त सुख-सौन्दर्य से उदासीन रहना व्यर्थ है, मेरी मूढ़ता है। वस्तुतः उसने निश्चय किया कि वह परिणाम की तनिक भी चिन्ता न करके प्रवृत्ति पथ का अनुशरण करेगा, आसक्ति का उपासक बनेगा।

जो कुछ हो मैं न सम्हालूँगा ।
इस मधुर भार को जीवन के,
आने दो कितनी, आती हैं
बाधाएँ दम-संयम बन के ।

उसने निश्चय किया कि वह जीवन के मधुर भार (प्रेम) का तिरस्कार नहीं करेगा । वह साफ कहता है—

पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ
यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा,
मधु लहरों के टकराने से
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा

मनु ने ज्योंही यह संकल्प किया कि वह शरीर रूपी प्याले में भरे जीवन रस का पान प्रारम्भ करेगा कि उसे काम की स्पष्ट वाणी सुनाई पड़ी । जो यह थी—

प्यासा हूँ मैं अब भी प्यासा
संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ,
आया फिर भी वह चला गया
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ ।

मैं काम हूँ । मेरी पत्नी का नाम रति है । हम दोनों इस सृष्टि से भी पुराने हैं । सूक्ष्म प्रकृति के भीतर हम वासना रूप में निवास करते रहे हैं । हमारे उभार और हमारी प्रेरणा से ही पुरुष और प्रकृति का समागम हुआ और परिणाम स्वरूप सबसे पहले दो अणु उत्पन्न हुए—

हम दोनों का अस्तित्व रहा
उस आरम्भिक आवर्तन सा,
जिससे संसृति का बनता है
आकार रूप के नर्तन सा ।

हमारी प्रेरणा से जब अनादि सूक्ष्म प्रकृति अपनी जड़ता को त्याग कर विकास को प्राप्त हुई तब गृहस्थ के घर में बच्चों की तरह सृष्टि के शून्य पसार में अणुओं का खेल प्रारम्भ हुआ । मधुर वातावरण की छाया में उन अणुओं में आकर्षण का उत्कर्ष हुआ और वे आपस में मिले । इसी क्रिया से इस

सृष्टि की रचना हुई, जो मादकता से पूर्ण और अत्यन्त मोहक है। देव जाति के साथ ही हमने भी शरीर धारण किया। काम और रति हमारे उसी समय के नाम है।

> हम भूख प्यास से जाग उठे
>   आकांक्षा-तृप्ति समन्वय में,
> रति-काम बने उस रचना में
>   जो रही नित्य यौवन वय में।

प्रलय में देवताओं के साथ हमारा भी नाश हो गया। अब हमारा अस्तित्व केवल भाव-रूप में ही शेष है। देवताओं का सारा जीवन हमारी इच्छा के अनुकूल ही चलता था, किन्तु उन्होंने विलास की असंयमित अति कर दी और अपने साथ हमें भी नष्ट कर दिया। दुख है कि संयम का उन्होंने किंचित ध्यान नहीं रक्खा। अस्तु अब मैं चाहता हूँ कि आगामी मानव जाति मेरे संयम का ध्यान रक्खे और सुखी तथा शाश्वत हो—

> आरंभिक वात्या उद्गम में
>   अब प्रगति बन रहा संसृति का
> मानव की शीतल छाया में
>   ऋण शोध करूँगा निजकृत का।
> दोनों का समुचित प्रतिवर्तन
>   जीवन में शुद्ध विकास हुआ,
> प्रेरणा अधिक अब स्पष्ट हुई
>   जब विप्लव में पड़ ह्रास हुआ।

वासना और संयम के उचित तथा संतुलित उपयोग से ही जीवन का विकास सम्भव है। मेरी इच्छा है कि मानव जाति इस रहस्य का पता पा ले और अपने विकास-पथ पर अग्रसर हो। मैं केवल वैराग्य का भी प्रशंसक नहीं हूँ, क्योंकि यह संसार कर्म का रंगमंच है। इसमें उसी का अस्तित्व स्थिर रहता है जो इसके प्रति अनुराग पूर्ण होकर इसके विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। संसार में शक्ति प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है। यह तो निर्विवाद है कि इस जगत की रचना आकर्षण और प्रेम से हुई है। उसी प्रेम का सन्देश लेकर मेरी पुत्री श्रद्धा संसार में आई है—

जड़ चेतनता की गांठ वही
सुलझन है भूल सुधारों की,
वह शीतलता है शान्तिमयी
जीवन के उष्ण विचारों की।

श्रद्धा से सन्देह का नाश होता है और प्रेम का विकास। अतएव हे मनु उसे पाने की इच्छा है तो उसके योग्य बनो।

मनु के दुखी तथा अस्थिर मन में श्रद्धा के सहयोग से ही शान्ति की स्थापना हो सकती है। उसे उसी के माध्यम से कर्म तथा ज्ञान के क्षेत्र में भी सफलता मिल सकती है। इसी का संकेत काम की वाणी में भास्कर है।

मनु ने श्रद्धा को ग्रहण तो किया परन्तु अपने देव-संस्कारों के प्रभाव में काम के उपदेश को भूलकर अतिचार में प्रवृत्त हो गया। स्वभावतः श्रद्धा का विछोह अनिवार्य हो उठा वह सहसा अपनी अहम्मन्यता के वश में श्रद्धा को छोड़ कर भाग निकला। श्रद्धा को छोड़ते ही उसके सिर पर फिर चिन्ता सवार हो गई। सारस्वत प्रदेश की दुर्दशा को देखकर वह पुनः जीवन, जगत तथा व्यक्ति के विषय में अनेक प्रकार की चितना करने लगा। देवताओं से लेकर श्रद्धा तक का सारा जीवन उसके सामने चित्रपट की भांति चक्कर काटने लगा। श्रद्धा की स्मृति में उसका मन रमा नहीं कि उसे फिर काम की वाणी सुनाई पड़ी—

मनु तुम श्रद्धा को गये भूल।
उस पूर्ण आत्म विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल,
तुमने तो समझा असत विश्वजीवन धागे में रहा भूल।
जो क्षण बीते सुख साधन में उनको ही वास्तव लिया मान,
वासना तृप्ति ही स्वर्ग बनी यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान।
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की,
समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।

तुम कृतघ्न और असंयमी हो। तुम्हारे दुख का यही कारण है। तुम केवल स्वार्थी ही नहीं, अहंकारी तथा अहंवादी हो। तुमने संसार को नश्वर मानकर उसका उपभोग मात्र करना चाहा है। भोग से बढ़कर संयम के सुख की तुमने कल्पना ही नहीं की। केवल वासना तृप्ति ही तुम्हारे सुख की सीमा बन गई। अतएव तुम्हारे लिए सुख और शान्ति की अब कोई सम्भावना बाकी नहीं है। श्रद्धा ने तुमको अपना छल हीन एवं प्रेम पूर्ण हृदय दे दिया था, जो जीवन

की वास्तविक कसौटी था, परन्तु तुमने कभी उसके चेतन हृदय को पहचानना नहीं चाहा केवल उसके जड़ शरीर के प्रेमी बने रहे। दुख है कि तुमने सुन्दरता के समुद्र में अमृत को छोड़कर केवल विष का प्याला भरा। अपनी दुर्बलताओं तथा कमियों को तुमने कभी नहीं समझा। श्रद्धा के सहयोग से तुम देव सृष्टि की क्षति पूर्ति कर सकते थे, परन्तु तुमने उसे छोड़कर अपने विकास का पथ बन्द कर दिया। तुमने यह नहीं समझा कि जिस प्रकार छोटी सी नाव के द्वारा अगाध तथा उत्ताल तरंगाघात से आलोड़ित सागर पार करना सम्भव नहीं है उसी प्रकार तुच्छ वासना तथा स्वार्थ की भावना से मन रूपी सागर का पार करना असम्भव है।

तुम अपने एकान्त अहं की तृप्ति तथा मनमानी उच्छृंखलता के लिए अपने सारे दोषों को दूसरे के सिर ढकेलना चाहते हो और इसके लिए एक नये मत का प्रतिपादन करना चाहते हो। यह सच है कि मन में परस्पर विरोधी भावों का उदय सदा से होता आया है और आगे भी होता रहेगा। शाखाओं में काँटों के साथ ही फूल खिलते हैं परन्तु यह व्यक्ति की रुचि पर निर्भर करता है कि वह फूल चुने या काँटे। आग से धुआँ और प्रकाश दोनों फैलते हैं। देव-सृष्टि के विनाश के बाद जो आग तुम्हारे प्राणों में प्रज्जवलित हुई उसमें प्रेम का प्रकाश फूटा परन्तु तुम केवल वासना रूपी धुआँ को ही अपना सके। भविष्य में प्रजा बनकर तुम जिस राज्य की स्थापना करने जा रहे हो, वह तुम्हारे लिए एक भीषण अभिशाप सिद्ध होगा, यह अनिवार्य है।

> यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि।
> द्वयता में लगी निरंतर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि,
> अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि।
> कोलाहल कलह अनंत चले, एकता नष्ट हो बढ़े भेद,
> अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।
> हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता।
> पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता।
> सब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि।
> दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।

नये-नये संदेहों से दुखी तथा भयभीत होने के कारण जो अपने हैं उन्हीं का आपसी विरोध ऐसा फैलेगा कि जैसे अमावस्या का अंधकार हो। अन्त में

हरी-भरी यह प्रकृति लक्ष्मी दुख-दैन्य से कुचली जाकर सदैव पीड़ित रहेगी। मानव मात्र लोभ तथा स्वार्थ से वैसे ही भस्मीभूत रहेगा जैसे दीपक की लौ से पतंगा। परस्पर का स्नेह-व्यवहार स्वार्थ से ढँका रहेगा जो संकीर्णता तथा अस्थिरता का आकलन करेगा। भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वार्थगत सम्बन्धों की सृष्टि करता हुआ मनुष्य सदैव राग-विराग के कीचड़ में फँसा रहेगा। बुद्धि और हृदय एक दूसरे के विरोधी बनेंगे। जय-पराजय के झूले में झूलते-झूलते मनुष्यों की दयनीय दशा होगी।

मनुष्य के भीतर जो अनंत शक्ति छिपी है वह अब सीमित और कुंठित हो जायगी। भेद-भाव का प्रचार तथा प्रसार बढ़ जायगा। अहंभाव की अपूर्णता के कारण अत्यन्त आसक्ति का शिकार बना मनुष्य अपने को ही सर्वस्व मान बैठेगा। कला के क्षेत्र में भी अहं की उद्भावना होगी और काव्य में तुकबन्दियों को महत्व मिलने लगेगा। सुन्दर ललित कलाएँ उत्थान न पा सकेंगी।

सारा जीवन बन जाय युद्ध।
उस रक्त अग्नि की वर्षा में बह जाय सभी जो भाव शुद्ध,
अपनी शंकाओं से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध।
अपने को आवृत किए रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप,
वसुधा के समतल पर उन्नत चलता फिरता हो दंभस्तूप।
श्रद्धा इस संसृति की रहस्य व्यापक विशुद्ध विश्वासमयी,
सब कुछ देकर नव निधि अपनी तुम से ही तो वह छली गई।
हो वर्तमान से वंचित तुम अपने भविष्य में रहो रुद्ध,
सारा प्रपंच ही हो अशुद्ध।

तथा—

तुम जरा मरण में चिर अशांत।
जिसको अब तक समझे थे सब जीवन में परिवर्तन अनंत,
अमरत्व वही अब भूलेगा तुम व्याकुल उसको कहो अंत।
दुखमय चिर चिंतन के प्रतीक। श्रद्धा वंचक बन कर अधीर,
मानव संतति ग्रह रश्मि रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर।
कल्याण भूमि यह लोक यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा,

अतिचारी मिथ्या मान इसे परलोक वंचना से भर जा।
आशाओं में अपने निराश निज बुद्धि विभव से रहे भ्रान्त,
वह चलता रहे सदैव श्रान्त।

श्रद्धा को छोड़कर केवल बुद्धि बल से काम लेने के कारण मानव पेड़ से गिरे पत्ते की भाँति सदा भटकता रहेगा। उसे कभी सुख-शान्ति नहीं मिलेगी। इसके लिए उसे संचारिणी शक्ति श्रद्धा का अमल आशय ग्रहण करना पड़ेगा। विकास तथा विज्ञान की इस स्थिति पर पहुँच कर यदि मनुष्य काम की वाणी का वास्तविक अर्थ न समझ सका और वासना तथा संयम एवं हृदय तथा बुद्धि का संतुलित प्रयोग न कर सका तो मानवता का उद्धार होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

आश्चर्य है कि काम के सभी आदिशाप आज की मानवता को भोगने पड़ रहे हैं। तो फिर उसमें सृष्टि की रहस्य श्रद्धा का निश्चय ही अभाव है। और अपने पथ को विकासशील एवं सुख सम्पन्न बनाने के लिए मानवता को श्रद्धा की शरण लेनी पड़ेगी, यह भी निश्चित है।

९

वर्तमान युग को कामायनी का सन्देश

'कामायनी' प्रसाद की काव्य-शक्ति की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति । है इस कृति में प्रसाद अपने मनन-चिंतन, अध्ययन-अनुभूति, कल्पना और कलात्मक शिल्प की चरम प्रौढ़ता पर प्रतिष्ठित हैं ।

श्रद्धा के मुख से कवि ने कामायनी के मूल उद्देश्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार कराया है—

> चेतना का सुन्दर इतिहास, अखिल मानव भावों का सत्य;
> विश्व के हृदय पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य !
> ... ...
> शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
> समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय !

देवताओं की सृष्टि भोगवादी होने के कारण प्रायः जड़वत थी । श्रद्धा मनु से जड़ सृष्टि में चेतना के मेल का संकेत करती है । उसकी मान्यता है कि भाव विकास का ध्यान रखकर ही मानव जीवन में विजयी और सुखी हो सकता है । जैसे बिखरे विद्युत्कण एकत्र होकर आश्चर्यजनक कार्य करने में सक्षम होते हैं, उसी प्रकार यदि मनुष्य पारस्परिक जीवन-व्यवहार में संवेदनशीलता, सहृदयता और आध्यात्मिक समता का सम्बल ग्रहण करके आगे बढ़े तो उसकी विजय

निश्चित है। वस्तुतः यही सांस्कृतिक समात्मवाद 'कामायनी' का प्रमुख सन्देश और प्रतिपाद्य है।

स्पष्ट है कि कामायनी में जिस सांस्कृतिक चेतना और आध्यात्मिक भाव-योजना का उन्मेष हुआ है और जिन समस्याओं को लेकर उसका सृजन हुआ है, वह किसी एक ही देश और काल में सीमित न होकर शाश्वत समस्याओं का एक ऐसा समाधान है, जो अपने में पूर्ण एवं अद्वितीय होने के कारण सभी देशों और कालों के लिए उपयुक्त है।

'कामायनी' में समन्वय और साम्य से सधे जिस समात्मभाव का प्रतिपादन किया गया है वह भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। प्राचीन कथावस्तु के क्षीण सूत्रों से प्रसाद ने मानव-विकास की गाथा को जिस प्रकार गुम्फित किया है वह मानव मन की प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक वृत्तियों के क्रम-विकास की तात्विक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने में सहज ही सफल है। मनु, श्रद्धा, इड़ा और मानव की कथा, आख्यान की गरिमा के साथ मानवीय चेतना, भाव, बुद्धि तथा समन्वय के सिद्धान्त का युगानुरूप सन्देश देते हुये युग-युग के पुरुषार्थों की भी अभिव्यक्ति करती है।

भारतीय साहित्य के इतिहास में प्राचीन काल से लेकर अब तक अनेक समन्वय हुये हैं, किन्तु कामायनी में समन्वय के मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर मानवीय इच्छा, क्रिया और ज्ञान के साधनों और शक्तियों का जैसा क्रियात्मक समन्वय प्रसाद ने प्रतिपादित किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

आज भौतिक विज्ञानियों का एक ऐसा सम्प्रदाय बन गया है जो प्रकृति और अध्यात्म के समन्वय का परिहास उड़ाता है और समात्म भाव को कूड़ा-करकट कहकर उपेक्षित करता है। वह इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि मनुष्य देह में सजीव और सचेतन होकर प्रकृति अपनी जड़ सीमाओं से ऊपर उठकर अध्यात्म से समन्वित हो गयी है। जहाँ उसके रूप, आकार और कुछ क्रियाओं में प्रकृति का परिच्छेदमूलक लक्षण भी वर्तमान है, वहाँ दूसरी ओर इन्द्रियाँ और मस्तिष्क के रूप में चेतना के साथ सहयोग की दिशा में भी उसका उच्चतम उत्कर्ष हुआ है। वस्तुतः मनुष्य की देह में प्रकृति आत्मा को साकार करने की चेष्टा में व्यस्त है। आत्मा और प्रकृति का सम्मेलन होने के कारण मनुष्य की सत्ता में विरोध के बीज निहित हैं, परन्तु इस विरोध में भी एक नैसर्गिक संगति है और इस संगति को पूर्ण से पूर्णतम बनाने की मनुष्य में क्षमता और सम्भावना है। इसी संगति की समृद्धि ही प्रकृति और अध्यात्म के

समन्वय का प्रमुख आधार है। पृथकत्व और परिच्छेद प्रकृति का रूप है तो संगति और समात्मभाव चेतना का लक्षण है। सामाजिक सम्बन्धों में इसी आत्मीयता तथा एकात्मता का अनुभव मनुष्य का विशेषाधिकार है।

व्यक्ति मानव को प्राकृतिक वस्तुओं के समान ही पृथक और परिच्छिन्न ग्रहण करके बौद्धिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने मनुष्य के साथ अन्याय तो करता ही है, साथ ही जीवन और जगत् के सामान्य सत्य को भी भ्रान्त बनाता है। प्रकृति का पृथकत्व जब मानवीय सम्बन्धों में विरोध बन जाता है तभी अहंकार का उग्र रूप प्रकट होता है। बाह्य होते हुये भी यह विरोध एक आन्तरिक विषमता उत्पन्न कर देता है। इसके विपरीत परस्पर स्नेह और सद्भाव से एक संगति और सामाजिकता का उन्मेष होता है। इसी का परिणाम आन्तरिक सामंजस्य है।

प्रसाद ने कामायनी के प्रारम्भ में ही कहा है—

> नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन,
> एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन !

अद्वैत के इस संकेत का आशय यही है कि प्राकृतिक सत्ता और विचार प्रणाली का भेद-मूलक रूप जीवन और चेतना के क्षेत्र में मान्य नहीं हो सकता। मानवीय सम्बन्धों के समात्मभाव का रूप एकत्व और अनेकत्व के नियमों से अतीत है, वह दोनों का सामंजस्य है। कामायनी का लक्ष्य और सन्देश यही सामंजस्य है। बाह्य और आन्तरिक संगति से सम्पन्न यह सामंजस्य जीवन को सफल और सार्थक बनाता है।

प्राकृतिक संवेदना और आत्मिक चेतना के सामंजस्यपूर्ण शिखर से ही रस का स्रोत फूटता है और कामायनी इसी रस की गंगा है। रस का वास्तविक स्वरूप सामाजिक तथा सामूहिक समात्म भाव है, जिसे अनुभूति, स्वानुभूति, सहानुभूति, समानुभूति में प्रवाहित करते हुये कवि समात्मानुभूति के धरातल पर प्रतिष्ठित करता है—

> समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,
> चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।

इसी अखंड समग्रता में जीवन के आनन्द की उपलब्धि कामायनी की चरम विशेषता है। आनन्द का काव्यात्मक रूप शांतरस है, कामायनी में इसी का परिपाक है। आनन्द ही इसकी चरम सिद्धि है। कहने की आवश्यकता

कि आन्तरिक अनुभूति में जो रस है, पारस्परिक अभिव्यक्ति मे वही आनंद है। कामायनी इसी आनन्द के आकलन का संवाद देती है।

सामंजस्य के माध्यम से आनंद की उपलब्धि के पश्चात् कामायनी में हमें आत्मदान की प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिलती है। मनु को उदास तथा खिन्न देख कर श्रद्धा करुणा भरे शब्दों में इस प्रकार मुखरित हो उठती है—

समर्पण लो सेवा का भार सजल संसृति का यह पतवार!
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पदतल में विगत विकार!
दया, माया ममता लो आज मधुरिमा लो अगाध विश्वास
हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ तुम्हारे लिये खुला है पास!

जिस प्रकार सामंजस्य की अभिव्यक्ति सुन्दरम् का स्वरूप है उसी प्रकार शिवम् का स्वरूप आत्मदान है। अभिव्यक्ति यदि चेतना का आमंत्रण है तो आत्मदान उसका अनुग्रह। आत्मदान अन्यों की भाव-सम्पत्ति में अपनी चेतना की विभूति का योग देकर अनुगृहीत होता है और इस आत्मदान का सुफल सृजनात्मक सत्य होता है। उल्लास इस सृजन का सचेतन वितरण या वृद्धि है—

मांसल सी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी
उस रासलास में विह्वल थी हँसती सी कल्याणी!

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कामायनी' मानवीय संस्कृति और साहित्य के सनातन आधार सत्य, शिव तथा सुन्दर के सम्यक् संगम से काव्य का एक ऐसा तीर्थ स्थापित करने में सफल हुई है जो सामयिक और शाश्वत की परस्पर सापेक्षता का केन्द्र स्थल है।

बौद्धिक भौतिक विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप अपने युग के संघर्ष, वैषम्य, शोषण, हिंसा, कष्ट, अन्याय तथा प्रतारणा आदि को देखकर प्रसाद ने बुद्धि के इस भयंकर अतिवाद को दूर करने के लिए हृदय तत्व अथवा भावतत्व की स्थापना के लिए ही 'कामायनी' की रचना की है। प्रसाद में वर्तमान सापेक्ष्य दृष्टि से अतीत को देखने और वर्तमान तथा भूत में जन्य-जनक सम्बन्ध स्थापित करने की अद्भुत क्षमता थी। यदि उन्होंने अपने वर्तमान युग से रागात्मक सम्बन्ध का निर्वाह न किया होता तो उन्होंने कामायनी में अतीत वृत्तों, पात्रों तथा परिस्थितियों को लेकर अपने युग की समस्याओं के समाधान

का प्रयत्न न किया होता। उनकी इसी विशेषता के कारण कामायनी, अखिल मानव भावों के सत्य का उद्घोष है।

वस्तुतः यह निश्चत है कि श्रद्धा के नितान्त अभाव के कारण यदि प्रसाद युग में अशान्ति, युद्ध, उद्वेग से मानवता हाहाकार न कर उठती तो श्रद्धा को महत्व देने वाली कामायनी की रचना शायद ही होती। प्रसाद ने देखा कि बुद्धिबल से आविष्कृत यंत्रों तथा मशीनों द्वारा मानव भौतिक दृष्टि से सम्पन्न तथा एक दूसरे से निकटतम होने के साथ ही हृदय से नितान्त दूर और विपन्न है। हृदय, श्रद्धा, अध्यात्म के अभाव में वह अपने परम साध्य आनंद से वंचित है, फलतः आनन्दोपलब्धि की ओर मनुष्य को उन्मुख करना प्रसाद ने अपना परम धर्म समझा और 'कामायनी' में आनंदवाद की प्रतिष्ठा की। इसके लिए, उन्हें अव्यावहारिक, रूढ़िग्रस्त भारतीय संस्कृति की व्यावहारिक, वैज्ञानिक तथा विकासोन्मुखी व्याख्या करनी पड़ी, जिसमें उन्होंने नारी-स्वातंत्र्य, निरंकुश शासन के प्रति विद्रोह, हृदय और बुद्धि के संतुलन पर प्रकाश डालते हुये मानव विकास का पथ प्रशस्त करने की चेष्टा की और साफ कह दिया—

'उसे मानते नियम चल रहा जिससे जीवन।'

वास्तव में नियम, धर्म तथा संस्कृति जीवन के विकास के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। भौतिक सभ्यता की उन्नति और मानवीय आदर्शों की अवनति का चित्रण सारस्वत प्रदेश के सन्दर्भ में किया गया है। यंत्रों और शस्त्रों के आविष्कार की शक्ति से मानव एक ऐसा खेल खेल रहा है, जिसमें प्रतिदिन भीषण जन-संहार होता है और सामूहिक बलि का एक निराला पथ ही निकल गया है। परिणामतः इससे न तो संसार का पूंजीपति और शासक वर्ग स्वयं सुख से जी रहा, न साधारण जनता को ही सुख से जीने दे रहा है।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि कामायनी की प्रायः घटनायें, आधुनिक युग की समस्याओं की ओर संकेत करती हुईं, उनके समाधान का उपाय निश्चित करती जान पड़ती हैं। अन्त में विलासी, विकृतिपूर्ण आडम्बर से भरी नागरिक सभ्यता की अपेक्षा ग्रामीण अथवा आश्रमी सभ्यता की महत्ता स्थापित करने के लिए प्रसाद ने मनु तथा श्रद्धा को कैलास यात्रा के लिए प्रस्तुत किया है। इस प्रकार वर्ण, आश्रम, तीर्थ, नारी, धर्म, राजा-प्रजा के कर्त्तव्य, सबके सह-अस्तित्व और सहानुभूति की अनिवार्यता एवं अधिकार आदि की वैज्ञानिक व्याख्या के साथ मानव जीवन में भौतिकता तथा आध्यात्मिकता के समन्वय का आलकन करते

हुए भारतीय समात्मभाव की परिणति में कामायनी की समाप्ति होती है। भौतिक साम्यवाद तथा सांस्कृतिक आत्मवाद के संयोग से भावी मानवता का कल्याण, इड़ा तथा मानव के मधुर मिलन से उत्पन्न शक्ति, समता, एकता, स्वतन्त्रता तथा आनंद प्राप्ति की सिद्धि से प्रदर्शित किया गया है। आधुनिक युग के लिए 'कामायनी' का सबसे बड़ा सन्देश भारतीय संस्कृति के हृदयवादी आध्यात्म तथा पश्चिमीय बुद्धिवादी संस्कृति के विज्ञान का समन्वय है, जिससे धर्म और शक्ति, हृदय और बुद्धि, प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग, भौतिक और आध्यात्मिक तथा ग्राम्य और नागरिक सभ्यता का संतुलन संरक्षित रहकर मानवता के विकास का आधार बन सकता है—

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता!

यही विश्वमैत्री, विश्वप्रेम कामायनी का सन्देश है और कामायनी—श्रद्धा उसका माध्यम या मूलाधार है। भारतीय संस्कृति का यह उद्घोष 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' कामायनी में पूर्णतः प्रमाणित किया गया है।

१०

श्रद्धा-परमानन्द की स्रोतस्विनी

जीवन का संघर्ष शांत होने के वाद श्रद्धा और मनु हिमालय की ओर चल पड़े। हिमालय पर चढ़ते-चढ़ते वे एक ऐसी ऊँचाई में पहुँच गये, जहाँ से पहाड़ के अनेक भीषण, आतंककारी तथा रम्य एवं पुलकप्रद दृश्यों की परस्पर विरोधी उपस्थिति मनु के मन का द्वंद्व वनकर थकाने लगी। मनु ने चारों ओर आँख दौड़ायी और आकाश को छूती हुई चोटियों की दुर्गमता का अनुमान कर पीछे लौट चलने की सलाह दी—"अपने पीछे छूटे हुए आत्मीय जनों का मुझे स्मरण हो रहा है। अभी मैं इतना कठोर नहीं हो पाया कि, अपनों को सपनों की तरह भूल जाऊँ।"

श्रद्धा ने मुस्कराकर उत्तर दिया—"लौटने की वात तो वहुत पीछे रह गयी, अव लौटना सम्भव नहीं। रह गयी थकान, तो तनिक साहस से काम लो। थोड़ा और वढ़ो, कुछ देर पश्चात् कोई-न-कोई विश्राम-स्थल अवश्य ही मिलेगा।"

वात करते, चलते वे सहसा एक समतल तथा सुन्दर स्थान में पहुँच गये। उनके साथ ही संध्या भी आकाश से नीचे उतर आयी। कुछ आश्वस्त होकर मनु ने ज्योंही ऊपर आँख उठायी कि, महाशून्य में तीन गोलक दिखायी पड़े, जो अपने अलग-अलग रंगों में जगमगा रहे थे। अपनी सहज उत्सुकताओं को शांत करने के लिए मनु ने प्रश्न किया—"श्रद्धा! उधर देखो, ये नवीन ग्रह कौन-से हैं?"

श्रद्धा ने गम्भीरता के साथ वताना प्रारम्भ किया—"ऊषा की रंगीनी लिए

हुए भारतीय समात्मभाव की परिणति में कामायनी की समाप्ति होती है। भौतिक साम्यवाद तथा सांस्कृतिक आत्मवाद के संयोग से भावी मानवता का कल्याण, इड़ा तथा मानव के मधुर मिलन से उत्पन्न शक्ति, समता, एकता, स्वतन्त्रता तथा आनंद प्राप्ति की सिद्धि से प्रदर्शित किया गया है। आधुनिक युग के लिए 'कामायनी' का सबसे बड़ा सन्देश भारतीय संस्कृति के हृदयवादी आध्यात्म तथा पश्चिमीय बुद्धिवादी संस्कृति के विज्ञान का समन्वय है, जिससे धर्म और शक्ति, हृदय और बुद्धि, प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग, भौतिक और आध्यात्मिक तथा ग्राम्य और नागरिक सभ्यता का संतुलन संरक्षित रहकर मानवता के विकास का आधार बन सकता है—

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे ! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता !

यही विश्वमैत्री, विश्वप्रेम कामायनी का सन्देश है और कामायनी—श्रद्धा उसका माध्यम या मूलाधार है। भारतीय संस्कृति का यह उद्घोष 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' कामायनी में पूर्णतः प्रमाणित किया गया है।

१०

श्रद्धा-परमानन्द की स्रोतस्विनी

जीवन का संघर्ष शांत होने के बाद श्रद्धा और मनु हिमालय की ओर चल पड़े। हिमालय पर चढ़ते-चढ़ते वे एक ऐसी ऊँचाई में पहुँच गये, जहाँ से पहाड़ के अनेक भीषण, आतंककारी तथा रम्य एवं पुलकप्रद दृश्यों की परस्पर विरोधी उपस्थिति मनु के मन का द्वंद्व बनकर थकाने लगी। मनु ने चारों ओर आँख दौड़ायी और आकाश को छूती हुई चोटियों की दुर्गमता का अनुमान कर पीछे लौट चलने की सलाह दी—"अपने पीछे छूटे हुए आत्मीय जनों का मुझे स्मरण हो रहा है। अभी मैं इतना कठोर नहीं हो पाया कि, अपनों को सपनों की तरह भूल जाऊँ।"

श्रद्धा ने मुस्कराकर उत्तर दिया—"लौटने की बात तो बहुत पीछे रह गयी, अब लौटना सम्भव नहीं। रह गयी थकान, तो तनिक साहस से काम लो। थोड़ा और बढ़ो, कुछ देर पश्चात् कोई-न-कोई विश्राम-स्थल अवश्य ही मिलेगा।"

बात करते, चलते वे सहसा एक समतल तथा सुन्दर स्थान में पहुँच गये। उनके साथ ही संध्या भी आकाश से नीचे उतर आयी। कुछ आश्वस्त होकर मनु ने ज्योंही ऊपर आँख उठायी कि, महाशून्य में तीन गोलक दिखायी पड़े, जो अपने अलग-अलग रंगों में जगमगा रहे थे। अपनी सहज उत्सुकताओं को शांत करने के लिए मनु ने प्रश्न किया—"श्रद्धा! उधर देखो, ये नवीन ग्रह कौन-से हैं?"

श्रद्धा ने गम्भीरता के साथ बताना प्रारम्भ किया—"ऊषा की रंगीनी लिए

हुए जो यह लाल गोलक है, वह इच्छालोक है। इसमें मनोभावों की प्रतिमाएँ निवास करती हैं। यह केवल कांति से निर्मित सूक्ष्म देहधारी है। इसका अस्तित्व छायामय है। इसमें शब्द, रस, रूप, स्पर्श तथा गंध की सूक्ष्म पुतलियाँ सुंदर तथा रंगमयी तितलियों की भाँत इधर-उधर थिरकती रहती हैं। यहाँ की आदि शासिका माया रानी है। मोह के जाल में जीवों को फँसाना उसकी चिरपरिचित शासन-प्रणाली है। इसी कारण इस लोक को रस से प्लावित किया जाता है। यह वसंत तथा पतझड़ दोनों का जनक है। यहाँ अमृत के पास ही विष भी रहता है, सुख और दुख एक ही डोर में बँधे रहते हैं। इसी द्विविधा के कारण संघर्ष-जनित आग प्रज्ज्वलित होता है और अपने ताप से विभिन्न स्वभावों को ढालता है। भाव से स्वभाव बनाता है। यहाँ माया-चक्र बराबर चलता ही रहता है।"

इच्छालोक का मनमाना विहार करने वाले मनु ने तुरंत अनुमोदन किया कि वास्तव में यह लोक बहुत ही आकर्षक तथा सुन्दर है। फिर एक नया प्रश्न सामने रखा—"यह श्यामवर्ण वाला दूसरा गोलक कौन-सा लोक है?"

श्रद्धा बोली—"यह श्याम वर्ण का गोलक कर्मलोक है। यह अंधकार के समान धुंधला है, पर सूक्ष्म न होकर ठोस है। इस कारण इसके सम्पूर्ण रहस्यों का जानना सम्भव नहीं। इस लोक के प्रत्येक कर्म के पीछे किसी-न-किसी इच्छा का बीज छिपा रहता है। कर्म में इच्छा आकार धारण करती है। यहाँ के प्राणी इस निरंतर चलते रहने वाले कर्म के ऐसे दास बन गये हैं कि उन्हें मुक्ति नहीं। भाव-लोक के प्राणी यहाँ अपने सुख को दुःख से बदल लेते हैं; क्योंकि इनका स्थूल शरीर किसी-न-किसी कर्म का सहारा लेकर ही जीवित रहना चाहता है। वस्तुतः इच्छालोक की बातें, मान्यताएँ यहाँ दंड-स्वरूप सिद्ध होती हैं। इच्छा-मात्र से कर्म-लोक की लीला नहीं चलती। यह लोक कोलाहलमय है, यहाँ सभी कराहते रहते हैं। यहाँ पंचभूतों की स्थूल उपासना होती है। अपने भावों को ठोस रूप में ग्रहण करने की इच्छा से यहाँ के प्राणी अपनी सारी सूक्ष्मता को खो चुके हैं। यहाँ कभी किसी शासक की विजय-घोषणा होती है, तो कभी किसी की। यहाँ कर्म-चक्र बराबर चलता रहता है।"

मनु ने टोका—"बस, रहने दो, यह लोक तो अत्यंत भयंकर है। सामने जो श्वेत वर्ण का लोक है, वह कैसा है? देखने में तो चाँदी के ढेर-जैसा दिखायी पड़ता है!"

इस बार श्रद्धा ने प्रियतम के  ी सरसता के साथ

बताया—"यह श्वेत वर्ण गोलक ज्ञान-लोक है। यहाँ के निवासी सुख-दुख से उदासीन हैं। यहाँ कर्मों का फल बड़ी कठोरता से दिया जाता है। यहाँ विवेक-बुद्धि का प्राधान्य है। चूँकि बुद्धि कभी तृप्त नहीं होती, इसलिए जीवन की सारी सिद्धियाँ भी यहाँ नीरस पड़ने लगती हैं। अपनी-अपनी सीमित बुद्धि का पात्र लेकर रस की केवल कुछ बूँदों वाले निर्झर से जीवन का पूर्ण रस माँगने में यहाँ के प्राणी अपने को अजर-अमर समझकर तुले रहते हैं। यहाँ बुद्धिचक्र बराबर चलता रहता है, भावुकता का विघ्न अक्षम्य माना जाता है। मधुमक्खियों की तरह ये जीवन-रस का संचयन करते हैं, उपभोग नहीं करते!

"यहाँ जीवन-रस अछूता पड़ा रहता है। यद्यपि इस त्याग से ये लोग जीवन में शांति की ही स्थापना करना चाहते हैं, तथापि ये एक बड़ी अशांति का कारण बनते हैं। कारण कि, ये जीवन को सुखमय, सुंदर तथा रसमय बनाना—जो मानव-जीवन का चरम ध्येय है—ठीक नहीं मानते, उल्टे जीवन से विरक्त होने का दम्भ करते हैं। उन इच्छाओं तथा संकल्पों को, जो मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक रूप से उठते हैं, ये झूठा तथा असत् कहकर ज्ञान का घातक बतलाते हैं। यहाँ ज्ञान का शुष्क चक्र बराबर चलता रहता है।"

मनु को सजग करते हुए श्रद्धा ने प्रश्न किया—"तुमने ध्यान से इन तीनों लोकों को देखा? यही तीनों त्रिभुवन कहलाते हैं। अपने भिन्न-भिन्न सुख-दुख को लेकर ये अपनी सीमित सीमा में बँधे हैं और एक-दूसरे से बहुत दूर हैं। तुमने देखा, ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया में कितनी भिन्नता है? प्राणियों के जीवन की असफलता का प्रधान कारण यही है कि उनकी इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान में कोई सामंजस्य नहीं है।"

इतना कहकर श्रद्धा हँस पड़ी कि एक दिव्य आलोक-रेखा से तीनों लोक मिल गये और समान रूप से दमक उठे। अस्तु, इच्छा, क्रिया और ज्ञान का सामंजस्य, जीवन में श्रद्धा के ही माध्यम से हो सकता है और केवल सामंजस्य से ही अखिल विश्व-जीवन में चिर सुख तथा शांति की अवतारणा हो सकती है, अन्यथा किसी हालत में नहीं!

११

निराला का प्रारम्भिक-काव्य

सभ्यता और शिक्षा के विकास-क्रम से मनुष्य 'अहम्' की संकुचित भावनाओं को त्याग कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के व्यापक सिद्धान्त के प्रतिपादन की ओर अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रीभूत करता है। जीवन के विविध अवयवों के सम्यक अध्ययन के पश्चात उसे इस तथ्य का पूर्णरूपेण ज्ञान हो जाता है कि जीवन का एकमात्र उद्देश्य उदर पूर्ति ही नहीं किन्तु 'कुछ और' भी है। इसी 'कुछ और' की ओर मनुष्य द्रुत गति से अग्रसर होता है, किन्तु अनवरत परिश्रम तथा चेष्टा के पश्चात भी इसे इस 'कुछ और' की एकमात्र धुँधली अस्पष्ट-सी रेखा ही क्षितिज के एक कोने में दिखाई पड़ती है। अपनी असफलता तथा असमर्थता से विवश होकर मनुष्य अपने हृदय में कुढ़-कुढ़कर व्यथा-सागर की उत्तप्त तरंगों में तरंगित होने लगता है। जब वह विवशता की सीमा पर पहुँच जाता है, तब अपने भावों को, भाषा का आश्रय लेकर, प्रकाश में लाता है। इन्हीं हृदय स्थिति भावों की अभिव्यंजना ही साहित्य है।

संसार की प्रत्येक भाषा में साहित्य का यही आदर्श माना गया है। परन्तु इस प्रकृति-सौन्दर्य प्रधान पुरातन भारत की देश-गत और जाति-गत विशेषताओं ने इस आदर्श में जिस अपूर्व सौरभ का संचार किया है, वह वास्तव में अलौकिक है। आदिकाल से ही भारत के कवि प्रकृति और तज्जनित भावों तथा विचारों को अपनी राग-रागिनियों में मिश्रित करते आये हैं। सच तो यह है कि भारत में प्रकृति की उपेक्षा विश्व की एक असाधारण घटना-सी प्रतीत होती होगी। इस प्राकृतिक सुषमा में उस अलौकिक विधायक का प्रतिबिम्ब

प्रत्येक हृदय को दृष्टिगोचर होता है और फलस्वरूप मनुष्य विहग-बालिकाओं की तरह इस 'रवि शशि पोषित' पृथ्वी से ऊपर उड़कर उसके मूल स्थान की ओर जाने की आकांक्षा करता है और इस नैसर्गिक भावना की विशेष प्रबलता के कारण ही भारतीय-साहित्य में अध्यात्मिक भावों की अत्याधिक प्रचुरता है। भारतीय साहित्य की इन्हीं विशेषताओं का आश्रय ग्रहण कर हमारे कलाकार अपनी सरस और सुन्दर वाणी में अपना सन्देश सुनाते आये हैं।

हिन्दी-कविता के इतिहास में भी हम इसी तथ्य का दर्शन करते हैं। आदि-काल से वर्तमान काल तक हिन्दी कविता की जो परम्परा चली, उसमें इन विशेषताओं के प्रचुरता की कमी नहीं। वीर गाथा-काल, भक्ति-काल और रीति-काल—तीनों युगों में हमारे कवि 'गायन्ति देवाः किलगीतिकानि' वाले भारतवर्ष के आदर्श को विभिन्न आवरणों में सुरक्षित रखते आये हैं।

> जग को ज्योतिर्मय कर दो।
> प्रिय कोमल पद-गामिनी मन्द उतर,
> जीवन मृत तरु तृण गुल्मों की पृथ्वी पर,
> हँस-हँस निज पथ आलोकित कर,
> नूतन जीवन भर दो ।

इस गीत के प्रकृति-सौन्दर्य ने मुझे आत्म विभोर कर दिया था और अपने प्रणेता की ओर आकर्षित भी। मस्तिष्क की अत्याधिक निर्बलता के कारण तब मैंने इस गीत-प्रणेता को समझने में अपने को असमर्थ पाया था, लेकिन बहुत दिनों पश्चात मुझे कवि की उपर्युक्त पंक्तियों में केवल आनंद ही नहीं मिलता था प्रत्युत कवि के कवित्व का सार तथ्य भी इसमें निहित-सा दृष्टिगोचर होता रहा।

श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने अपने आधुनिक-साहित्य के इतिहास में निराला जी को मस्तिष्क से अद्वैतवादी पर हृदय से भक्त तथा प्रेमवादी बताया है। मस्तिष्क का शुष्क अद्वैतवाद हृदय की सरस भावनाओं का सहयोग पाकर रहस्यवाद बन जाता है—'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रकृति का प्रकाश है जिससे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है।' आत्मा और परमात्मा का क्रम से इसमें इतना सम्बन्ध जुट जाता है कि दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता। दोनों अन्योन्याश्रित हो जाते हैं, एक की छाया दूसरे में पड़ने लगती है।

श्री रामकुमार वर्मा ने अपने कबीर के रहस्यवाद में लिखा है—"रहस्यवाद की अभिव्यक्ति तभी होती है जब आत्मा प्रेम की अमूल्य निधि लिये हुए परमात्मा में अपना विस्तार करती है।" श्री रवीन्द्र नाथ ने तो अपनी 'आवर्तन' शीर्षक कविता में परमात्मा को ही आत्मा से मिलने को उत्सुक बताया है—निराला जी भी इसी मत के पोषक प्रतीत होते हैं और उनके 'परिमल' की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में इसी के सुन्दर तथा सूक्ष्म-दर्शन तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है। परन्तु परिवर्तनशील संसार की मृग मरीचिका में उन्हें इतने से ही सन्तोष नहीं, उनका कवि प्रेम-वादी और भक्त होने के नाते भक्त बनने में ही अपना सौभाग्य समझता है और सत्य भी है, "सुरभित गुलाब के सौरभ की सफलता गुणग्राही द्वारा उपयुक्त होने में है।" निराला जी के अधिकांश गीतों में इसी भावना का प्राधान्य है। यही कारण है कि निराला जी में हम शुष्क अद्वैतवाद को नहीं पाते, किन्तु साधारणतः उनकी कविताओं में हृदय की सुकुमारता ही गोचर होती है।

निराला जी ने जीवन के विविध अवयवों पर अपना दृष्टिपात किया है और लिखा भी है, परन्तु वेदान्त उनके काव्य का श्रेष्ठ और मुख्य विषय है। निराला जी बंग-देश की शस्य-श्यामला भूमि में रहे हैं। शिशुता के स्वर्गीय दिवस उन्होंने वहीं के नारिकेल और रम्भा के कुंजों में व्यतीत किये हैं, फिर वंग देश की तत्कालीन कविता-परम्परा की इन पर भला छाप क्यों न पड़ती? श्री रामकृष्ण-मठ से स्वामी सर्वदानन्द की देख-रेख में प्रकाशित होने वाले 'समन्वय' का सम्पादन करते समय कवि की प्रतिभा का अच्छा प्रस्फुट न हुआ। यही कारण है कि निराला जी अपनी कविता में दर्शन और करुणा का अनुपम सम्मिश्रण कर देते हैं तथा वेदान्त की भी बड़ी सुन्दर छाप लगा देते हैं। उनकी शक्ति देखिए—

> चाहिए कितने तुम को हार ?
> कर मेखला मुण्ड मालाओं से—
> वन जन मन अभिरामा,
> एक बार बस और नाच तू श्यामा !
>
> ... ...
>
> तुम हो अखिल विश्व में
> या यह अखिल विश्व है तुम में

अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ तुम में भेद अनेक।

जिन लोगों को निराला जी के व्यक्तिगत-सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे मेरे इस कथन की सत्यता को स्वीकार करेंगे कि उनके जीवन की रग-रग में दार्शनिकता का पुट था। निराला जी बहुत ही भव्य और प्रिय-दर्शन तथा कोमल स्वभाव के थे। वे दर्शनशास्त्र के गम्भीर विवेचक थे। कबीर, दादू, घनानंद तथा रामतीर्थ के पश्चात हिन्दी में इस क्षेत्र में केवल इन्हीं का नाम लिया जायगा। निराला जी मस्तिष्क से अद्वैतवादी, परन्तु हृदय से सच्चे कवि थे। भिक्षुक, दीन, संध्या, यमुना आदि कविताओं में हम इनके हृदय के उत्कर्ष को स्पष्ट देख सकते हैं। वास्तव में निराला जी के दर्शन का उत्कर्ष इतना विस्तृत और उच्च है कि इन्हें कवि के अतिरिक्त दार्शनिक भी कहा जा सकता है। जब हम निराला जी की कविता कामिनी का क्रीड़ा-कलरव संध्या, उषा के गगन में सुनते हैं, उसकी बाल चापल्य अठखेलियाँ देखते हैं, तब हृदय-वल्लरी प्रस्फुटित हो उठती है—

बैठ लें कुछ देर
सरल अति स्वच्छंद
जीवन प्रात से लघु पात से
उत्थान-पतनाघात से
रह जाय चुप निर्द्वन्द।

इन पंक्तियों में निराला जी की कितनी ऊँची कला का परिचय मिलता है। कलाकार का कार्य बड़ा दुस्तर और गहन होता है। तूलिका के साथ ही साथ रंग आदि का भी ध्यान रखना पड़ता है। निराला जी ने इन पंक्तियों में जीवन की जिस दार्शनिकता की गम्भीर विवेचना की है, उसका अनुमान सहृदय पाठक सहज ही लगा सकते हैं। निराला जी भी इस संसार में मानव-जीवन 'चिर-हास अश्रुमय' मानते है। वास्तव में धूप-छाँह के इस जग में सुख दुःख दोनों का बराबर भाग है। निर्बल और निर्बोध मन सुख-दुःख की तीव्र चोट खाते हुए जीवन से उदास हो जाता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष तथ्य को भली-भाँति जानता है कि—

हाँसी खेले हरि मिले, तो कौन सहै खड़सान

नानक ने एक बार इन्ही भावों से ओत-प्रोत होकर गाया था—

जो न दुःख में दुःख नहिं माने
सुख सनेह अरु भय नहिं जाको कंचन माटी माने।
नानक लीन भयो गोविंद सो ज्यों पानी से पानी।

निराला जी को जीवन में आर्थिक संकट से लेकर मानसिक संकट तक का विषम भार झेलना पड़ा है। अतः निराशा की ओर झुकना उनका स्वाभाविक कार्य है किन्तु निराला जी दुःख के अस्तित्व को मानते हुए भी आशावादी रहे। वे पतझड़ के एक अविवेचक की तरह उद्विग्न नहीं हो उठते थे उनका वाल-वसन्त पतझड़ में ही लुप्त रहा। 'सरोज स्मृति' नामक कविता से हमारी यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है। निम्न कविता में उनकी आशा का उत्कर्ष देखिये—

अभी न होगा मेरा अन्त
अभी-अभी हीं तो आया है
मेरे वन में मृदुल वसंत

... ...

मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बंधु दिगन्त

निराला जी संसार से कभी-कभी क्षुब्ध अवश्य हो उठते थे। 'कविते' शीर्षक गीत की अन्तिम पंक्तियों में यही ध्वनि व्यंजित होती है—

तुम चलो बुलाया है उसने तुमको जल्दी उस पार

निराला जी ने प्रेम सम्बन्धी रचनायें भी की हैं, परन्तु इनके प्रेम का पयोधि सदा निस्सीम भू पर उमड़ता है और प्रेम के इस विमल मकरन्द-पान करने का स्वर्ण सौभाग्य भी अलौकिक शक्ति सम्पन्न पुरुषों को ही है। इस प्रेम की परम सार्थकता तभी है जब दोनों, आश्रय तथा आलम्बन अपने-अपने अस्तित्व का अलग अनुभव करते हुए भी एक ही रागात्मक सूत्र में गुंथ जायें। यही प्रेम की, भक्ति की चरम-सीमा है। 'तलवार की धार पै धावनो' वाला प्रेम-पथ कभी सरल और सहजगम्य हो ही नहीं सकता। कबीर को भी इसीलिए ऐसा विकट अनुभव हुआ था—

कबिरा या घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
शीश काट आगे धरे तब पहुँचे यहि माँहि॥

उसी तरह निराला जी के प्रेम पथ पर भी—

बिछे हुए थे काँटे उन गलियों में
जिनसे मैं चल कर आई
पैरों में छिद जाते जब
आह मार मैं तुम्हें याद करती तब
राह प्रीति की अपनी वही कण्टकाकीर्ण।

निराला जी की इसी प्रेमाभिव्यंजना में जिस सुन्दर और संयत शृंगार का विकास हुआ है, वह उनका अपना है। हिन्दी तो क्या, अन्य भाषा में भी ऐसे एकाध स्थल ही दीख पड़ेंगे—

निशा के उर के खुली कली
मूँद पलक प्रिय की शय्या पर
रखते ही पग उर धर-धर-धर
काँप उठी वन में तरु मर्मर
चली पवन पहिली।

संध्या में दूर नदी पर एक नौका है, उसमें एक तरुणी बैठी है, अस्ताचल-पट-आच्छादित रवि के अन्तिम किरणदान को देखिये—

ऊपर शोभित मेघ छत्र सित
नीचे अमित नील जल दोलित
ध्यान नयन-मन चिंत्य प्राण धन
किया शेष रवि ने कर अर्पण।

निराला जी की यह अपनी कला थी इसी कारण हिन्दी के सर्वोच्च कवियों में उनका स्थान है। कला के इस उत्कर्ष का निरूपण निराला जी ने पग-पग पर किया है। निराला जी एक कुशल शब्द-चित्रकार भी थे। उनकी निम्न पंक्तियों का विशेषत्व हिन्दी-काव्य साहित्य में बेजोड़ है।

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे.........धीरे...........धीरे

तिमिराञ्चल में चंचलता का नहीं कहीं आभास
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर।

'भिखारी' और 'दीन' के भी चित्रण को देखकर यह सन्देह होता है कि शायद ही कोई चित्रकार कर सके। निराला जी में हमारे काव्य-उपवन की जिस विमलश्री का विकास हुआ है वह अद्वितीय है। उनकी—'विजन-वन-वल्लरी' को कौन नहीं जानता। निराला-साहित्य हमारे काव्योपवन का कलित कोमल गुलाब है जिसके सौरभ के प्रसार से हमारे उपवन में मधुऋतु-ज्वाल फैली। उन्हीं के शब्दों में गुलाब में काँटे भी होते हैं, परन्तु गुलाब के काँटों का निरीक्षण हमारा काम नहीं है। निराला जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। वे जैसे ही उच्च-कोटि के कवि वैसे ही उच्च-कोटि के उपन्यासकार, कहानी-लेखक, दार्शनिक, समालोचक, प्रबंध लेखक भी थे। तभी तो यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि आपका जैसा प्रौढ़ मस्तिष्क आज हिन्दी में बहुत कम विद्वानों का है। चूंकि हृदय और मस्तिष्क का मधुर समन्वय ही कला का आधार है, इसीलिए निराला जी एक चतुर कलाकार थे। निराला जी का स्वास्थ्य ही उनके मानसिक और शारीरिक सौन्दर्य तथा पुष्टि का प्रत्यक्ष प्रमाण था। चाहे आज निराला जी का मधुर स्वर सुनने को भले ही न मिलता हो, परन्तु वह अति सुकुमार और मीठा था। सत् कवि का सम्मान सदैव कुछ देर से हुआ करता है क्योंकि वह इस संसार का पथ-प्रदर्शन करते हुए परलोक-मार्ग को भी खोजने का प्रयत्न करता है, इसी में उसके विचारों की विशदता और सृष्टि की व्यापकता निहित है। निराला ऐसे कविवर इस बात को जानते हैं कि केवल इस नश्वर संसार का गुणगान करना ही सत् काव्य नहीं है। सत्य काव्य में ही चिर सत्य की खोज अवश्य करनी पड़ेगी, तभी हमारा और हमारे काव्य का कल्याण होगा। निराला जी ने साहित्य में इसी अभाव पूर्ति का प्रयत्न किया। हम उनके इस महान उद्देश्य को चाहे जो समझ लें, यह हमारी गुण-ग्राहिता पर निर्भर है। परन्तु अपनी अपूर्णताओं के कारण क्या हम स्रष्टा को अपूर्ण समझ सकते हैं?

यदि हम भौतिक अभावों की वेदना से निराला जी की अध्यात्मिक विलकता न समझें तो दोष हमारा है। क्योंकि वेदों का गूढ़ा निर्गुणवाद निराला जी ने अपनी लेखनी से बहुत ही सरस, सरल और बोधगम्य बना दिया है। ऐसे चतुर दार्शनिक कवियों की हमें आवश्यकता है।

निराला जी हमारे साहित्य-संसार के एक अनूठे और मूल्यवान हीरे थे। उनसे हमारा साहित्य और देश गौरवान्वित है। निराला जी की काव्य-कला का एक अपना और ऊँचा आदर्श है। हृदय की अनुभूति का यथातथ्य-चित्रण निराला जी का ही निरालापन था। हँसी-हँसी में एक बार मुझसे कहा था—"देखते नहीं मेरे पास एक कवि की वाणी, एक कलाकार के हाथ, एक पहिलवान की छाती तथा एक फिलासफर के पैर हैं।" मैंने कहा था—"और एक सम्वेदनशील हृदय भी इसमें जोड़ दीजिये।"

१२

निराला की भारतीयता

हिन्दी साहित्याकाश में निराला जी का उदय एक नव प्रकाश के साथ हुआ। उनकी प्रतिभा की आलोक-किरण साहित्य में एक रचनात्मक क्रान्ति की सुघर सर्जना में सहायक हुई। सच तो यह है कि छायावाद का जन्म ही एक विद्रोह को लेकर हुआ, फिर 'निराला' जैसे उसके प्रवर्तक उस विद्रोह से कैसे बचते? निराला जी रचनाकाल के प्रारम्भ से ही मुक्त आत्माभिव्यंजना समर्थक रहे हैं। शुरू में जब कवि ने अपनी स्वतंत्र तान छेड़ी थी तब एक बार सारा साहित्य-संसार सिहर सा उठा था वे अमर पंक्तियाँ ये हैं—

> आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
> अर्ध विकच इस हृदय कमल में आ तू
> प्रिये! छोड़कर बंधनमय छन्दों की छोटी राह

इस कविता में निराला जी ने कविता का आवाहन अपने मनोनुकूल स्थिति में किया था। इसे पढ़ते ही मालूम होता है कि परम्परा के पाश में चिरकाल से बद्ध भावुकता जैसे एक साथ छटपटा कर अपने पूरे प्राण-प्रवेग के साथ निराला जी के कंठ में मुखर हो पड़ी थी। कवि ने भाषा बदली, छन्दों में गति और ताल के नियम से स्वतंत्रता ली तथा अन्य साहित्यिक रूढ़ियों को तोड़ा और मुक्त भावाभिव्यक्ति को अपनाया।

संसार की सभी क्रान्तियों में चाहे वे राजनीतिक हों, चाहे सामाजिक, और चाहे साहित्यिक, ऐसी कुछ न कुछ अप्रियता अवश्य रहती है, क्योंकि क्रान्ति एक

प्रक्रिया है; ऐसा परिवर्तन है जो अपने साथ संघर्ष को अवश्य ही लिये रहता है। किसी भी क्षेत्र में जब हम असत्, रूढ़ि अथवा कुरुचि और अंधकार से संघर्ष करते हैं तभी हमें व्यर्थ के बंधनों से मुक्ति मिलती है। इन्हीं बंधनों से मुक्ति का नाम शान्ति है और मानवता को इसी शाश्वत शान्ति की ओर ले जाना साहित्य का ध्येय है। क्रान्ति की अप्रियता का आघात प्रत्येक नये क्रान्तिकारी को सहना पड़ता है। यह तो सभी जानते हैं कि साहित्य में अवतीर्ण होने वाली छायावादी क्रान्ति भावना पर बड़े-बड़े आक्रमण हुए हैं, अपने को साहित्य के पुराने पंडे बतलाने वाले लोगों ने इस प्रवाह को रोकने का पूर्ण प्रयत्न किया है और इसके प्रवर्तकों पर भी अत्यधिक अप्रिय आक्षेप किये गये हैं। निराला जी को आक्षेपों का सामना सबसे अधिक करना पड़ा, सम्भवतः वे अपने क्षेत्र के सबसे बड़े क्रान्तिकारी रहे हैं। बाद में वे सभी आक्षेप निष्फल और अर्थहीन साबित हुए। 'अनामिका' की कविताओं में कुछ आभास मिलता है, 'सरोज स्मृति' जो हिन्दी साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि और आधुनिक युग की सबसे अधिक मार्मिक और दुखान्त कविता है, विशेष प्रभावोत्पादक है—

तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि-जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त
लिखता अबाध गति मुक्त छंद
पर सम्पादक गण निरानंद
वापस कर देते पढ़ सत्वर
दे एक-पंक्ति-दो में उत्तर

... ...

सोचा है नत हो बार-बार—
यह हिन्दी का स्नेहोपहार

ऊपर के कवितांश से हमें साहित्यिकों तथा सम्पादकों की दकियानूसी मनोवृत्ति का पता चलता है। निराला जी को केवल पाठकों, प्रकाशकों से ही नहीं, वरन् बहुत से सहयोगियों से भी अनेक प्रकार की उलझनें उठानी पड़ी हैं जो 'हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र' नाम की कविता से प्रकट है—

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही बसंत का अग्रदूत,
ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि।

फल सर्व श्रेष्ठ नायव चीज
या तुम बाँधकर रँगा धागा,
फल के भी उर का कटु त्याग
मेरा आलोचक एक बीज !

यह निराला जी के साहित्य में प्रथम पदार्पण की एक झाँकी है। उन्होंने जिस अगम उत्साह से तथा आत्मविश्वास और साहस से इन सब सामयिक आक्षेपों का सामना किया है और अपनी कला से भारती का भंडार भरते गये वह अद्भुत है—

हारी नहीं देख, आँखें,
परी नागरी की;
नभ कर गई पार पांखें—
परी नागरी की !
तिल नीलिमा को रहे स्नेह से भर
जग की नई ज्योति उतरी धरा पर
रंग से भरी हैं, हरी हो उठी हर
तरु की तरुण—तान शाखें;
परी नागरी की !

सच भी यही है। सौ-सौ विरोधी कटाक्षों और अविरल आघातों के होते हुए भी हिन्दी कविता-कामिनी अपनी मस्ती में आगे बढ़ती ही गई और उसी भावधारा ने, जिसका विरोध हुआ था काव्य-साहित्य को आच्छादित कर लिया है। उस युग-प्रवर्तक कवि की यही सबसे बड़ी विजय है।

प्रगति कौन नहीं चाहता ? परन्तु एक यंत्र के चलने में और चेतन प्राणों के चलने में अन्तर अवश्य रहेगा। हम भौतिक आवश्यकताओं के लिए यंत्रवत नहीं बन जायेंगे। हमारी मनुष्यता, चेतना तथा कलाप्रियता हमें वांछनीय है। हम यह मानते हैं कि उच्च कला इस जीवन और उस महाजीवन तथा पार्थिव और अपार्थिव के सुन्दर सामंजस्य में ही सफल होती है, किन्तु साथ ही उसे हम पार्थिव-प्रधान नहीं बना सकते। कवि की कला चाहे तर्क और विज्ञान की भाँति मनुष्यों को सीधा और शीघ्र लाभ न पहुँचा सके, किन्तु वह मानव-जाति के हृदय में अपना घर बना लेती है और अन्त में अपने उद्देश्य की पूर्ति करती है, क्योंकि कविवर्ग कलात्मक ढंग से, मानव जीवन को उच्च, मधुर,

सरस एवं महत्वाकांक्षी बनाता ही है। साहित्य-क्षीण युग में किसी भी सच्चे कलाकार के लिए केवल दो मार्ग होते हैं—या तो वह युग की सामयिक हुल्लड़ की भावना में पानी के किनारे के पतले कमजोर वृक्ष की भांति बह जाये या एक दृढ़ अटल वृहत् वट वृक्ष की भांति सभी सामयिक उत्पातों पर हँसता हुआ अपनी सच्ची साहित्यिक सेवा में लगा रहे। निराला जी ने अपनी महानता का ही परिचय दिया और यही कारण है कि वे अपनी काव्य-कला, भावों की शक्ति-शीलता, भावनाओं की तीव्रता और रागात्मक तत्वों की प्रधानता के साथ अपनी प्रवृत्तियों को तमाम युग की कुरूचियों से दूर रखकर एक दार्शनिक की भांति अन्तर्मुखी करके आत्मा के सूक्ष्म सौन्दर्य का साहित्य में प्रकाश फेंकते रहे हैं। तभी तो वे गर्व के साथ—सन्तोष के साथ कह सके हैं—

जैसे हम हैं वैसे ही रहें,
लिए हाथ एक दूसरे का
अतिशय सुख के सागर में बहें।
मुंदे पलक केवल देखें उर में
सुनें सब कथा परिमल सुर में
जो चाहें, कहें वे कहें!

ठीक भी है, क्योंकि कवि कल्पना और अपनी अन्तर्प्रेरणा के सहारे जड़ और चेतन में व्याप्त शुद्ध और मुक्त आनंद का दर्शन विश्व को कराता है। उसकी भावना विशुद्ध होती है, अतः उसकी कविता में सुन्दरतम् संसार रचना का स्वप्न, मानवता का चरम विकास, विश्व वैचित्र्य की रूपरेखा, कला का कमनीय कौशल एवं एक स्वर्गीय सौन्दर्य का सामान पाया जाता है। निराला जी की कविताओं में नवरस प्रवाहिनी विभिन्न धाराओं की स्वाभाविकता, संगीत की सहज और सफल सरसता, भावना तथा अनुभूति की एकता और उनके व्यक्तित्व की अनन्य स्पर्शिता साहित्य की अमर निधि है—

मेरे जीवन में हँस दी हग
वारिद—झर!
पावन परस सिहरीं,
मुक्त गंध विहरीं;
लहरीं उर से उर दे सुन्दर
तनु आलिंगन कर!

अपनापन भूला, प्राण शयन भूला,
बैठीं तुम, चितवन में संचर
छाये घन अम्बर।

निराला जी के काव्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी प्रत्येक पंक्ति अपनी एक अलग सत्ता रखती है और सभी कविताओं में कल्पना, भावना और अनुभूति के समन्वय की त्रिवेणी है। वस्तुतः उनकी कवितायें दार्शनिक एवं अध्यात्मिक तत्वों से युक्त हैं और यही उपकरण भारतीय कला का सनातन सांकेतिक चिन्ह है, इन्हीं के वल पर कवि 'मरण दृश्य' को भी इतना सरस और मर्म स्पर्शी वना सका है—

कहा जो न कहो,
विश्व सीमा हीन,
बाँधती जाती मुझे कर कर व्यथा से दीन!
कह रही हो—"दुःख की विधि—
यह तुम्हें ला दी गई नई निधि,
विहग के वे पंख वदले,
किया जल का मीन;
मुक्त अम्बर गया, अव हो,
जलधि जीवन को!

... ...

मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में
आई हुई न डरो।"

मृत्यु ही जीवन है। किन्तु जो जीव जीवन रहित मुक्त था, अर्थात् अनंत आकाश में विहार करने वाले पक्षी की भांति स्वाधीन था, उसे प्रकृति ने जीवन दान देकर क्या किया? वांध दिया। पक्षी को मछली वना दिया—स्वतंत्रता छीन ली, क्योंकि पंख होते हुए भी मछली उड़ नहीं सकती। साथ ही पानी में उसका लगाव भी विशेष वंधन स्वरूप है। आज मृत्यु से इस जीवन का छुटकारा होगा, जीव फिर मुक्त होगा—यही क्रम संसार में जीवन मरण का है। भावों की यह गहनता, कथन की यह रमणीयता कहाँ है? उनकी यह कविता प्रकृति और आत्मा के सम्बन्ध का रहस्योद्घाटन करने में अद्वितीय है। प्रत्येक भाव

की अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा होती है, उसी में वह विशेष सफल रहता है। निराला जी विशेषतः सौन्दर्य और लालित्य के कवि हैं। यथा—

वर्ष का प्रथम
पृथ्वी के उठे उरोज मंजु पर्वत निरुपम
किसलयों बँधे,
पिक भ्रमर गुंज भर मुखर प्राण
रच रहे सधे।
फिर संवार सितार लो !
शब्द के कलि दल खुलें,
गति पवन भर काँप थर थर
भीड़ भ्रमरावलि ढुलें,
गीत परिमल बहे निर्मल
फिर बहार बहार हो !

निराला जी की कुछ कवितायें कुछ अस्पष्ट सी हैं, किन्तु काव्य के प्रधान उपकरण सौन्दर्य का ही आधार अस्पष्ट है। लेकिन सर्व-साधनों के हित बनाई गई भाषा अलौकिक अभिव्यक्ति में अस्पष्ट हो तो इसमें आश्चर्य क्या ? साधारण जीवन में भी अस्पष्टता प्रिय होती है। सिंह की गरज से अधिक बादल की गरज प्रिय होती है। प्रत्यक्ष जगत की अपेक्षा कल्पना प्रसूत जगत प्रिय प्रतीत होता है। अस्तु सौन्दर्य चित्रण के कवि में अस्पष्टता अनिवार्य है, यह दोष नहीं, कला की ऊँची उड़ान का द्योतक है। कविताओं में भावों की विविधता, संकेतों की बहुरूपता और चित्रणों की सजीवता देखकर अनायास मुँह से निकल पड़ता है—

और छवि रे यह,
नूतन भी कवि रे यह—
और और छवि रे—

हमारे साहित्य में सात्विक-सृजन की अत्यन्त आवश्यकता है। पश्चात्य साहित्य के अंधानुकरण से हमारी अपनी संस्कृति क्षीण होती जा रही है। भारत जैसे अध्यात्म-प्रधान देश के लिए यह महान दुःख का विषय है। यद्यपि जड़-वाद यहाँ कभी भी अपना पूर्ण अधिकार स्थापित नहीं कर सकता, किन्तु कुछ समय के लिए क्षुद्र हृदयों को तिमिराच्छन्न तो कर ही सकता है। भारत

को अपनी श्रद्धा और आस्तिकता खोकर कुछ नहीं मिल सकता। हम भारतीयता से वंचित होकर अपना मूल रूप ही खो देंगे। अस्तु, आवश्यकता है इस बात की, तथा ऐसे साहित्य की जो हमारी अध्यात्म मूलक संस्कृति एवं प्रवत्ति को सार्वभौम बना सके।

इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर निराला जी ने 'तुलसीदास' की रचना की। मूल कथा को स्थूल सत्य स्वरूप में स्पर्शन करके उन्होंने उसको अपनी कविजनोचित कमनीय कल्पना से अनुरंजित कर दिया, जिससे उसका रूप और भी सरस तथा मनोहर बन गया है। कवि का सत्य ऐसा ही सत्य होता है, क्योंकि एक साधारण व्यक्ति केवल उसी को सत्य मानता है जो इस समय है या हो रहा है, किन्तु कवि का तो सत्य वह है जो अपने सुन्दरतम् रूप में सम्भव है। 'तुलसीदास' पढ़ते समय हमें इसी काव्यगत सत्य का स्मरण रखना होगा। यों तो कथा कलेवर को लेकर हमारे साहित्य में काव्य कृतियाँ हैं, पर यह सभी जानते हैं कि निराला जी की वाणी अभूत पूर्व थी। इसी से उनके इस कथा-काव्य-चित्रण में जिस भावना प्रणाली का तथा जिस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का तथ्य पाया जाता है, वह अन्यत्र नहीं। जीवन में मनुष्य किन-किन परिस्थितियों के संघर्ष में पड़ता है और कलाकार कैसे इस जटिल जग-जीवन से अपनी पावन प्रतिभा द्वारा एक अमर आलोकमय पथ प्राप्त करता है, इसका निदर्शन कवि ने बहुत ही उपयुक्त भाव, भावनाओं एवं ओजपूर्ण भाषा तथा हृदयग्राही वर्णन द्वारा किया है। अपनी प्राचीन गौरव-गरिमा का आह्वान शत-शत प्राण प्रवेग करने लगते हैं, क्योंकि कवि सहज ही, अपने चित्रण से हमें उस समय का स्वरूप उपस्थित कर देता है। प्रारम्भ में—

मोगद—दल बल के जलद्-यान
दर्पित-पद उन्मद-नव पठान,
हैं बहा रहे दिग्देश ज्ञान, शर खरतर;
छाया ऊपर घन अंधकार
टूटता वज्र वह दुर्निवार
नीचे प्लावन की प्रलयधार, ध्वनि हर हर !

को पढ़ते ही भारत की तत्कालीन दयनीय दशा का, मुसलमानों के नृशंस शासन का, भारतीय सभ्यता की डूबती क्षीण ज्योति का सम्पूर्ण चित्र बड़ी सफलता के

य सामने आ जाता है। प्रारम्भिक पदों को पढ़कर मालूम होता है कि वि अपनी उस समय की सभ्यता तथा भारतीयता की क्लान्ति एवं विपन्नता कल्पना मात्र से सिहर उठा है। तभी तो ऐसी अनेक उक्तिपूर्ण मर्मस्पर्शी क्तियाँ पाई जाती हैं, जिनमें सांस्कृतिक तथा दार्शनिक कवि निराला की प्रतिभा पूर्ण प्रस्फुटन पाया जाता है।

> वीरों का गढ़ वह कालिंजर
> सिंहों के लिए आज पिंजर
> लड़-लड़ जो रण-बाँकुरे, समर,
> हों शयित देश की पृथ्वी पर,
> अक्षर, निर्जर, दुर्धर्ष अमर, जगतारण
> भारत के उर के राजपूत,
> उड़ गये आज वे देवदूत
> जो रहे शेष, नृप-वेश सूत-वन्दीगण !

इसी प्रकार 'तुलसीदास' में कवि ने मानव मन के मोह एवं नाना द्वन्द्वों के घात प्रतिघात और उसके निवारण के अतिरिक्त बहुत सी सुन्दर सैद्धान्तिक बातों पर भी अपना विवेकपूर्ण विवेचन दिया है—

> बंध के बिना, वह कहाँ प्रगति ?
> गति हीन जीव को कहाँ सुरति
> रति-रहित कहाँ सुख ? केवल क्षति केवल क्षति !

संसार के किसी कवि के कवित्व का सम्बन्ध उसके अपने अन्तर्जगत से होता है। वह उसकी अन्तर भावनाओं का वाह्य रूप है किन्तु कुशल कलाकार व्यक्ति की भावनाओं का समष्टि से सामंजस्य स्थापित कर देता है और निराला जी इस कला में बहुत निपुण रहे। वन्य प्रकृति की स्वतंत्र सुषमा देखकर अपने अन्तर्जगत में उपस्थित भावों को कवि ने तुलसीदास जी के भावों का बहुत ही सुन्दर रूप से अनुमान लगाया है, और कल्पना के विकास में, शक्ति के संचाचन में तथा मानवीय भावनाओं के उत्साहित करने में वही काम किया है जो उस समय गोस्वामी जी ने किया था। नीचे पंक्तियाँ पढ़कर विदित होता है कि कवित्व केवल कल्पना-प्रसूत भावों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति ही नहीं वरन् वह समाज की शक्ति एवं रूप रेखा का उद्बोधक भी है। क्योंकि कवि का व्यक्तित्व भी तो किसी समाज विशेष में ही अपना विकास पाता है। निराला

का कवि भारतीय है, उसे अपनी संस्कृति तथा सभ्यता का गौरव है। इसीलिए वह तुलसीदास की उस समय की मनःस्थिति का इतना सफल चित्रण कर सका।

वह कर समीर ज्यों पुष्पाकुल
वन को कर जाती है व्याकुल,
हो गया चित्त कवि का त्यों तुलकर उन्मन;
वह उस शाखा का नव-विहंग
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग—रंग पर जीवन!

इसी मनःस्थिति में तुलसीदास का कवि जागरूक हो उठता है और देश की रक्षा का साधन सोचने में संलग्न हो जाता है।

कवि पर देश काल का प्रभाव अवश्य पड़ता है। हमारे भारतीय साहित्य और कला में अध्यात्मिक भावों की प्रधानता का कारण यह देश ही है, अस्तु तुलसीदास जी ने देशगत संस्कारों के ही अनुकूल सोचा—

करना होगा यह तिमिर पार—
देखना सत्य का मिहिर-द्वार—
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय—
लड़ना विरोध से द्वन्द्व-समर,
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर—
जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय।

इसी प्रकार कवि की चेतना में प्रथम प्राण का संचार हुआ और विषम वज्र द्वार तोड़ने तथा भारत श्रम हरने को प्रस्तुत हो गया कि —

जीवन के, जग के, यही तीर हैं जय के।
फिर क्या था—
संकुचित खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुख-जल
प्राची-दिगंत-उर में पुष्कल रवि-रेखा!

का पावन प्रकाश प्रज्वलित हो उठा, जो भारत निवासियों के जीवन पथ में आज भी अमर आलोक किरणों के रूप में विद्यमान है।

भाषा और साहित्य का सम्बन्ध शरीर और आत्मा का है, क्योंकि वाणी और अर्थ सदैव साथ ही चलते हैं। 'तुलसीदास' की भाषा संस्कृत-गर्भित है। इसका कारण है वह भावना तथा सांस्कृतिक उद्बोधन जिसके कारण इस भाषा का रूप स्थिर हुआ है। किसी देश की भाषा उसकी राष्ट्रीयता का पुण्य-प्रतीक है, अतः भारतीय अध्यात्म की चर्चा में अपना विशेषत्व अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इसी भाषा की आवश्यकता है। युग के साथ भाषा में भी परिवर्तन तथा परिवर्धन होता है, किन्तु परिवर्तन ही कोई निश्चित नियम नहीं है। गति के साथ स्थिति भी होनी चाहिए। भाषा में धर्म का प्रभाव स्थायी है। अस्तु 'तुलसीदास' ऐसी सांस्कृतिक कविता के लिए ऐसी ही भाषा की आवश्यकता थी जो हमारी वैदिक भावनाओं तथा भारतीयता के भावों को अपने में समाहित रख सके। फिर महाकवि तुलसीदास की प्रकृति-प्रेरित शक्तियों को तथा उनके उस समय के हृदय स्थिति भावों को व्यक्त करने के लिए केवल ऐसी ही भाषा उपयुक्त है। सच तो यह है कि भारतीय-सभ्यता एवं राष्ट्रीयता के सभी भव्य-भाव संस्कृत भाषा में ही पाये जाते हैं, अतः इस देश की मूलगत मनोवृत्ति की सफल अभिव्यक्ति भी इसी भाषा में सम्भव है।

मुक्त छंद के प्रवर्तक कवि ने 'तुलसीदास' में एक नवीन तथा शौर्यशील छंद का प्रयोग किया है; जिसका निर्वाह बड़ी सुघरता तथा कलात्मकता से किया है। इस छंद में भाषा और भाव का अनुपम सामंजस्य ही पाया है। छन्द के नपे तुले वाक्य, सहज बहाव, मन में एक अपूर्व साम्य और आनन्द की उत्पत्ति कर देते हैं। सम्भव है तुलसीदास की रमणीयता मुक्त छंद अथवा किसी अन्य छंद में इतनी प्रभावपूर्ण न हो पाती। निराला जी की समूची भारतीयता का दिग्दर्शन 'तुलसीदास' में होता है।

१३

छायायुग का अग्रदूत निराला

छायावाद is the revolutionary weather cock
of the modern literature—निराला

महाप्राण निराला का यह मन्तव्य उनके युग छायावाद के लिए जितना उपयुक्त है उतना ही उनके काव्य और व्यक्तित्व के लिए भी, इसमें सन्देह नहीं ?

हिन्दी कविता का अध्ययन करते-करते जब सहृदय-काव्य प्रेमी छायावाद युग में प्रवेश करता है तब उसे एक नितान्त अभिनव काव्य के दर्शन होते हैं। यह काव्य अपनी रूप दक्षता के कारण उसे शीघ्र ही मुग्ध कर लेता है, अपनी आत्मीयता के कारण उसे बरबस अपना बना लेता है। इसका कारण यह है कि छायावादी कवि पौराणिक रूपकों, ऐतिहासिक तथा कल्पित कथाओं के निर्वैयक्तिक आवरण अथवा माध्यम को छोड़कर पाठक से एक आत्मीय मित्र की तरह व्यक्तिगत ढंग से अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है, अपने मन की बातें कहता है। कवि और पाठक के बीच का यह सीधा सम्बन्ध छायावाद के कवि की अपनी महत्वपूर्ण देन है। निराला ने लिखा है—

मैंने मैं शैली अपनाई,
देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आई
उसके निकट गया मैं धाय,
लगाया उसे गले से हाय !

इस 'मैं शैली' के द्वारा आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता छायायुग की सबसे बड़ी विशेषता है। निराला इसके अग्रदूत हैं। 'हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र' में निराला ने इसे स्पष्ट किया है—

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही बसंत का अग्रदूत,
ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि!

जो भी हो, छायावादी कवि नितान्त निर्वैयक्तिता की ओट में आत्महनन की सम्भावना से सहसा चौंक उठा और आत्माभिव्यक्ति का सीधा रास्ता चुनने के लिए विवश हुआ। यह वैयक्तिक अभिव्यक्ति कवि के लिए सामाजिक स्वाधीनता की माँग का प्रथम और अनिवार्य स्वर है। प्राचीन काव्य परम्परा से कवि का यह विद्रोह वर्तमान काव्य की अन्यतम विशेषता है। 'राधा-कृष्ण सुमिरन बहानों' को छोड़कर साधारण मनुष्यों के भावावेग की यह आत्मीय अभिव्यक्ति अपने में अद्वितीय है। आत्माभिव्यक्ति का यह अधिकार कवि ने प्रथम बार प्राप्त किया, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा? —महादेवी

कहकर कवि ने अपने निजी भावों की अभिव्यक्ति का सीधा रास्ता चुन लिया तो इसे कवि के व्यक्तित्व की मुक्ति के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है?

छायावादी काव्य का अनुशीलन करने से यह पता चलता है कि सारा काव्य व्यक्ति की स्वाधीनता के आग्रह से आविर्भूत हुआ है और यह स्वाधीनता व्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण समाज तथा जाति की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति है। जनतंत्र का यह जनाग्रह युग भावना की ही अभिव्यंजना माना जायगा। निराला ने लिखा है—

"साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। धीरे-धीरे चित्र प्रियता छूटने लगती है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है। चित्रों की सृष्टि तो होती है, पर वहाँ तमाम चित्रों को अनादि और अनंत सौन्दर्य में मिलाने की चेष्टा रहती है। बर्फ में जैसे तमाम वर्णों की छटा, सौन्दर्य आदि दिखलाकर

उसे फिर किसी ने वाष्प में विलीन कर दिया हो या असीम सागर से मिला दिया हो। साहित्य में इस समय यही प्रयत्न जोर करता जा रहा है, और यही मुक्ति-प्रयास के चिन्ह भी हैं।"

वस्तुतः कवि की इस आत्माभिव्यक्ति की भावना के पीछे युग का भावावेग भी निहित है। निराला ने अपनी पुत्री सरोज की स्मृति में अपने निजी जीवन की कथा के साथ-साथ ही युगजीवन की कथा भी कही है—

धन्ये; मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका।
जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचितकाय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ समर
शुचिते, पहनाकर चीनांशुक
रख सका न तुझे अतः दधिमुख।

... ...

अस्तु मैं उपार्जन को अक्षम
कर नहीं सका पोषण उत्तम।

... ...

तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि-जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त
लिखता अबाध गति मुक्तछंद
पर सम्पादक गण निरानंद
वापस कर देते पढ़ सत्वर
दे एक-पंक्ति दो में उत्तर।

... ...

धीरे धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुञ्ज तारुण्य सुघर
आई लावण्य भार थर थर

कांपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकौश नव वीणा पर।
... ...
सोचा मन में हत बार बार—
'ये कान्यकुब्ज-कुल कुलाङ्गार
खाकर पत्तल में करें छेद
इनके कर कन्या, अर्थखेद,
इस विषय वेलि में विष ही फल,
यह दग्ध मरुस्थल, नहीं सुजल'!
फिर सोचा, 'मेरे पूर्वजगण
गुजरे जिस राह, वही शोभन
होगा मुझको, यह लोक रीति
कर दूँ पूरी, गो नहीं भीति
कुछ मुझे तोड़दे गत विचार।
... ...
देखा विवाह आमूल नवल
तुझ पर शुभ पड़ा कलश का जल।
... ...
मां की कुल शिक्षा मैंने दी
पुष्प-सेज तेरी स्वयं रची,
सोचा मन में, 'वह शंकुतला
पर पाठ अन्य यह अन्य कला।
... ...
दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।

इस प्रकार निराला ने अपनी कथा के साथ सारे युग की कथा कह डाली। सामाजिक, साहित्यिक रुढ़ियों और अर्थ पिशाचों पर कवि के प्रहार देखने लायक हैं। यहाँ तक कि भाग्य के अंकों को मेटने की भी अपनी क्षमता का निराला ने उद्घोष किया है। कवि की ऐसी आत्मकथा दूसरी नहीं है। तो क्या आधुनिक युग में आत्मकथा लिखने की प्रेरणा यहीं से मिली!

आशय यह कि छायावादी कविता का यह व्यक्तिवादी स्वर उसकी सबसे बड़ी विशेषता और युग भावना का प्रतीक है।

परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि आत्माभिव्यक्ति की यह माँग कवि के आत्म-प्रसार की ही माँग थी। व्यक्ति की यह स्वतंत्रता उसके अहं के विस्तार की अपेक्षा निखिल व्याप्त विराटता के बोध की ही प्रतिक्रिया थी। निराला ने लिखा है—'मन के कोलाहलमय महासमुद्र का समुत्सुक तरगांग जो मानव अपने उद्गम को समझ लेता है, वह व्यष्टि में रहकर भी समष्टि और परिवार में परिधि पाकर भी पारावार है। मन का स्वतंत्र रूप देह की सीमा को अतिक्रमण करता रहता है, यहीं सीमा की क्षुद्रता सिद्ध होती रहती है। यदि एक ही शब्द में स्वाधीनता की परिभाषा की जाय तो वह ज्ञान ही होगा। काव्य साहित्य में हृदय को दिगंतव्याप्त करने के लिए विराट रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यंत आवश्यक है।'

निराला ने राम से कहलाया है—

छोटे से घर की लघुसीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव
यह सच है प्रिये
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।

यह आत्म-प्रसार का ही संकेत है। निराला ने सभी प्रकार की संकीर्णताओं पर आघात किया है। परिवार, समाज और राष्ट्र किसी की भी संकीर्णता निराला के लिए असह्य है, क्योंकि व्यापकता का, विराटता का, वह पुजारी है—

व्योम मण्डल में—जगती तल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी दल में
सौंदर्य-गर्विता-सरिता के अति विस्तृत वक्षःस्थल में
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल अचल में
उत्ताल तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल—अनल में
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा 'चुप-चुप-चुप'

है गूँज रहा सब कहीं—
और क्या है ? कुछ नहीं।

(सन्ध्या सुन्दरी)

यह है सन्ध्या की विराट नीरवता का विराट भाव चित्र। एक और विराटता का उदाहरण देखिये—

देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना है इसकी, मकरन्द-विन्दु;
गरजता चरण प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;
दशदिक-समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर;
अम्बर में हुये दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महा भाव मंगल पदतल धँस रहा गर्व—
मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व।

(राम की शक्ति पूजा)

बादल, वर्षा के जितने विराट रूप निराला ने हिन्दी को दिये हैं शायद ही कभी कहीं किसी एक कवि से सम्भव हुआ हो। वर्षा का यह चित्र कितना अनुपम है—

मोगल-दल वल के जलद-यान,
दर्पित-पद उन्मद-नद पठान
हैं बहा रहे दिग्देश ज्ञान, शर-खरतर;
छाया ऊपर घन—अंधकार—
टूटता वज्र दह दुर्निवार,
नीचे प्लावन की प्रलय धार, ध्वनि हर हर।

(तुलसीदास)

समस्त प्रकृति को अपने में समेट लेने वाले विराट चित्रों, भावों और रूपकों में निराला अद्वितीय हैं।

विराटता की यह भावना उनके सम्पूर्ण स्वभाव और व्यक्तित्व में समाहित है। इसीलिये संकीर्णता का अविकल और अविचल विरोध उनके काव्य का प्रमुख उपादान है—

गरज गरज घन अंधकार में गा अपने संगीत,
बन्धु वे बाधा-बन्ध विहीन,
आँखों में नवजीवन की तू अञ्जन लगा पुनीत
बिखर झर जाने दे प्राचीन।

... ...

मंद्र उठा तू बन्द-बन्द पर जलने वाली तान,
विश्व की नश्वरता कर नष्ट,
जीर्ण-शीर्ण जो, दीर्ण धरा में प्राप्त करे अवसान,
रहे अवशिष्ट सत्य जो स्पष्ट।
ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय कपाट,
खोल दे कर कर कठिन प्रहार,
आये अभ्यन्तर संयत चरणों से नव्य विराट
करे दर्शन पाये आभार।

... ...

भर उद्दाम वेग से बाधा हर तू कर्कश प्राण
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,
किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव गान,
एक कर दे पृथ्वी-आकाश।

निराला ने देश भेद की सीमा को भी नहीं स्वीकार किया। प्रेम के लिए जब इंगलैंड के अष्टम एडवर्ड ने अपने विशाल वैभव के सिंहासन को छोड़ दिया तो निराला ने मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा की—

सौरभ प्रमुक्त।
प्रेयसी के हृदय से हो तुम
प्रति देश युक्त।
प्रतिजन, प्रतिमन,
आलिंगित तुम से हुई
सभ्यता यह नूतन।

विराट की भावना में रूढ़िगत सीमाओं का खण्डन तो जैसे निराला के काव्य की रीढ़ है। भाव, भाषा, छन्द सभी में इस विद्रोही कवि ने मुक्ति की विजय दुंदभी बजाई है—'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती

है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, वरन उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है जैसे बाग की बँधी और वन की खुली हुई प्रकृति। जिस तरह ब्रह्म मुक्त स्वभाव है उसी तरह यह छन्द भी। वेदों में काव्य की मुक्ति के ऐसे हजारों उदाहरण हैं। वैदिक साहित्य काव्य में स्वच्छंद सृष्टि को देखकर हम तत्कालीन मनुष्य-स्वभाव की मुक्ति का अन्दाजा लगा सकते हैं। परवर्ती काल में ज्यों-ज्यों चित्रप्रियता बढ़ती गई है, साहित्य में स्वच्छन्दता की जगह नियन्त्रण तथा अनुशासन प्रबल होता गया है, यह जाति त्यों-त्यों कमजोर होती गई है। अब उसे अपनी मुक्ति के लिए उन तमाम बन्धनों को पार करना होगा। मुक्त छन्द तो वह है जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम साहित्य उसकी मुक्ति'। इन विचारों के साथ निराला ने कविता कामिनी से आग्रह किया—

> आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
> अर्ध विकच इस हृदय कमल में आ तू
> प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह।

और यह छन्दों की मुक्ति या मुक्त छन्द आज की कविता के लिए निराला का सबसे बड़ा दान है।

इस मुक्ति और विराटता की खोज में छायावादी कवियों का सम्बन्ध मानवीय सृष्टि के अतिरिक्त प्रकृति तथा शेष सृष्टि से अधिक रागात्मक और आत्मीय हो उठा तो यह भी स्वाभाविक ही कहा जायगा। छायावाद के पहले हिन्दी काव्य में प्रकृति का ऐसा रम्य और स्वतंत्र चित्रण प्रायः नहीं के बराबर है। पुराने संकीर्ण सामाजिक वातावरण से ऊबकर इन कवियों ने प्रकृति की स्वच्छन्दता में अपने मन तथा प्राण की उत्सुकता का दर्शन किया और उससे एक सजीव सम्बन्ध स्थापित किया। प्रकृति को एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में काव्य में प्रतिष्ठित करके अभिनव सौन्दर्य का उद्घाटन करना इस युग की एक मौलिक प्रवृत्ति है। इसे विज्ञान का प्रभाव भी कहा जा सकता है, क्योंकि प्रकृति में ज्ञान और विज्ञान का ऐसा सूक्ष्म साम्यरस पाया जाता है जो मानवीय प्रवृति में दुर्लभ है। प्रकृति से संघर्ष और स्नेह दोनों की प्रतिक्रिया इन कु

की बहुत बड़ी विशेषता रही है। निराला ने प्रकृति के सबसे छोटे अंश 'कण' पर भी कविता लिखी और बादल, फूल, कली, ठूंठ, सन्ध्या और प्रभात पर भी।

अस्तु हम कह सकते हैं कि स्वानुभूति की आत्माभिव्यक्ति, भावों की व्यापकता और विराटता, प्रकृति की सजीवता और मुक्त छन्दों की विविध उद्भावना में छायावाद ने जो महार्घता प्राप्त की उसमें सर्वाधिक श्रेय निराला को है। पद्य के अतिरिक्त गद्य में भी छायावाद का कृतित्व बहुत महत्वपूर्ण है जिसका प्रमाण हम छायावाद के पहले का गद्य देखकर सहज ही में पा सकते हैं।

छायावाद एक ऐसी विशाल, व्यापक भावराशि का प्रतीक है जिसकी अभिव्यक्ति काव्य, कहानी, नाटक और आलोचना सभी रूपों में हुई, पर उसके काव्य की विशेषता सर्व प्रधान है। इन सभी माध्यमों में भाव और अभिव्यंजना के अभिनव पथ सन्धान में निराला का साहित्य सबसे आगे है।

'अपने अभिशापों का हलाहल कंठ में रखकर जिस मृत्युंजय कवि ने हमें जीवन का अमृतदान दिया है, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण इस संघर्ष और अवदान की कथा से मुखर है। ऐसे क्षणों की स्मृति हमें ही नहीं, आगामी पीढ़ियों को भी आलोक दे सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।'

निराला ने मानो अपने ही लिये लिखा है—

> और कोई, कवि, तुम, एक तुम्हीं,
> बारबार झेलते सहस्रों वार
> निर्मम संसार के,
> दूसरों के अर्थ ही लेते दान,
> महाप्राण ! जीवों में देते हो
> जीवन ही जीवन जोड़
> मोड़ निज सुख से मुख। —(कवि)

१४

युग प्रवर्तक निराला

क्षीण का न छीना कभी अन्न,
मैं लख न सका वे दृग विपन्न,
अपने आँसुओं अतः विम्बित,
देखे हैं अपने ही मुख-चित
... ...
दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही। —निराला

ऐसे दुखवृती, निर्माण उन्मद, अमरता नापने वाले पदों की अर्चना-वंदना शब्दों की किस ध्वनि से की जाय, अविचल गुरुता के गौरव-गान के लिए कौन-सी रागिनी छेड़ी जाय, शिव और शक्ति से समन्वित युग के अर्द्धनारीश्वर के लिए स्तब्ध विगलित हृदय की किस संवेदना से श्रद्धांजलि दी जाय, समझ में नहीं आता। परंतु उनकी स्मृति, उन्हीं के शब्दों में—

मृदु सुगंध सी कोमल दल फूलों की,
शशि किरणों की-सी वह प्यारी मुस्कान,
स्वच्छन्द गगन-सी मुक्त, वायु-सी चंचल,
खोई स्मृति की फिर आई-सी पहचान।
वह कली सदा को चली गई दुनिया से,
पर सौरभ से है पूरित आज दिगंत।
... ...
कवियों ने पहनाए चुन-चुन तुमको कितने हार !

वहाँ हृदय की हार—आँसुओं का अपना उपहार—देने में संकोच होना स्वाभाविक है, परन्तु इसके अतिरिक्त सर्वस्वत्यागी अवढरदानी तुम्हें कोई दे भी क्या सकता है; दिया भी क्या है ? अस्तु ।

आधुनिक युग में महाप्राण निराला का साहित्य पारस-निर्मित उस विशाल भूधर के समान है, जो अपने स्पर्श के निकट मानवता के लौह परमाणुओं को स्वर्ण तो बनाता ही है, साथ ही अपने से दूर अपरिचित अनदेखे प्राणों के संतृप्ति-सिंचन के लिए संवेदना, करुण और सहानुभूति की अपराजेय स्रोतस्विनी का अविरल प्रवाह भी प्रसारित करता है ।

पर्वत-पुत्र होकर भी प्रपात को उसकी कठोर शिलाओं से संघर्ष करना पड़ता है । उसी प्रकार साहित्यकार—युग-निर्माता, सृजन-मनीषी, द्रष्टा को भी समाज की रूढ़ि, जड़-पाषाणी प्रवृत्तियों से जूझना ही पड़ता है । पर्वत की सर्वांश अनुकूलता के लिए प्रपात को पत्थर बनना पड़ेगा और समाज की सर्वांश अनुकूलता के लिए साहित्यकार को गतिहीनता स्वीकार करनी पड़ेगी, यह निर्विवाद है । आशय यह कि गति के लिए, इच्छित विकास और प्रस्तार के लिए संघर्ष आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है । संतति-सुख प्रसव-पीड़ा का सहयात्री है । उसी प्रकार साहित्य समाज-सुख के साथ यदि उसमें वेदना का उद्वेलन भी पैदा करे तो आश्चर्य की बात नहीं । जिस युग में समाज की जड़ता का स्तर जितना ही कठोर होता है, उस युग के साहित्य को उससे उतना ही कठोर संघर्ष भी करना पड़ता है । पर्वत पीछे हट-हट कर नदी के लिए पथ नहीं बनाते । नदी का प्रवेगपूर्ण प्रवाह ही पर्वतों को चीरता हुआ, कूलों का क्रम रचता हुआ अपनी पथ-दिशा निर्मित करता चलता है ।

निराला का संपूर्ण जीवन तथा साहित्य संघर्ष-प्रस्फुटित, आवेग पूर्ण सर्वप्लवी ऐसा प्रवाह है, जो न केवल स्वेद-कणों से वरन् अपने रक्त-कणों से उसकी गति और विस्तार में तीव्रता एवं गहनता भरता चलता है । जीवन की कठिनतम कराल-कठोर परिस्थितियां, विरोध के चक्रव्यूह, उपेक्षापूर्ण अनर्गल आरोप तथा अविवेक जनित उपहास साहित्यकार के जीवन-स्वर्ण को परखनेकी काली कसौटियाँ मात्र हैं, उसकी अबाध-स्वच्छन्द-गति को बांधने वाली बेड़ियाँ नहीं । निराला का बहुमुखी विशाल सृजन इसका अजर-अमर साक्षी है । सच तो यह है कि जो साहित्यकार युग की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष बाधाओं को हटाते हुए उनके हलाहल को पीकर अपने आत्म-रस से उसे अमृत में परिणत करने की क्षमता नहीं रखता उसे शिवत्व की गरिमा भी नहीं मिलती । 'निराला' इस गरिमा से

मंडित हैं, अपने युग के शिव हैं उनकी यह कविता इसी तथ्य का उद्‌घाटन करती है—

> और कोई, कवि, तुम, एक तुम्हीं,
> वार-वार, झेलते सहस्रों वार,
> निर्मम संसार के।
> शरत्-हेमंत-शिशिर-पिकप्रिय-वसंत के,
> नश्वरता को करते अविनश्वर तत्काल,
> तुम अपने ही अमृत के
> पावन-मृदु-सिंचन से।

सर्जनात्मक शुचिता, शक्ति, साधना और सारल्य की गतिशीलता में जीवन के सारे संघर्ष और द्वन्द्व प्रवाह में पड़े पत्थर की तरह स्निग्ध-स्वच्छ होकर विंव-प्रतिविंव का रूप ग्रहण करते हुए एक दूसरे के पूरक वनकर सृजन के उत्कर्प और विकास में सहायक वन जाते हैं, क्योंकि सृष्टि की सार्थकता और सफलता के लिए विरोधी तत्वों की अनिवार्यता वांछनीय होती है।

अर्द्धनारीश्वर में प्रकृति और पुरुप, नर और नारी एक दूसरे से मिले हुए हैं। नर-नारी मुक्ति के अर्थ में, प्रकृति-पुरुप मुक्ति के अर्थ में। हिमालय के उच्चतम शिखर को भारतीय वाणी में गौरी शंकर की संज्ञा मिली है। जल के कारण वहाँ गति भी है और वर्फ के कारण स्थिति भी है वस्तुतः जड़ भी, चेतन भी। मानव की इकाई में भी यही सत्य प्रत्यक्ष है। शरीर की जड़ता के साथ ही चित्त की चेतनता का आभास मिलता है। किसी राष्ट्र या जाति के साहित्य में भी यही परिलक्षित होता है। जिस अनुपात में उसका मानसिक (चेतन) जगत विकसित होता है, उसी अनुपात से उसका वाह्य (जड़) जगत भी परिष्कृत होता चलता है। जीवन की दुर्वह विपमता के कारण जव अन्तर और वाह्य जगत एक दूसरे से छूट कर दूर पड़ जाते हैं तव पानी के ऊपर तेल की तरह तैरती हुई चेतना जीवन से भिन्न अपने अस्तित्व का परिचय तो देती रह सकती है, परन्तु जीवन में घुल-मिलकर उसे प्रेरणा देने की न तो उसमें क्षमता रहती और न प्रसरण की प्रखरता।

अंतर-वाह्य के सामंजस्य पूर्ण पारस को छोड़कर हमारा जीवन अपनी पराजय के विपाद को भुलाने के लिए वाहर से चमकीले और आकर्षक लगने

वाले विगुण रंगीन कंकड़ों-पत्थरों की सजावट में ही रमने लगता है, तब साहित्य में रीति-युग का आविर्भाव होता है। इस युग की अंधकार जैसी व्यापकता और मृत्यु जैसी एकरसता में भावों की विविधता, कल्पना की रंगमयता, विचारों की नवोन्मेषशीलता तथा सौन्दर्य की नाना छवियों का वाह्य चित्रणों, चमत्कारी उक्तियों तथा रूढ़ियों से उलझ कर स्पंदनहीन हो जाना ही सहज-सुगम हो उठता है, इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है।

सृजन प्रक्रिया जब तक जीवन के दोनों पक्षों (अंतर-वाह्य) में एक सामंजस्य की प्रतिष्ठा नहीं कर लेती, तब तक उसकी गति कुण्ठित रहती है और साहित्यकार जब तक अपने वाह्य जीवन को अपने अंतरजगत का महाभाष्य नहीं बना लेता तब तक दोनों की एकता मृग मरीचका मात्र रह जाती है।

द्विवेदी युग ने भी सामंजस्य की ऐसी क्षमता नहीं दिखलाई। इस युग की अभिव्यक्ति के लिए भी राम-सीता अथवा राधा-कन्हाई की ओट प्राय: अनिवार्य-सी बनी रही। यदि कभी उसने इससे मुक्ति भी ली तो समाज-स्वीकृत सुधारों और सिद्धांतों से उलझता-सुलझता रहा।

हिन्दी काव्य की पूरी परम्परा में आत्माभिव्यक्ति का माध्यम स्वयं अपने को मानने वाला पहला काव्य छायावाद है। निराला इसके अगुवा हैं। उन्होंने साफ कह दिया—

मैंने मैं शैली अपनायी।
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आयी,
उसकी अश्रु भरी आँखों पर मेरे करुणांचल का स्पर्श
करता मेरी प्रगति अनंत...!

हिन्दी साहित्य का यह पहला स्वर है जिसमें अभिव्यक्ति की पौराणिक, सामाजिक स्वाधीनता और कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का आग्रह आकुल-व्याकुल है। कवि के इस आग्रह में अभिव्यक्ति की मुक्ति के साथ-साथ उसके आचरण और अभिव्यंजना का अटूट साहस भी सन्निहित है। आत्म-प्रसार और भाव-विस्तार का यह प्रथम सोपान है। स्वानुभव और आस-पास की चेतन-अचेतन स्थितियों के साथ विकसित और विस्तीर्ण होना ही तो आत्म-प्रसार है। भारतीय मनीषा सब वस्तुओं में आत्म-तत्व और भावना में भव का [illegible]

मानती आयी है। आत्म-प्रसार की इस आकुलता में निराला ने परिवार, जाति, समाज तथा देश की सभी संकीर्णताओं के विरुद्ध केवल प्रवल प्रहार ही नहीं किये वरन अपने आचरण में भी उसे चरितार्थ किया। सरोज स्मृति में इसके साक्ष्य संग्रहीत हैं। सामाजिक, धार्मिक रूढ़ियों के तोड़ने के साथ ही इसमें कवि ने भाग्य के अंक मेटने का भी साहस दिखाया है—

> खंडित करने को भाग्य अंक,
> देखा भविष्य के प्रति अशंक।

इस कविता में निराला ने अपनी पुत्री के सौंदर्य का जो वीतराग निरपेक्ष सौंदर्य वर्णन किया है, वह हिन्दी में ही नहीं विश्व साहित्य में शायद अकेला है। सौंदर्य की ऐसी ही निष्काम अनासक्त प्रतीति हमें विश्व की विभूतियों में आनंद की अनुभूति देकर हमारी कला को सुन्दर और संपन्न बनाती है, क्योंकि सत्य के बोध द्वारा जिस प्रकार हम प्राकृतिक नियमों का आकलन करते हैं उसी प्रकार सौंदर्य-बोध से हमें विश्व की समता का बोध होता है।

छायावाद राष्ट्रीय जागरण की वह प्रभाती है जिसमें आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा मानसिक सभी तरह की स्वाधीनता का स्वर-संधान है। भाषा, भाव, छंद, शैली सभी क्षेत्रों में निराला का प्रचंड विद्रोह मुखरित है। मानव व्यक्तित्व की दृढ़ता, स्वाभिमानवी स्थिरता, उद्देश्य की अविचलता और सामूहिक स्वतंत्रता की ओजस्वी चेतना में निराला अपने युग में सहज ही अद्वितीय हैं। काव्य की विविध संवेदनाओं, आयामों और प्रयोगों में उनका सृजन दीप स्तंभ की भाँति आलोकित है। सदियों से जकड़े बंद हृदय-कपाट को वज्र-प्रहार से खोलकर उसकी व्यापकता और विराटता की बोध स्थिति में न केवल संपूर्ण धरती को बल्कि अनंत आकाश को भी वह अपनी भुजाओं में बांध लेने की अदम्य आकांक्षा रखते हैं—

> बहता अंध प्रभंजन ज्यों, यह त्योंही स्वर-प्रवाह,
> मचल कर के चंचल आकाश,
> उड़ा-उड़ा कर पीले पल्लव, करे सुकोमल राह—
> तरुण तरु, भर प्रसून की प्यास।
> ताल-ताल से, रे सदियों के जकड़े हृदय कपाट,
> खोल दे कर-कर कठिन प्रहार

आए अभ्यंतर संयत चरणों से नव्य विराट,
करे दर्शन, पाए आभार।
भर उद्दाम वेग से बाधा हर तू कर्वश प्राण,
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,
किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव-गान,
एक करदे पृथ्वी-आकाश।

समस्त मनुष्यों के बीच एकात्मकता का अनुभव करना ही आत्मप्रकाश तथा आत्म-प्रसार की सार्थकता है। इस सार्थकता की प्रत्याशा में कवि कभी किन्हीं सीमाओं को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि समस्त मानवता के एकत्व, ममत्व तथा समत्व पर उसकी आस्था है। कवि की अभिव्यक्ति का यही चरम उत्कर्ष है। इस उत्कर्ष की ऊँचाई में पहुँच कर व्यक्ति सीमा का धरातल विश्व-मानव के साथ संयुक्त हो जाता है। कवि की साधना इसी बृहत् मनुष्य की साधना है। इसी अंतर के मनुष्य की उपलब्धि है। बाहर भिन्न देशों की, विभिन्न समाजों की नाना जातियाँ है, किन्तु अन्तर में एक मानव है जो जाति, देश की कृत्रिम सीमा छोड़कर सबके साथ समान रूप से प्रतिष्ठित है। निराला के काव्य-दर्शन की सब से बड़ी विशेपता यही मानव का विश्व भाव है। एडवर्ड अष्टम के प्रति लिखी गई कविता में निराला ने अंतर्राष्ट्रीयता-मानवीय एकता का उद्घोप किया है—

मानव मानव से नहीं भिन्न,
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न,
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर।

प्रकृति के मुक्त प्रांगण के बीच जीवन की यथार्थता के भीतर से सम्पूर्ण मानवता को आकुल अनुभूति के साथ अपनाने की वृत्ति निराला-काव्य की अनन्य विशेषता है। इसी का फल है कि वह कवि होने के साथ 'महामानव' भी हैं।

परिमल की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

"मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की

मुक्ति कर्मों के वंधन से छुटकारा पाना है श्रौर कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना। मुक्त काव्य साहित्य के लिए अनर्थ काल नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीनता चेतना फैलती है जो साहित्य के काल्याण का ही मूल होती है। जैसे वाग की वँधी श्रौर वन की खुली हुई प्रकृति। साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है। साहित्य में इस समय यही प्रयत्न जोर पकड़ता जा रहा है श्रौर यही मुक्ति-प्रयास के चिह्न भी हैं। जाति के मस्तिष्क में विराट भावों के समावेश के साथ ही साथ स्वतंत्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं।"

"मुक्त छंद अपनी विपम-गति में एक ही साम्य का अपार सौंदर्य देता है, जैसे एक ही महा समुद्र के हृदय की सव छोटी-वड़ी तरंगें हों, दूर प्रसारित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती श्रौर गिरती हुई। मुक्त छंद वह है जो छंद की भूमि में रह कर भी मुक्त है। मुक्त छंद का समर्थन उसका प्रवाह है वही उसे छंद सिद्ध करता है, श्रौर उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।"

सन् १९१६ की लिखी, निराला की प्रथम कविता 'जुही की कली' इस निराला छंद की चरम सफलता है। इससे सीधा श्रौर प्राणों के पास तक पहुँचता रास्ता छंदों के इतिहास में दूसरा नहीं। यहाँ भापा, भाव श्रौर छंद तीनों स्वतंत्र हैं, फिर भी मूल राग को संपूर्णता देने के लिए भिन्न-भिन्न स्वरों की सहकारिता की तरह संगठित उन्होंने पढ़ने श्रौर गाने दोनों के मुक्त रूप निर्मित किए हैं।

"जुही की कली" में कली (सौंदर्य का प्रतीक) श्रौर वायु (प्राण तथा अवाध गति का प्रतीक) के माध्यम से निराला ने कला को सुप्ति से जागरण में, रूप-सौंदर्य को भाव सौंदर्य में प्रतिष्ठित करते हुए 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के लक्ष्य-सिद्धि के साथ कली के शाश्वत सौंदर्य श्रौर वायु के साथ उसके जन्मांतरीय सम्वन्ध की व्यंजना की है। भाव, शैली श्रौर चित्र का यह समन्वय हमारे काव्य में वेजोड़ है। उसका यह दान आज के काव्य में प्रतिफलित है। हमारा साहित्य इस निराला छंद के लिए उनका चिर ऋणी रहेगा, इसमें संदेह नहीं। यदि केवल छंद की ही दृष्टि से देखें तो आज का भारतीय काव्य निराला छंद पर ही गतिशील है। इसको छोड़कर जैसे काव्य-संचरण ही संभव नहीं।

आए अभ्यंतर संयत चरणों से नव्य विराट,
करे दर्शन, पाए आभार।
भर उद्दाम वेग से बाधा हर तू कर्कश प्राण,
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,
किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव-गान,
एक करदे पृथ्वी-आकाश।

समस्त मनुष्यों के बीच एकात्मकता का अनुभव करना ही आत्मप्रकाश तथा आत्म-प्रसार की सार्थकता है। इस सार्थकता की प्रत्याशा में कवि कभी किन्हीं सीमाओं को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि समस्त मानवता के एकत्व, ममत्व तथा समत्व पर उसकी आस्था है। कवि की अभिव्यक्ति का यही चरम उत्कर्ष है। इस उत्कर्ष की ऊँचाई में पहुँच कर व्यक्ति सीमा का धरातल विश्व-मानव के साथ संयुक्त हो जाता है। कवि की साधना इसी वृहत मनुष्य की साधना है। इसी अंतर के मनुष्य की उपलब्धि है। बाहर भिन्न देशों की, विभिन्न समाजों की नाना जातियाँ है, किन्तु अन्तर में एक मानव है जो जाति, देश की कृत्रिम सीमा छोड़कर सबके साथ समान रूप से प्रतिष्ठित है। निराला के काव्य-दर्शन की सब से बड़ी विशेषता यही मानव का विश्व भाव है। एडवर्ड अष्टम के प्रति लिखी गई कविता में निराला ने अंतर्राष्ट्रीयता-मानवीय एकता का उद्घोष किया है—

मानव मानव से नहीं भिन्न,
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न,
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर।

प्रकृति के मुक्त प्रांगण के बीच जीवन की यथार्थता के भीतर से सम्पूर्ण मानवता को आकुल अनुभूति के साथ अपनाने की वृत्ति निराला-काव्य की अनन्य विशेषता है। इसी का फल है कि वह कवि होने के साथ 'महामानव' भी है।

परिमल की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

"मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की

मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना। मुक्त काव्य साहित्य के लिए अनर्थ काल नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीनता चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण का ही मूल होती है। जैसे बाग की बँधी और वन की खुली हुई प्रकृति। साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है। साहित्य में इस समय यही प्रयत्न जोर पकड़ता जा रहा है और यही मुक्ति-प्रयास के चिह्न भी हैं। जाति के मस्तिष्क में विराट भावों के समावेश के साथ ही साथ स्वतंत्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं।"

"मुक्त छंद अपनी विषम-गति में एक ही साम्य का अपार सौंदर्य देता है, जैसे एक ही महा समुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों, दूर प्रसारित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई। मुक्त छंद वह है जो छंद की भूमि में रह कर भी मुक्त है। मुक्त छंद का समर्थन उसका प्रवाह है वही उसे छंद सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।"

सन् १६१६ की लिखी, निराला की प्रथम कविता 'जुही की कली' इस निराला छंद की चरम सफलता है। इससे सीधा और प्राणों के पास तक पहुँचता रास्ता छंदों के इतिहास में दूसरा नहीं। यहाँ भाषा, भाव और छंद तीनों स्वतंत्र हैं, फिर भी मूल राग को संपूर्णता देने के लिए भिन्न-भिन्न स्वरों की सहकारिता की तरह संगठित उन्होंने पढ़ने और गाने दोनों के मुक्त रूप निर्मित किए हैं।

"जुही की कली" में कली (सौंदर्य का प्रतीक) और वायु (प्राण तथा अबाध गति का प्रतीक) के माध्यम से निराला ने कला को सुप्ति से जागरण में, रूप-सौंदर्य को भाव सौंदर्य में प्रतिष्ठित करते हुए 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के लक्ष्य-सिद्धि के साथ कली के शाश्वत सौंदर्य और वायु के साथ उसके जन्मांतरीय सम्बन्ध की व्यंजना की है। भाव, शैली और चित्र का यह समन्वय हमारे काव्य में बेजोड़ है। उसका यह दान आज के काव्य में प्रतिफलित है। हमारा साहित्य इस निराला छंद के लिए उनका चिर ऋणी रहेगा, इसमें संदेह नहीं। यदि केवल छंद की ही दृष्टि से देखें तो आज का भारतीय काव्य निराला छंद पर ही गतिशील है। इसको छोड़कर जैसे काव्य-संचरण ही संभव नहीं।

साहित्य के हृदय को दिगंत व्याप्त करने के लिए निराला ने जिन विराट चित्रों की प्रतिष्ठा का विधान अपने काव्य में किया है उनमें लय एवं भाव की एक ऐसे सर्वव्यापी अरूप में सार्थक परिणिति हुई है कि कवि के कला-कौशल पर मुग्ध होने के अतिरिक्त कोई दूसरी प्रतिक्रिया सम्भव नहीं। संध्या सुन्दरी को देखिए—

यह सुन्दरी अपनी सखी नीरवता के कन्धे पर बाँह डाले छांह सी अंबर पथ से चलती है। उसके हाथों में कोई वीणा नहीं बजती, अनुराग-राग का कोई आलाप भी नहीं, नूपुर भी नहीं रहे। सब ओर एक सन्नाटे की व्याप्ति है, सब कहीं केवल एक शब्द गूंज रहा है, चुप-चुप—

व्योम मंडल में—जगती तल में—
सोती शांत सरोवर पर उस अमल-कमलिनी-दल में—
सौंदर्य-गर्विता-सरिता के अति विस्तृत वक्षस्थल में—
धीर वीर गम्भीर शिखा पर हिमगिरि-अटल-अचल में—
उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन जलधि प्रबल में—
क्षिति में जल में नभ में अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप-चुप-चुप"
है गूँज रहा सब कहीं
और क्या है ? कुछ नहीं।

स्पष्ट है कि इस चित्र का विषय रूप नहीं, भाव है। नीरव भाव का यह विराट चित्र है। 'राम की शक्ति पूजा', 'वन वेला', 'तुलसी दास,' 'सम्राट एडवर्ड अष्टम के प्रति' आदि कविताओं में दिव्य विराट भावनाओं के विराट चित्रों का अत्यन्त उदात्त अंकन हुआ है। 'प्रेयसी' और 'रेखा' में कवि ने नर-नारी के प्रणय मिलन को तटस्थ एवं निरपेक्ष ढंग से वर्णित नहीं चित्रित किया है। और उसे शून्य और नीलिमा के व्यापक मिलन से उपमित किया है कि वह ज्योतिछवि से ज्योति छवि का सहज मिलन होकर दिव्य और विराट हो उठा है। वहाँ प्रणय के प्रलय में सीमा सब खो गई है।

समस्त विश्व-प्रकृति को अपने प्रेमांचल में समेट लेने वाले प्रणय के सात्विक उभार, व्यापक एवं गहन विस्तार और सीमा की परिणति के ऐसे चित्र हिन्दी काव्य में विरले हैं। भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों तरह के विराट चित्रों की

एक बहुत बड़ी चित्रावली निराला काव्य में मिलती है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। विराट मानव-समाज के सदस्य होने के नाते उन्हें मनुष्य की अपरिमेय असीम सम्भावनाओं का अनुभव करना और मानव जाति के मंगल के लिए अपने को सर्वांशतः समर्पित कर देना स्वाभाविक रूप से प्रिय है, क्योंकि वह जानते हैं कि मनुष्य के बीच जो असीम है उसे सीमा में, जीवन में, समाज में व्यक्त करना ही कवि की परम सफलता है। यदि तीव्रता, गहनता और व्यापक-विराटता के निस्संग चित्रण की भूमिका पर आधुनिक काव्य का विवेचन किया जाय तो निराला के सहयात्री कम ही मिलेंगे। यों छोटे-बड़े भावों की अभिव्यक्ति मात्र उतनी दुरूह नहीं जितनी उनके संवेगपूर्ण प्रभाव के चित्रण की सफलता। शब्दों द्वारा चित्रों का रेखांकन करना और फिर शब्दों ही द्वारा उनमें उपयुक्त रंग भरना, वस्तु-निष्ठा और भाव के जिस समीकरण की मांग करता है वह किसी साधारण साधन का सुफल नहीं। निराला के काव्य में यह चित्रमयता अपनी पूर्णता का स्पर्श करती जान पड़ती है। सुकुमार लालित्य और ओजस्वी लावण्य से मुखरित निराला के गीत-चित्र भी अपने प्रभाव में अद्भुत और असाधारण हैं।

निराला अपने जीवन, व्यक्ति और कवित्व सभी में मौलिक एवं असाधारण हैं। विभिन्न विरोधी तत्वों का उनमें ऐसा सामंजस्य है जो विविधता में एकता और असंगतियों में संगति बैठाता चलता है। मतवाला की विज्ञप्ति [illegible] में लिखी ये दो पंक्तियाँ—

> अमिय-गरल शशि सीकर-रविकर राग-विराग भरा प्याला,
> पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है, वह मतवाला।

कवि के जीवन में काव्य में निरन्तर विकसित होती चलती है। कोमल-कठोर सूक्ष्म-स्थूल, वीर-करुण, लघु-विराट, भाव-विचार, शब्द-अर्थ, स्वर-वाणी, शक्ति-श्रद्धा, माधुर्य-ओज, भौतिक-आध्यात्मिक का उनमें ऐसा आश्चर्यजनक समाहार और संतुलन है कि जान पड़ता है कि अखिल विश्व प्रकृति ही उनके काव्य-व्यक्तित्व में सिमट कर मूर्त हो गई है।

रूप वैचित्र्य की उत्सुकता, अभिव्यक्ति का ओढ़न, भावगठन की [illegible] शीलता, अकुल उदगारों की संगीतात्मकता और दार्शनिक विचारों [illegible] रागात्मक अभिव्यक्ति की तटस्थता के साथ भाव, भाषा, छंद, शैली के [illegible] अनूठे प्रयोगों की सफलता को मिलाकर देखा जाय तो निराला [illegible] हैं

युग प्रवर्तक कवि की क्षमता से विभूषित हैं।

महादेवी जी ने लिखा है—"भावना, ज्ञान और कर्म जब एक सम पर मिलते हैं तभी युग प्रवर्तक साहित्यकार प्राप्त होता है। जो जीवन को सब ओर से एक साथ स्पर्श कर सकता है उस व्यक्ति को युग जीवन अपनी सम्पूर्णता के लिए स्वीकार करने पर बाध्य हो जाता है।" कहना न होगा कि निराला को इसी रूप में स्वीकार करने के लिए हमारा युग बाध्य है। भावना और चेतना (ज्ञान) का संतुलन ही सौंदर्य और कला विधान के माध्यम से उनके काव्य में अभिव्यंजित हैं। उसके काव्य के सम्यक अनुशीलन से पता चलता है कि 'जीवन के व्यापक विस्तार में बहुत कम ऐसा मिलेगा जिसे उन्होंने नया आलोक फेंक कर नहीं देखा और देख कर नई व्याख्या नहीं की। "जीवन के व्यवहारिक धरातल पर अथवा सुक्ष्म जगत में उन्हें कुछ भी इतना क्षुद्र नहीं जान पड़ा, जिसकी उपेक्षा कर बड़ा बना जा सके, कोई भी इतना अपवित्र नहीं मिला जिसके स्पर्श के बिना व्यापक पवित्रता की रक्षा हो सके और कुछ भी इतना विच्छिन्न नहीं दिखा जिसे पैरों से ठेलकर जीवन आगे बढ़ सके।" कवींद्र-रवींद्र के प्रति अर्पित महादेवी जी के ये शब्द महाप्राण निराला के लिए भी परम उपयुक्त हैं।

विराटता के सशक्त समर्थक निराला में भी हमें हृदय की वही विशालता और सबके साथ परम ऐक्य की वही आकुलता दिखाई पड़ती है जो 'सर्वमेवाविशान्त' अथवा 'सर्वभूताधिवासः' साक्षी का उद्घोष है। कवि के लिए सब समान हैं—

तोल तू उच्च नीच समतोल;
एक तरु के-से कुसुम अमोल।
... ...
प्रतिजन को करो सफल।
जीर्ण हुए जो यौवन;
जीवन से भरो सकल।

इसी मूल भाव के कारण भगवान राम के ऊपर अपने व्यक्तित्व का आरोप करने वाले निराला कुत्तों साथ जूठी पत्तल चाटने वाले भिखारी के बच्चों को अपने हृदय का अमृत देने को तैयार रहते हैं, कली के सौंदर्य की मादकता पर विश्वास करते हुए पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिन की व्यथा का भी निरीक्षण

करते हैं, प्रेयसी के रूप लावण्य का चित्र खींचते हुए—विवश विधवा का भी चित्रांकन करते हैं, प्रेम-संगीत के स्वरों के साथ गरम पकौड़ी का भी राग अलापते हैं, वसंत की परी और ठूंठ के प्रति बराबर ममता रखते हैं, गुलाब से कुकुरमुत्ता को अधिक महत्व देते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि महान, विराट एवं क्षुद्र, उपेक्षित सभी उनकी स्नेह-छाया के समान अधिकारी हैं। अपने जीवन और काव्य के प्रारम्भ से ही वे संतप्त और शोषितों को अपने रक्त सिंचन से संजीवन देने के लिए, समता और समानता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहे हैं। किसी की व्यथा इतनी हल्की नहीं जो उनके हृदय में गंभीर प्रतिध्वनि नहीं जगाती, किसी की आवश्यकता इतनी छोटी नहीं जो उन्हें सर्वस्व दान की प्रेरणा नहीं देती। 'सर्वव्यापी सा भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः' उनकी भावना का मूल उत्स है—

रोक रहे हो जिन्हें
नहीं अनुराग मूर्ति वे
किसी कृष्ण के उर की गीता अनुपम ?
और लगाना गले उन्हें—
जो धूल धूसरित खड़े हुए हैं—
कब से प्रियतम है भ्रम ?

काव्य में तथा कथित प्रगति शीलता के बहुत पहले उन्होंने [illegible] प्रगतिशील रचनाएँ की थीं, यह किसी से छिपा नहीं। [illegible] तो ग्रामीणों, किसानों और श्रमिकों के मर्म को प्रकट करने [illegible] भंडार ही है। भाव, विचार और रचना-विधान [illegible] 'कुकुरमुत्ता' प्रचलित प्रयोगों की आधार-शिला है। [illegible] और बुद्धित्व के समावेश का उनका आग्रह [illegible] स्वीकृत है। राष्ट्रीय जागरण के साथ मानव [illegible] समता का जो प्रथम स्वर-संधान उन्होंने अपनी [illegible] सर्वत्र ध्वनित और स्वीकृत हो रहा है।

छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नई [illegible] का छाया-प्रकाश अपनी स्पष्ट रेखाओं और [illegible] भाषित है। बोल-चाल की भाषा, सामान्य [illegible] और अकिंचन के प्रति सहानुभूति [illegible]

जीवन के साथ सतत् विकसित होने वाली नित नूतन काव्य वृत्तियों का जो श्रोत उनके काव्य से फूटा था वह आज के काव्य में गतिमय आवेग भरने और उसके प्रवाह को प्रशस्त करने में अक्षय उत्स की गरिमा रखता है, इसे सभी स्वीकार करते हैं। काव्य ,उपन्यास, कहानी, निबंध, जीवनी, समालोचना तथा संस्मरण आदि विविध सर्जनात्मक तत्वों से संगठित निराला का सर्वाच्छादी, सर्वाभिषेकी और सर्वात्मदानी बादल-व्यक्तित्व सम्पूर्ण युग को वर्षोन्मद आषाढ़ की सघन घटाओं की तरह छाए हुए हैं, सावन के अविरल प्लावन की तरह सब को संसिक्त किए हुए है। भय के मायामय आँगन पर उसके विप्लवी गर्जन से शोषक धनी आतंक-अंक में कांप रहे हैं और शोषित, जीर्णबाहु-शीर्ण-शरीर श्रमजीवी उसका स्वागत कर रहे हैं।

युगान्तर के नवीन जीवन वाले नव जल-धर के अतिरिक्त निराला की तुलना भी और किससे की जाय। महादेवी जी ने बहुत ही पते की बात कही है—"साहित्य के नवीन युग पथ पर निराला जी की अंक संसृति गहरी और स्पष्ट उज्जवल और लक्ष्यनिष्ठ रहेगी। इस मार्ग के हर फूल पर उनके चरण चिह्न और हर भूल पर उनके रक्त का रंग है।"

महाकाव्य न लिखकर भी निराला युग प्रवर्तक महाकवि हैं। सबसे बड़ी बात यह कि वह महाकवि होने के साथ-साथ महामानव भी हैं। राम की शक्ति पूजा में देवी के ये शब्द जैसे उन्हीं के लिए कहे गए हों—

होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन

सारा युग उन्हें नवीन जीवन के उन्मेष का आकलन, सिंचन और संवर्द्धन करने वाले नवीन पुरुषोत्तम के रूप में स्वीकार कर रहा है। अस्तु उन्हीं के शब्दों में उन्हें स्मरण करे तो कहना होगा—

कितने ही विघ्नों का जाल,
जटिल, आगम, विस्तृत पथ पर विकराल,
कंटक, कर्दम, भय-श्रम-निर्मम कितने शूल;
हिंस्र निशाचर, भूधर, कंदर पशु-संकुल,
पंथ घनस्तम अगम अकूल—
पार-पार करके आये, हे नूतन।
सार्थक जीवन ले आये
श्रम-कला में बंधु सफल-श्रम।

सिर पर कितना गरजे
बज्र-बादल
उपल वृष्टि, फिर शीत घोर, फिर ग्रीष्म प्रबल।
साधक, मन के निश्चल,
पथ के सचल,
प्रतिज्ञा के हे अचल अटल।
पथ पूरा करके आये तुम,
आये; नव जीवन भर लाये।

वास्तव में निराला जी का जीवन और उनका साहित्य मानवता की विजय का वह जयघोष है, जो युग-युगों तक हमको सत्य की जय का विश्वास, संघर्ष का साहस और मनुष्य की विकासशील महत्ता पर श्रद्धा रखने का सम्बल देकर हमें चिरकाल तक प्रगति की प्रेरणा देता रहेगा।

१५

विद्रोही कवि निराला

विद्रोह पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक और भी कई प्रकार का हो सकता है, किन्तु सृजनात्मक विद्रोह एक सर्वथा भिन्न स्थिति रखता है। वह जीवन की समग्रता में स्पर्श करता है। इसकी सक्रियता के लिए तन, मन धन सभी देना पड़ता है। तभी विश्व मानवता की पहचान होती है। इसमें संदेह नहीं कि ऐसा विद्रोह जाति में जागृति पैदा करता है, पर वह उसकी सीमा नहीं, क्योंकि उसका आधार जाति नहीं वरन् मनुष्यता है। हमारे सीमित समाज से बाह्य रूप में भिन्न, किन्तु आन्तरिक रूप से मिला हुआ एक और समाज है वह किसी भी राष्ट्रीय जाति में नहीं बँधवा, सम्पूर्ण धरातल के मनुष्य उसके अन्तर्गत हैं। उस समाज में विराट् मानवता में, उन्हीं मानवीय भावों और विचारों की प्रतिष्ठा हो सकती है, जो मनुष्य मात्र के अपने कहे जा सकते हैं। साहित्यकार की प्रतिभा का क्षेत्र यही है। वह कभी जातीय अथवा साम्प्रदायिक उपकरणों के साथ इस विशाल भाव-भूमि में नहीं चल सकता। उसका विद्रोह भी इसी व्यापकता के संस्पर्श से संजीवन पाता है।

महाप्राण निराला का विद्रोह व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्ध में सूत्रों में संगठित एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण मानवता का विकास है। ऐसे विद्रोही विश्वास के लिए जो साहित्यकार जितना ही अधिक त्याग और तपस्या कर सकता है, उसका महत्व और प्रभाव उतना ही अधिक स्थायी होता है। जो दान की चरम सीमा का स्पर्श करता है, वही धरावगी रूप-रेखा भी निश्चित करता है। ऐसा विद्रोह केवल तभी कृतकृत्य होता है जब वह विद्रोही

जीवन-कसौटी पर कसा जाकर खरा सिद्ध होता है। निराला इस अग्नि-परीक्षा में सदा सफल रहे हैं। बौद्धिक प्रामाणिकता, नैतिक क्रियाशीलता, सर्जनात्मक तीव्रता अथवा आध्यात्मिक प्रसरण प्रक्रिया की किसी भी कसौटी पर वह अपने सृजन और संवेदना में बराबर खरे सिद्ध हुए हैं, यह किसी से छिपा नहीं। उनकी मान्यता है जिस प्रकार मेघ मुक्त होकर किसी भी देश का जल देश की मिट्टी को छूने से पहले तक एक ही-सा निर्मल और दोषरहित रहता है, यदि हवा में उड़ते हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म दूषित बीजों को छोड़ दें, उसी प्रकार एक मात्र मनुष्य के आचार किसी राष्ट्र का सच्चा साहित्यिक है सभी राष्ट्रों को बराबर प्यार करने वाला मनुष्य मात्र का मित्र। विचार की इससे बढ़कर शुद्धि नहीं हो सकती। विचार की शुद्धि तब हो सकती है, जब वह हवा की तरह सब के हृदय से लगे, चाँदनी की तरह सबकी आँखें ठंडी कर दे।

निराला का विद्रोह ऐसा ही है। उनका विद्रोह जड़, कठोर, विषम परिस्थितियों और जीवन के रूढ़िगत निर्जीव संस्कारों के प्रति सचेत रहा है। वास्तविकता जो है, उससे विद्रोह करके जो होना चाहिये के प्रति आकर्षण और उसका आकलन ही उसकी मूल प्रेरणा है। यही कारण है कि उनके विद्रोह में सामूहिक सहज कल्याण के संकल्प से प्रस्फुटित शक्ति, ओज और उद्दाम पौरुष का अबाध आवेग पाया जाता है। उन्होंने अपने समय की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक-सभी क्षेत्रों की गलित मान्यताओं, पद्धतियों और निर्जीव, मृत संस्कारों के प्रति निरन्तर विद्रोह किया और उन्हें सुधारने की चेष्टा की तथा अपने सार्थक सृजन से उस दिशा का निर्देश भी किया, जिसे वह वांछनीय समझते थे। साहित्य की भाषा, भाव, छंद, शैली आदि के प्रति उनके विद्रोह में बादल का निर्बंध, स्वच्छंद, अटूट पर टूट पड़ने वाला उन्माद, विप्लव का प्लावन, बाधा-रहित विराट् का गर्जन स्वर और उसकी चंचल-समीर-रथ पर चलने वाली क्षिप्रगति का समावेश है। बादल के माध्यम से, जैसे उन्होंने अपने को ही संबोधित किया हो—

> मुक्त तुम्हारे मुक्त कंठ में,
> स्वरारोह, अवरोध, विघात,
> मधुर मन्द्र उठ पुनः ध्वनि
> छा लेती है गगन, श्याम ,
> ...
> झरझर रव भूधर का

वधिर विश्व के कानों में
भरते हो अपना राग
मुक्त शिशु पुनः पुनः एक ही राग अनुराग !

विद्रोही कवि को भलीभाँति ज्ञात है कि संसार में नवजीवन का आकलन और उन्मेष विप्लव के निर्दय प्लावन से ही संभव है, अन्यथा नहीं। सम्पूर्ण जीवन के नये-नये अंकुरों को विकास देने वाले इस वादल के साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव करके ही कवि गा उठता है—

आज श्याम धन, श्याम, श्याम छवि,
मुक्त कंठ है, तुम्हें देख कवि,
अहो कुसुम, कोमल कठोर कवि,
शत-सहस्र नक्षत्र-चन्द्र-रवि-संस्तुत
नयन मनोरंजन
वने नयन अंजन।

विप्लव के वादल की तरह कवि भी अपने व्यक्तित्व, स्वभाव और सृजन में कुसुम, कोमल और कठोर कवि है। 'जागो फिर एक वार' में इन दोनों प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है—

जागो फिर एक वार।
प्यारे जगाते हुए हारे सव तारे तुम्हें
अरुण-पंख तरुण-किरण
खड़ी खोल रही द्वार—
जागो फिर एक वार !

में कोमल भावना का प्रभाव है तो—

जागो फिर एक वार।
समर में अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु-से
सिन्धु नदी तीर वासी—
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरंग चमू-संग—

में ओजस्वी भावना के साथ जागरण का आवाहन है। यही है शिशु की तरह कुसुम-कोमल और वज्र की तरह कठोर निराला का विद्रोही काव्य-व्यक्तित्व और सशक्त साहित्य-सृजन। उनका सम्पूर्ण साहित्य हृदय की कोमलता, विचार का साहस, आत्मा के समरस सौजन्य और निर्भय आचरण के हास-व्यंग की त्रिवेणी से मुखरित है। उनका साफ-साफ कहना है—

मेरे प्राणों में आओ!
गाने दो प्रिय, मुझे भूलकर
अपनापन-अपार जग सुन्दर
खुली करुण उर की सीपी पर
स्वातीं जलनित बरसाओ।
मेरे स्वर की अनल शिखा से
जला सकल जग जीर्ण दिशा से
हे अपरुष, नवरूप-विभा के
चिर स्वरूप पा के जाओ।

कुल रीति के अनुसार चौदह वर्ष की अवस्था में निरालाजी का विवाह हो गया था। पत्नी रूप में उन्हें केवल गृह लक्ष्मी ही नहीं, जीवन की सरस्वती भी जैसे मिल गयी। तबसे बराबर प्रायः पूरी अर्द्धशती तक अपने विद्रोही सृजन से उन्होंने हिन्दी साहित्य-भांडार को जिस क्षमता और सजगता के साथ पूर्ण किया है, उनकी वहुसंख्यक कृतियाँ साक्षी हैं। कविता के प्रति उनका यह प्रथम सम्वोधन है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह।

और इसके बाद उनके काव्य में मुक्त छंद का अवाध प्रवाह एक प्रखर प्रभात के उद्दाम वेग से, पथ के झाड़-झंखाड़, कंकड़-पत्थरों को उखाड़ता-तोड़ता, प्रवाहित हो चला। सरस्वती से आचार्य द्विवेदीजी ने उनकी प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली' छंद-हीन होने के कारण लौटा दी और दूसरी कविता बख्शीजी ने भाव-हीन, छंदहीन कह कर लौटा दिया। इस घटना की मार्मिक स्मृति के साथ कवि ने अपने साहस का ही उल्लेख किया है—

तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त
लिखता अबाध गति मुक्त छंद,
पर सम्पादकगण निरानन्द
वापस कर देते पढ़ सत्वर
एक पंक्ति-दो में उत्तर।

इस दुर्घटना की प्रतिक्रिया उनके निराशा का कारण नहीं बनती, उल्टे उनका आत्म विश्वास और साहस कई गुना बढ़ गया :

यह हिन्दी का स्नेहोपहार,
यह नहीं हार मेरी भास्कर
यह रत्न हार लोकोत्तर वर।
अन्यथा जहाँ हैं भाव शुद्ध
साहित्य-कला-कौशल-प्रबुद्ध
हैं दिए हुए मेरे प्रमाण।

इसी आस्था के अडिग बल पर वह अपनी रचना को विस्तार देते गये, जैसे अचल पर्वत, झंझा के झोंकों की उपेक्षा करता हुआ अपने हृदय के अपराजेय स्रोत को निरन्तर गतिशील रखता है :

एक साथ जब शतघात चूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण,
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर-क्षेप, वह रण कौशल।

कला-कौशल के लिए उन्हें जिस रण-कौशल का सामना करना पड़ा है, उसे स्मरण कर आज भी रोमांच हो उठता है। परन्तु उन्होंने किसी से कुछ नहीं कहा, पानी पर तलवार चलाते-चलाते लोग स्वयं थक गये। इस अपलक खड़े तमाशा देखने का एक कारण और है, निराला का विप्लव-विद्रोह सामूहिक कल्याण की मंगलता से स्निग्ध बना रहता है, जैसे बादल में बिजली। उन्होंने अपने अन्तर के उत्साह को सहेजा :

बादल गरजो !
घेर-घेर घोर गगन, धाराधर ओ !

ललित-कलित काले घुँघराले
बाल-कल्पना के-से पाले
विद्युत् छवि उर में, कवि
वज्र छिपा, नूतन कविता
फिर भर दो।

'वज्र छिपा' में कवि का संयम और 'नूतन कविता फिर भर दो' में उसका साहस स्पष्ट है। उसका उत्साह अविचलित है। उत्साह वीर रस का स्थायी भाव भी तो है, अस्तु—

तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा—
पत्थर की, निकले फिर गंगा जलधारा
गृह-गृह की पार्वती
पुनः सत्य सुन्दर शिव को सँवारती
उर-उर की बनो आरती
भ्रांतों की निश्चल ध्रुवतारा!

यौवन स्वभावतः मुक्त होता है, निराला का मुक्त छंद छायावाद के यौवन का ही प्रतीक है। भाव, भाषा, छंद ही इस मुक्त अभिव्यक्ति में उनको सम्पादकों, सामाजिकों, परम्परा के पंडों, प्राचीनता प्रेमियों, राजनीतिकों और स्वयं साहित्यिकों से कितना उलझना-सुलझना पड़ा है, उसकी कथा न कहना ही अच्छा है। महादेवी जी के निराला विषयक ये शब्द सदा स्मरणीय रहेंगे—'अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों से उन्होंने कभी ऐसी हार नहीं मानी जिसे सह्य बनाने के लिए हम समझौता कहते हैं। स्वभाव से उन्हें वह निश्छल वीरता मिली है, जो अपने बचाव के प्रयत्न को भी कायरता की संज्ञा देती है। उनकी वीरता राजनीतिक कुशलता नहीं, वह तो साहित्य की एक निष्ठता का पर्याय है। छल के व्यूह में छिपकर लक्ष्य तक पहुँचने को साहित्य लक्ष्य प्राप्ति नहीं मानता। जो अपने पथ की सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष बाधाओं को चुनौती देता हुआ, सभी आघातों को हृदय पर झेलता हुआ लक्ष्य तक पहुँचता है उसी को युगस्रष्टा साहित्यकार कह सकते हैं। निरालाजी ऐसे ही विद्रोही कलाकार हैं। जिन अनुभवों के दंशन का विष साधारण मनुष्य की आत्मा को मूर्छित करके उसके सारे जीवन को विषाक्त बना देता है, उसीसे उन्होंने सतत् जागरूकता और मानवता का अमृत प्राप्त किया है।'

विरोध, यंत्रणा और वेदना के आघातों को पार करने पर ही विजयी सत्य की उपलब्धि होती है। सम्पूर्ण सृष्टि, भीषण अंधकार को पार करने के पश्चात् ही प्रकाश की प्राणदा भेंट पाती है। इसी सत्य की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति, साहित्य के द्वारा मुक्त, उच्च और सुखी मानवता का आदर्श उपस्थित करना निराला के जीवन-दर्शन का एकमात्र ध्येय है। उनमें हर समय और हर किसी के अन्याय, अत्याचार और अकल्याणकारी प्रवृत्तियों के विरोध की, रोक-टोक की जो सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, उसके कारण बहुतों में, सत्य को स्वीकार न करने वालों में उनके प्रति विद्वेष एवं दुर्भावना का जग जाना अनिवार्य था, और हुआ भी यही। परन्तु उन्होंने कभी इसकी न तो चिन्ता की न परवाह। भगवान् राम की ग्लानि के ऊपर 'राम की शक्ति पूजा' में बौद्धिक चेतना की विजय का जो विश्वास बोल रहा है, वह स्वयं निराला का अपना ही विश्वास है—

> धिक् वह जीवन जो पाता ही आया विरोध,
> धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध,
> जानकी ! हाय, उद्धार, प्रिया का न हो सका,
> वह एक और मन रहा राम का जो न थका,
> जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,
> कर गया भेद वह माया वरण प्राप्त कर जय,
> बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत-गति, हत चेतन।
> राम में जगी स्मृति, हुए सजग पा भाव प्रमन !

निराला के काव्य में भावना के साथ वेदांत दर्शन के अध्ययन, मनन से प्राप्त प्रबुद्ध बौद्धिक चेतना का रसायनिक सम्मिश्रण पाया जाता है। इसीलिए उनकी भावुकता कभी उनकी बोध-वृत्ति को आत्मसात नहीं कर सकी। भाव के सौन्दर्य-बिम्ब और वस्तु के रूप-विधान में चेतना का समन्वय उनके काव्य की बहुत बड़ी विशेषता है। यही उचित भी है, क्योंकि वास्तविकता के ठोस आधार पर प्रतिष्ठित भाव-निष्ठा में कभी भी वस्तु निष्ठा को खोना सम्भव नहीं। समन्वित अनुभूति विचार-सौन्दर्य की भूमिका में स्थित होकर कला की जो शक्तिशाली अभिव्यक्ति करने में समर्थ है, वह उनके [illegible] पर बहुत कठिन है। वास्तव में वास्तविकता का ग्रहण अनुभूति और चिन्तन के समन्वय से ही सुन्दर होता है। उनके काव्य में एक ओर कविता को दृष्टि से

वंधन से मुक्त करने की माँग है, माधुर्य में ओज भरने की चाह है, रुढ़ि को ध्वस्त कर उसकी जगह भव्य विराट् की प्रतिष्ठा का आग्रह है, नयी शैली और नये भाव-विचार की उद्भावना की आकुल आकांक्षा है, नये-नये प्रयोगों की अभिव्यंजना है, तो दूसरी ओर मानव मात्र के प्रति करुणा का अक्षत स्रोत है, दीन-हीन के प्रति ममता का अविरल प्रवाह है। ऐसी साधना भावना और चेतना के समन्वय से ही साध्य है।

छायायुग के उत्कर्ष काल में जिन विषयों को नितांत अछूत समझा जाता था, उसके कल्पना कुंज में जिनका प्रवेश निषिद्ध था, उनमें अपनी प्रतिभा के सहज प्रकाश को विकीर्ण करने में निराला को कोई झिझक नहीं हुई। 'परिमल' की 'विधवा,' 'भिक्षुक', 'दीन' तथा अन्य वहुत-सी कविताएँ तत्कालीन भाव-धारा के विरुद्ध उनके विद्रोहात्मक विन्यास से सजग, चेतन और स्पंदित हैं। उस समय भी अपने लिए घोर उत्पीड़न और दूसरों के लिए 'क्रीड़नव' बनकर निरलंकार कवित्व की अविराम धारा 'किसी महाकवि के कलित कंठ से', कुसुम दल की तरह झरती रहती थी, तो वह निराला ही थे :

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर-काल-तांडव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है!

इस कविता में विधवा की व्यथा, उसकी दिव्यता और कवि के विद्रोह और व्यंग की परिणति वहुत ही मार्मिक है। 'दलित भारत' में राष्ट्र की सांस्कृतिक च्युति के प्रति क्षोभ और 'की ही विधवा है' में यह संकेत है कि इतनी पीड़ित और असहाय विधवा संसार के और किसी कोने में नहीं मिल सकती। पतिमुक्त विधवा को 'इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी' कह कर कवि धर्म के प्रति विद्रोह को भी व्यक्त करता है। विधवा के लिए कवि ने उपमाओं की एक ऐसी लड़ी गूंथ दी है, जो उसकी करुणा, पवित्रता और विवशता को मार्मिक ढंग से व्यक्त करने के साथ नितांत नवीन और अर्थवाही है।

सन् चौदह से लेकर इकसठ के वीच तक के समय की सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक विचार धाराओं का जो सजीव नियोजन हमें निराला-साहित्य में मिलता है, वह किसी अन्य कवि में नहीं। यही धारणा है कि उनके

काव्य-व्यक्तित्व भावुक-कवि-कलाकार की सीमा पार कर एक जागरूक युग-पुरुष की महिमा में मंडित और आलोकित है। भाव-विचार एवं कल्पना-अनुभूति की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उनका निश्चय है—

करना होगा यह तिमिर पार
देखना सत्य का मिहिर द्वार—
वहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय—
लड़ना विरोध से द्वन्द्व समर
रह सत्य मार्ग पर स्थिर निर्भर।

अपने इस निश्चय के लिये उन्हें जीवनव्यापी अंधकारपूर्ण विषम परिस्थितियों से लड़ना जूझना और विद्रोह करना पड़ा है। सबसे पहली चोट स्वजातीय लोगों पर है—

ये कान्यकुब्ज-कुल कुलांगार
खाकर पत्तल में छेद करें
इनके घर कन्या अर्थ-खेद।

दूसरी चोट अर्थ-पिशाचों पर—

लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ समर।

है वहाँ मान,
इसलिए वड़ा है एक, शेष छोटे अजान,
पर सान जहाँ,
देखना-बड़े, छोटे, असमान, समान वहाँ—
सब सुहृद् वर्ग
उनकी आँखों की आभा से दिग्देश स्वर्ग!

तीसरी राजनीतिकों पर—

वायुयान से, भारत पर रखता चरण कमल,
पत्रों के प्रतिनिधि दल में मच जाती हलचल,
दौड़ते सभी, कैमरा हाथ, कहते सत्वर
निज अभिप्राय, मैं सभ्य मान जाता झुककर,
होता फिर खड़ा इधर को मुख कर कभी उधर,

बीसयों भाव की दृष्टि सतत नीचे ऊपर,
फिर देता दृढ़ सन्देश देश को मर्मान्तिक,
भाषा के बिना नर हती अन्य गंध प्रांतिक।

इनके साथ लोक-रीति, कुल परम्परा, धार्मिक जीर्ण मान्यता पर भी अपने इस वज्र प्रहार में वह नहीं चूके। प्राचीन भार ढोने में अपने को अक्षम मानकर अपनी एकमात्र कन्या का विवाह 'आमूल नवल ढंग' से कर दिया। दामाद से कहा—

तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम
मैं सामाजिक योग के प्रथम,
लग्न के, पढ़ूँगा स्वयं मंत्र
यदि पंडितजी होंगे स्वतंत्र।

इतना ही नहीं उन्होंने यह भी किया और लिख भी दिया—

माँ की कुल शिक्षा मैंने दी
पुष्प-सेज तेरी स्वयं रची
सोचा मन में वह शकुंतला,
पर पाठ अन्य यह अन्य कला!

यह है चिर विद्रोही महाप्राण निराला का सक्रिय विद्रोह। भाग्य धर्म, समाज, सभी की संकीर्ण सीमाओं पर प्रहार करते हुए उन्हें तोड़ने-फोड़ने की उनमें जन्मजात बात है। सीमा तो वे स्वीकार ही नहीं करना चाहते। 'पंचवटी-प्रसंग' में राम सीता से कहते हैं—

छोटे से घर की लघु सीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव,
यह सच है प्रिये,
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।
प्रेम की महोर्मि-माला तोड़ देती क्षुद्र ठाट
जिसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण सम बह जाते हैं।

मूर्ति पूजा के प्रति भी उनका विद्रोह है—

"मूर्तियों की पूजा के प्रसाद स्वरूप एक भाई के सिर पर दोहत्था लट्ठ धमकने वाले मूर्ति-पूजन का कितना बड़ा तत्व जानते हैं, यह तो रोज साबित हुआ करता है। इस पैसे के स्वार्थ में अशक्त एक अजीव मूर्ति को जान लेने के लिए तैयार धनी मूर्ति-पूजक जी अपनी उस प्रकार की स्थिति में डटे हुए विश्व को हिला देंगे। पुरुष और स्त्रियों में देव और देवियाँ नहीं, पत्थरों में हैं, पर हमारे ठाकुरजी तो मंदिर के अहाते से बाहर भी नहीं निकल पाते न हमारे ज्ञान से और न अपने कर्मों द्वारा। इसलिए हम आज समाज तथा साहित्य में अपनी बहुत दिनों की भूली हुई उस शक्ति को आमंत्रित करना चाहते हैं, जो अव्यक्त रूप से सबमें व्यक्त, अपनी ही आँखों से विश्व को देखती हुई अपने ही भीतर उसे डाले हुए है, पानी की तरह सहस्रों ज्ञान-धाराओं में बहती हुई, स्वतंत्र, किरणों की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर, उज्जवल, अम्लान, मृत्यु की तरह नवीन जन्मदात्री, सर्व शाखाओं की तरह अगणित प्रसार से फैली हुई, प्रत्येक मूर्ति में चिर कमनीय।"

समस्त विश्व प्रकृति को, समस्त प्राणियों को अपने में समाहित करने वाले कवि का यह विद्रोह कितना व्यापक, विराट् और समभाव की अभेद दृष्टि से आलोकित है, कहने की आवश्यकता नहीं।

हिन्दी भाषा और साहित्य का यह सौभाग्य रहा है कि अपने जन्मकाल से ही उसे शासन और राजनीतिकों से लोहा लेना पड़ा है जिससे उसका जीवन निरन्तर शक्ति-शाली ही बनता गया है। जब देश गुलाम था तब और स्वतंत्र होने पर भी उसका संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। भाषा और साहित्य के रूप, प्रयोग और व्यापकता के लिए इस युग में निराला ने सबसे अधिक संघर्ष और विद्रोह किया है। मनमानी विमूढ़ राय देने वाले अपरिणामदर्शी राजनीतिकों से उनकी बराबर मुठभेड़ होती रही है। उन्होंने लिखा है—'यथार्थ साहित्य नेताओं के दिमाग के नपे-तुले विचारों की तरह, आय-व्यय की संख्या की तरह, प्रकोष्ठों में बन्द होकर नहीं निकलता। उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा में नहीं आता। ऐसे ही साहित्य से राष्ट्र का यथार्थ कल्याण हुआ है। जब कुछ खास आदमियों के कल्याण की बात सोची जायगी, तब कुछ खास आदमियों का अकल्याण भी साथ-साथ होगा। प्राचीन बड़े-बड़े साहित्यकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही, क्योंकि सब तरह की अभिव्यक्तियाँ साहित्य में होती हैं। बड़े-बड़े साहित्यिकों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है। कठिन भावों को व्यक्त करने में प्रायः भाषा भी कठिन हो गयी है। जो

मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव तथा भाषा की उतनी ही गम्भीरता तक पैठ सकता है और पैठता है। साहित्य में भावों की उच्चता का ही विचार रखना चाहिये। भाषा भावों की अनुगामिनी है। साहित्य के व्यापक अंगों में राजनीति भी उसका एक अंग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी चाहता है, पर जो लोग राजनीति के क्षेत्र से यह प्रचार करते हैं कि पहले अधिकार तब सुधार, उनके इस गुरु प्रभाव से वह दबना नहीं चाहता। वह बहिर्जगत् को अन्तर्जगत के साथ मिलाता है। साहित्यिक के अनुसार भारतीयों की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादग्रस्त भयंकर रूप है। जिस बिगाड़ का अंकुर भीतर हो, उसका बाहरी उपचार बाहरी ही है, गंदगी पर इत्र का छिड़काव। मानसिक रोग मानसिक सुधार से ही हट सकता है। साहित्य की महत्ता यहीं सिद्ध होती है।'

महात्मा गांधी और प० नेहरू से भी उन्होंने इन विषयों पर विचार विनिमय किया था और अपने अकाट्य तर्क उनके सामने रखे थे। उनके साहस और विद्रोह की ये वे अजर-अमर रेखाएँ हैं, जिन्हें इतिहास कभी मिटाने में समर्थ नहीं होगा। सबसे बड़ी बात यह है कि भ्रम, रूढ़ि, संकीर्णता तथा किसी भी बुराई के विरुद्ध उनका विद्रोह बड़े ही कलात्मक ढंग से व्यंजित हुआ है। इसलिए व्यक्तिगत राग-द्वेष की गंध उसमें नहीं आने पायी। अपने विद्रोह की भावुकता में कवि का 'यौवन दुर्द्धष कर्ष-मर्ष' से लड़ा तो अवश्य, परन्तु उसमें एक संयम के साथ विरोधियों के प्रति सहानुभूति भी है—

हाय, दैव, दव ही दव
बन्धु को मिला।
कुहरित भी पंचम स्वर,
रहे बन्द कर्ण कुहर,
मन पर प्राचीन मुहर,
हृदय पर शिला!

यह भी सच है कि एक व्यापक उद्देश्य के लिए विघ्न-विषम प्राचीन तूफानी विद्रोह से उलट देने में भी उन्हें कभी कोई शंका नहीं हुई। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि नवीनता के आकर्षण और पुरातनता के प्रति विद्रोह का अर्थ यह नहीं कि निराला ने अपनी स्वस्थ संस्कृति अथवा परम्पराओं की अभिव्यक्ति नहीं की है। 'यमुना के प्रति', 'तुलसीदास,' 'महाराज शिवाजी का पत्र, तथा

'जागो फिर एक बार' में जातीय गौरव, अतीत के प्रति सम्मान, स्वरूप प्राचीन परम्पराओं के प्रति अनिद्य आस्था का उदात्त व्यक्तीकरण हुआ है। अतीत-वर्तमान के आदान-प्रदान पर ही भविष्य की कल्पना गतिशील होती है—

कठिन-शृंखला बजा-बजाकर
गाता हूँ अतीत के गान,
मुझे भूले पर उस अतीत का
क्या ऐसा ही होगा ध्यान?
शिशु पाते हैं माताओं के—
वक्षस्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पातीं शिशु के—
अधरों पर अपनी मुस्कान।

जो साहित्यकार अपने उच्च उद्‌गम को समझ लेता है, वह व्यष्टि में रहकर भी, परिवार की परिधि पाकर भी अपने प्रसार में पारावार बन जाता है। इस प्रसरण शक्ति के विकास का ही रूप युग धर्म होता है। अनेकानेक प्रचीन बातें, प्राचीन राहें, प्राचीन चाहें और आहें, प्राचीन रंग-ढंग, प्राचीन आचार-व्यवहार और प्राचीन भाव-विचार युगधर्म के आग्रह पर अपना स्वरूप बदलना चाहते हैं, कुछ स्वेच्छा से कुछ समय के दबाव की विशेषता से। साहित्य इस क्रिया में आवेश भरता चलता है, इसीलिए वह सतत गतिशील और जीवित माना जाता है, अन्यथा मृत या पिछड़ा हुआ। साहित्य में निराला का विद्रोह इसी गति की आकांक्षा का प्रतिफल है। 'देवी' कहानी में उन्होंने स्वयं अपने प्रति छायायुग के पूरे आन्दोलन के प्रति व्यंग और विद्रोह का स्वर ऊँचा किया है। कहानी की पगली का जीवन समाज के ठेकेदारों, राजनीतिकों, नेताओं के साथ कला और साहित्य के उन महारथियों पर भी बहुत ही तीक्ष्ण और मर्मांतक व्यंग है जो केवल साहित्यक आभिजात्य के रंगमहल में बैठे रहकर उसकी नींव की ईंटों दीनहीन उपेक्षित साधारण जनों को सर्वथा भूल जाते हैं। यहाँ भी उनका लक्ष्य व्यक्ति विशेष न होकर वह सामाजिक व्यवस्था है, जिसमें ऐसी विषम कुरीतियों के पोषण को प्रश्रय मिलता है। 'मतवाला' के माध्यम से छायावादी भाव-तन्मयता के दिनों में भी अपने विद्रोह का 'चाबुक' वह बराबर चलाते रहे थे। अपने पौरुष, क्रांतिकारी विचार और विद्रोह से छायायुग को जो गतिमत्ता उन्होंने दी है, उसकी समानता मिलनी सहज नहीं। व्यक्तिगत संवेग के साथ

व्यापक संवेदना की महार्घता में वह अकेले हैं।

निराला का विद्रोह वास्तव में उस प्रचंड आँधी की तरह है जो मृत जीर्ण-शीर्ण तिनकों और नीरस सूखे विवर्ण पत्तों को उड़ाकर धरती में नये-नये बीजों को बिखेर देती है, सड़ी-गली अकारण स्थान घेरने वाली वस्तुओं को हटाकर उपयोगी और नूतन के लिए जगह बना देती है, अंध से अंध गुहा के भीतर घुसकर वहाँ के जीवन को अपने झोंकों से स्पंदित कर देती है, पुराने निष्फल पादपों को उखाड़कर धराशायी कर देती है, और मुक्त गति के साथ जीवन की चिर विकासशील हलचल का पता देती हुई समस्त धरातल को अपनी प्रचंड बाहों में भर लेती है। जो देखने में उच्छृंखल, किन्तु उद्देश्य में सुश्रृंखलित तथा परम उपयोगी है, ऐसे विद्रोह की प्रेरणा का आधार कभी व्यक्तिगत जीवन की सुख-सुविधा न होकर, सामूहिक जीवन का नवोन्मेष ही होता है, ठीक प्रलयंकर शिव के तांडव नृत्य की भाँति।

छायायुग के साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूपों में सम्बन्धित होते हुए भी इसमें व्याप्त प्रचलित दुर्बलताओं की कभी निराला ने उपेक्षा नहीं की। उनकी अति मधुरता, श्रृंगारिकता, लघु चित्रों की बहुलता, भाव-क्षेत्र की संकीर्णता के विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया और उसे दिगन्त में व्याप्त करने की सफल साधना भी की। उन्होंने लिखा है "हिन्दी की मधुरता के साथ इस समय विशेष ओज की भी जरूरत है।" उन्होंने स्वयं अनेक ओजस्वी रचनाओं की सृष्टि भी की। श्रृंगारी अतिशयता से ऊबकर वीर, रौद्र, रसों की उद्भावना की। 'राम की शक्ति पूजा' में करुण, वीर तथा रौद्र रसों का अत्यन्त सफल समन्वय हुआ है। विराट् चित्रों के तो वह विधाता ही हैं। गीष्म का प्रलयंकर चित्र देखिये—

> यह सान्ध्य समय
> प्रलय का दृश्य भरता अम्बर,
> पीताभ, अग्निमय, ज्यों दुर्जय
> निर्धूम, निरभ्र, दिगन्त प्रसर
> कर भस्मीभूत समस्त विश्व को एक शेष,
> उड़ रही धूल, नीचे अदृश्य हो रहा देश।

इस विराट् भीषण ज्वाला को शान्त करने के लिए वर्षा का चित्र भी स्पृहणीय है—

झर झर निर्झर, गिरि-सर में
घर, मरु, तरु, मर्मर, सागर में,
सरित्, तड़ित-गति-चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन, में रव घोर-कठोर—
राम अमर अम्बर में भर निजरोर।

... ...

छाया ऊपर घन-अन्धकार—
टूटता वज्र दह दुर्निवार।
नीचे प्लावन की प्रलय-धार, ध्वनि हर-हर।

इस चित्र में संगीत का जो नियोजन है, ध्वनि--विन्यास का जो कौशल है, वह निराला-काव्य की निजी विशेषता है। शब्द और नाद की इसी क्षमता के बल पर हिन्दी के जातीय छंद कवित्त की गति पर उन्होंने जातीय मुक्त छंद की रचना की है, जो उनकी कीर्ति का विजय स्तम्भ है। यही छंद आज केवल हिन्दी में ही नहीं वरन् समस्त भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त हो रहा है।

इस निराला छंद की रचना के साथ ही उन्होंने अपने गीतों में खड़ी बोली की प्रकृति के अनुसार उसके भाव-प्रकाश के अनुकूल उसके संगीत को भी सँवारा है। 'गीतिका' की भूमिका के ये शब्द "मैंने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है। ह्रस्व-दीर्घ की घट-बढ़ के कारण पूर्ववर्ती गवैये-शब्दकारों पर जो लांछन लगता है, उससे भी बचने का प्रयत्न किया है। दो-एक स्थलों को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह संगीत-लहरी छंदशास्त्र की अनुवर्तिता है। जो संगीत कोमल, मधुर और उच्च भाव तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है, उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है। ब्रज-भाषा के पदों के गाने वाले उस्ताद, प्राचीन उत्तरी संगीत-स्कूल के कलावंत, मेरे गीत गा न सकेंगे, यह मैं जानता था और इस ज्ञान के आधार पर गीतों की स्वर-लिपि मैं स्वयं करना चाहता था, पर कुछ ऐसी परिस्थिति मेरी रही कि सब तरफ से अभाव ही अभाव का सामना मुझे करना पड़ा। एक अदद हारमोनियम की गुंजाइश भी मेरे लिए नहीं हुई। मेरी सरस्वती संगीत में भी मुक्त रहना चाहती है, सोचकर मैं चुप हो गया।" जो भी हो, पर इतना तो निश्चित है कि निराला के गीतों में संगीत, सौन्दर्य, अनुभूति और चिंतन के

भाव, भाषा और ओज का जो निरंतर विकास पाया जाता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गीतों में भी विविध प्रयोगों की निशानी दर्शनीय है। एक उदाहरण मात्र—

स्पर्शों से लाज लगी,
अलक-पलक में छिपी छलक
उर में नव राग-जगी।
मुस्कान-भरित मधुरिम चंचल
फिर फेर मुख, कर यह मृग-दृग
काँपी हाथ, फिर आँख, ग्रीवा-चल
उर गरिमा उमगी।

शैली, भाव, भाषा की दृष्टि से निराला ने जितने अधिक प्रयोग किये हैं, उनके अनुशीलन से आश्चर्य होता है। वे कभी एक भाव, रस या विचार में नहीं टिके बल्कि अपने विशाल आलोक की अभिव्यक्ति का नया-नया माध्यम खोजते रहे। जीवन के साथ उनकी निरन्तर गतिशीलता का यही सबसे बड़ा प्रमाण है। महायुद्ध के बाद भी जब उनका मेल नहीं हो सका तब उन्होंने सिन्धु राग का उत्थान किया, प्रकृति का आह्वान किया—

एक बार बस और नाच तू श्याम।
सामान सभी तैयार,
कितने ही हैं असुर, चाहिये तुझको हार ?
कर मेखला-मुण्डमालाओं से बन मन अभिराम—
एक बार बस और नाच तू श्याम।

'राम की शक्ति पूजा' लिखने वाले कवि ने समय के अनुकूल, 'कुकुरमुत्ता' की भी रचना की, जो भाषा, भाव और नितान्त नूतन प्रयोग की दृष्टि से प्रयोगवाद का उत्स आधार है। अपनी ध्वनि सृष्टि और अर्थ व्यंजना, में छन्द व्यंग की बहुलता में, भाषा की सरल बातभंगिमा में तथा शोषण और कृत्रिमता पर प्रहार करने की तत्परता में यह कविता जिस युग-धर्म का प्रतिष्ठापन करती है, वही प्रयोगवाद तथा नयी कविता की आधार-शिला है। दलितों एवं पीड़ितों की चेतना में निराला ने जागृति की जो प्रकाश-रेखा अंकित करने की चेष्टा की है, जो अहं उनमें भरना चाहा है, वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिजों का स्पर्श करता हुआ बहुत ही व्यापक और विराट् हो उठा है। 'कुकुरमुत्ता' जैसे [illegible]

के शोषितों, उपेक्षितों की ज्ञान-गीता है, उनको जगाने वाला यह है। उनकी कहानी 'देवी' और 'कुकुरमुत्ता' विद्रोह और व्यंग में अन्तर्राष्ट्रीयता और सार्वभौमिकता के स्पर्श से प्रबुद्ध और प्रभविष्णु हैं। गुलाब विदेशी संस्कृति के प्रेमियों और शोषकों का प्रतीक है। 'कुकुरमुत्ता' राष्ट्रीय संस्कृति के उपासक शोषित साधारण जन का प्रतिनिधित्व करता है—

अबे, सुन बे गुलाब,
भूल मत जो पायी, खुशबू, रंगोआब,
खून चूसा खाद का तूने अवशिष्ट,
डाल पर इतराता है कैपिटलिस्ट,
बहुतों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रक्खा, खिलाया जाड़ा-धाम,
हाथ जिसके तू लगा
पैर सर रख कर वह पीछे भगा
जानिब औरत की, लड़ाई छोड़कर
टट्टू जैसे तबेले को, तोड़कर,
शाहों, राजों, अमीरों का रहा प्यार।
इसलिए साधारणों से रहा न्यारा,
वरना क्या हस्ती है तेरी, पोच तू।

कविता का पूरा आनन्द तो उसके पूर्ण पारायण से ही प्राप्त किया जा सकता है, पर इसकी ये पंक्तियाँ पढ़िये—

नवाब ने कहा—चल गुलाब जहाँ थे, उगा
सबके साथ हम भी चाहते हैं अब कुकुरमुत्ता,
माली ने कहा, मुआफ़ करें खता,
कुकुरमुत्ता उगाया नहीं उगता।

नवाब की तरह विश्व के राष्ट्रनायक भी यदि 'कुकुरमुत्ता' का [illegible] स्वीकार कर लेते तो संसार की बहुत-सी समस्याएँ स्वतः हल हो जातीं। 'अधिकार-भोग पर मनुष्य मात्र का बराबर दावा है। जो यह समझता है, हम बड़े हैं, हम छोटे न होंगे, उसे मनुष्य कहलाने में [illegible] देर है। 'कुकुरमुत्ता' में समानाधिकार की अभेद दृष्टि का उन्मेष परिलक्षित है।'

'कुकुरमुत्ता' में 'एक बात' शीर्षक से कवि ने लिखा है—'युग के [illegible]

इसकी रूपरेखा है। पाठक आधुनिकता का आदर्श देखेंगे। लिखने वालों के लिए भी, भाषा और भावों के संस्कार से सुविधा कर दी गयी है। वे कविता के एक आधुनिक ढंग की भाषा की लीक पकड़ सकेंगे। किताब पढ़कर ज्ञान प्राप्त करना विज्ञप्ति पढ़ने से अच्छा है।'

इस कथन से स्पष्ट है कि इस कविता में जिस मानवीय चेतना के ऐतिहासिक विकास के अधुनातन काल को प्रबुद्धता-आधुनिकता का संकेत किया गया है, युग व्यापी जिस संवेदना को उभारा गया है, बुद्धिसाध्य जिस चिन्तन को प्रश्रय दिया गया है, बोलचाल की जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, व्यंग की जिस तीक्ष्णता का उपयोग किया गया है, वही आज की कविता की संचरण-भूमि है। प्रयोगवाद और नयी कविता इसी केन्द्र की पार्श्वछवियाँ हैं।

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान' में स्वीकार किया है 'कुकुरमुत्ता' में वे सभी तत्व मिलते हैं जो आधुनिक काव्य की भाव व्यंजना को स्वीकार करते हुए उन समस्त सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मान्यताओं को अंगीकार करते हैं जिनमें वस्तु का नयापन, शिल्प का प्रयोग और सर्वथा नयी परम्परा का सूत्र मिलता है।' नव लेखन के समर्थक श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी लिखा है—'सम्यक विश्लेषण इस तथ्य को स्पष्ट कर देगा कि नयी कविता की मूल वृत्तियाँ निराला से कितनी अधिक प्रेरित रही हैं। प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद के माध्यम से चलकर आने वाली कई महत्वपूर्ण वृत्तियाँ निराला के काव्य व्यक्तित्व से निःसृत हुई थीं, इसे निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है।'

अस्तु, आज के काल बिन्दु पर खड़े होकर जब हम अपने साहित्य के पिछले पचास वर्ष के इतिहास की ओर मुड़कर देखते हैं तब सहज ही में यह जान पाते हैं कि निराला का विराट्-विद्रोही व्यक्तित्व हमारी सारी साहित्य धरती को अपने विशाल और प्रबुद्ध सृजन की शीतल छाया से छाये हुए हैं। ऐसे प्रतिनिधि कवि, युग-पुरुष, महाप्राण, व्यक्ति के आदान का प्रतिदान हम इसी रूप में दे सकते हैं कि उनके द्वारा निर्मित पथ को प्रशस्त से प्रशस्तर प्रशस्तर से प्रशस्ततम करते चलें। इससे बढ़ कर उनके प्रति कृतज्ञता का कोई दूसरा साधन भी नहीं हो सकता। महादेवीजी की यह प्रेरणा हमें स्मरण रखना है—

'दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, सूर्य जब अपना आलोक वाही कर्तव्य उसे सौंपकर चुपचाप डूब जाता है तब जल उठना ही उसके अस्तित्व की शपथ है—जल उठना ही उसका जाने वाले को प्रणाम है।'

१६

निराला का विराट बादल व्यक्तित्व

दशदिक्व्यापी, सर्वाच्छादी तथा सर्वाभिषेकी वर्षोन्मद अषाढ़ की सजल श्यामल घटा को यदि आपने देखा है तो उसकी नीलम नीलिमा के भीतर निहित धरती के तापशमन, शस्यक्षेत्रों के दारिद्र-अपहरण एवं सूखे नदी-सरोवरों की सम्पत्ति-हीन कृशता को दूर करने के उसके उद्दीप्त आश्वासन, संकल्प और सर्वसुलभ करुणा का भी अवश्य ही अनुमान तथा अनुभव किया होगा।

स्वस्थ मांसल कजरी कपिला गाय के समान सर्ववत्सल उसकी मंद-मंथर गति सबके मनकी रिक्तता को सम्पूर्णतः भर देने में समर्थ होती है। सबके लिए मंगलमय परिपूर्णता का ऐसा कोई दूसरा प्रतीक नहीं। इसके सौन्दर्य, त्याग और गुणों की गणना न कर सकने के कारण ही महाकवि कालिदास ने उसकी उपमा शिव के कंठ से दी है, जो सौन्दर्य और मंगल के चरम अधिष्ठाता तथा अपने में पूर्ण आशुतोष हैं। निराला ने उसे—'ऐ त्रिलोकजित ! इन्द्रधनुर्धर ! सुरबालाओं के स्वागत—विजय ! विश्व में नवजीवन भर, उतरो अपने रथ से भारत। जैसे महिमा-मंडित शब्दों में स्मरण किया है।

विराट, अपने आप को विस्तारित करने के लिए बादल के भीतर से स्वतः एक ऐसी शक्ति उद्भूत होती है कि वह सारे आकाश को छा लेता है। उसकी सर्वत्र विहार-क्षमता को रोकने का साहस किसी को नहीं, क्योंकि वह कामरूप है। समस्त भौतिक व्यवधानों को तोड़ता-फाड़ता वह निरन्तर गतिशील रहता है। अन्तःसार की गुरुता के कारण वायु का वेग भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। भीतर से रिक्त, सारहीनों पर ही किसी का बल-प्रयोग सफल होता

है। दीपक को बुझा देनेवाली हवा आग के प्रज्वलन का कारण बनती है। भीतर से भरा-पूरा बादल वायु को अपना रथ बनाने में समर्थ होता है। निराला ने उसे—'**मंद चंचल समीर रथ पर उच्छृंखल**' कहा है।

सजल बादल की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह अपने सर्वस्व दान के पश्चात् स्वयं निश्शेष हो जाता है। रिक्त या हलका होने की स्थिति उसके जीवन में कभी नहीं आती। सर्वस्व दानियों की यही विशेषता होती है। अपने जल-दान से बादल समस्त संतप्त लोक को शीतलता तथा शान्ति देता है। केवल उसी के लिए यह कहा जा सकता है—संतप्तानांत्वमसिशरणम्।

आशय यह कि जलदागम से वनस्पतियां और ओषधियां वीर्यवती होती हैं, पशु-पक्षी पुलकित होते हैं और मनुष्य का हृदय प्राण के स्थूल रूप अन्न की आशा से आश्वस्त हो उठता है। इस प्रकार विराट बादल का प्रभाव चर-अचर, जड़-चेतन सब पर समान रूप से परिलक्षित होता है। इसीलिए उसे साधु, सौम्य, सुभग और आयुष्मान कहा गया है।

बादल का जलवर्षण वन्य-प्रकृति, निखिल जीव-जन्तु तथा मानवीय जीवन-विकास एवं पोषण के लिए अमृत द्रव है। उसके रस-सिंचन के पश्चात् ही पृथिवी बीज धारण के उपयुक्त एवं उर्वरा बनती है। स्पष्ट है कि बादल की आकर्षक आकृति, वर्णमयी रंगमयता, ध्वनि, गति और वृष्टि सभी सबके लिए स्फूर्तिप्रद और परमप्रिय हैं, किन्तु सामान्य जन-जीवन तथा गाँवों में इसका जो स्वागत-सत्कार होता है वह बहुत ही स्वाभाविक, सरल-सहज और प्रीति-स्निग्ध तथा आत्मीय होता है। कृषकों का तो यह जीवनाधार ही है। वे इस अकारण परोपकारी आगन्तुक का परम प्रेम से स्वागत करते हैं। वे जानते हैं कि कृषि का प्रवर्त्तक यही है। निराला ने इस ओर संकेत किया है—

जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!

बादल का सम्पूर्ण संचय, त्याग के लिए होता है, प्रजाओं के पालन के लिए होता है और इस अर्थ में वह प्रजापति भी है। उसकी ममता का कोष सबके लिये खुला रहता है, उसके उपहार से सभी पुष्ट और प्रसन्न होते हैं, किन्तु इस प्रजापतित्व की सार्थकता के लिए उसे कर्मानुसार दंड का भी विधान करना पड़ता है। प्रजाओं के उद्भव, स्थिति और संहार तीनों का वह अधिकारी है।

वस्तुतः अमृत-जीवन जल-वर्षा के साथ वह ओलों की ही नहीं,वज्र को भी वर्षा करता है। उसका यह कठोर रूप भी अपने उद्देश्य में कल्याणकारी ही होता है। ओले तो जैसे उसकी व्यंग्य बौछार हैं और वज्र, शक्ति के गर्व में ऊपर उठे हुए पर्वतों के अभिमानांकुरों को भंजन करने का अमोघ अस्त्र। प्रकृति पुरुष होने के नाते वह स्वयं प्रकृति के भीषण, उग्र तथा कठोर एवं मृदु, कोमल और शान्त रूपों का समीकरण है। निराला ने उसे—कुसुम कोमल, कठोर पवि—कहकर सम्बोधित किया है। बादल अपनी इस द्विविध प्रक्रिया से प्रकृति की द्वन्द्वमयी स्थिति को स्पष्ट करता है। उसके वास्तविक स्वरूप की अवगति के लिए यह उक्ति कितनी सार्थक है—

जानामित्वां प्रकृति पुरुषं कामरूपं मघोनः।

महाप्राण निराला के विराट व्यक्तित्व का पूर्ण तादात्म्य इसी प्रकृति-पुरुष बादल से ही सम्भव है। बादल पर लिखी उनकी दर्जनों कवितायें इसका ज्वलंत और जीवंत साक्ष्य उपस्थित करती हैं। मनीषियों की मान्यता है कि कवि की प्रतिभा बाह्य प्रकृति का ही अन्तःस्वरूप है। वस्तुतः उसमें बाह्य प्रकृति का द्वन्द्व पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। निराला के व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा में एक ऐसा साम्य पाया जाता है, जो विश्व के बहुत कम कवियों में मिलता है। इस व्यक्तित्व का बहुविध प्रकृतिरूप उनकी बादल-राग कविताओं में पूर्णतया स्पष्ट है। निराला के भैरव घोष भरे बादल व्यक्तित्व का एक विप्लवी चित्र देखिये—

ऐ निर्बन्ध !
अन्धतम-अगम-अनर्गल-बादल !
ऐ स्वच्छन्द !
मंद-चंचल-समीर-रथ पर उच्छृंखल !
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधा रहित विराट् !
ऐ विप्लव के प्लवान !
सावन घोर गगन के
ऐ सम्राट् !
ऐ अट्ट पर छूट टूट पड़नेवाले उन्माद !

विश्व विभव को लूट-लूट लड़नेवाले अपवाद !
श्रो विखेर, मुखफेर कली के निष्ठुर पीड़न ।
छिन्न-भिन्नकर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्रघोप से ऐ प्रचण्ड !
आतंक जमाने वाले !
कम्पित जंगम-नीड़ विहंगम,
ऐ न व्यथा पाने वाले !
भय के मायामय आंगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !

इस कविता में बादल के लिए प्रयुक्त सभी सम्बोधन निराला के लिये भी उपयुक्त ठहरते हैं। कविता को इस प्रकार रटिये और शब्द-शब्द में निराला को भेंटिये—

'हे बन्धनहीन, घोर से घोर अन्धकार (आपत्ति-अड़चन) में भी मुक्त, हे स्वतन्त्र, वायु के रथ पर (कल्पनालोक में) चलनेवाले उच्छृंखल (भाव-स्वातन्त्र्य के उपासक) मनमानी करने वाले। कहावत है कि—जैसे बहै बयार पीठ तब तैसी दीजे, परन्तु निराला इस परम्परा को मानकर नहीं चलना चाहते। हवा के रुख पर न चलकर वे हवा का रुख बदलना चाहते हैं। उनकी इच्छा है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !

'ऐ साहसी, अनन्त अभिलाषाओं के जीवन, हे मुक्त, हे विशाल, हे युगान्तर करनेवाली बाढ़ बहाने वाले, नयी काव्य-धारा को लक्ष्य करके निराला ने लिखा है—

बहने दो,
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है ?
गरज गरज वह क्या कहती है, कहने दो—
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो !

सावन की तरह मेघाच्छन्न भावों के मनोनभ के स्वामी, ऐ रुढ़ियों पर

आक्रमण करने वाले पागलपन, विश्व के वैभव (शोषण-संचित सम्पत्ति) को लूटकर लड़ने वाले अपवाद, (लूट का साहस सबको नहीं होता) ऐ कली को पीड़न के द्वारा विकास देने वाले, (सौन्दर्य को विकसित एवं व्यापक बनाने वाले) पत्र-पुष्प, पादप, वन, उपवन (सम्पूर्ण प्राचीन प्रकृति) को छिन्न-भिन्न कर नया रूप देने वाले, वज्र (दृढ़ता) की गर्जना से स्वार्थरतों पर आतंक जमाने वाले प्रचण्ड, (नयी व्यवस्था को स्वीकार न करनेवालों के प्रति ऐ सहानुभूतिहीन) भय (भ्रम) के आँगन (केन्द्र) में युगान्तर का नवजीवन देने वाले बादल गरजो, जीर्ण-शीर्ण को ध्वस्त करने के लिए निर्भर हुँकार करो।'

इस प्रकार इस कविता में कवि ने संकीर्ण, अवरुद्ध तथा रूढ़िबद्ध जीवन में परिवर्तन, परिष्कृति तथा गति लाने के लिये ही विप्लवकारी बादल का रूप सामने रखा है, जो कवि के व्यक्तित्व की बाह्य प्रकृति मात्र है। सामूहिक मुक्ति ही इस कविता की, इस विप्लवी मेघगीत की मूल प्रेरणा है।

निराला को यह भलीभाँति ज्ञात है कि 'निर्दय विप्लव की प्लावित माया' के बिना संसार में सामूहिक उन्मेष न कभी हुआ और न होगा। इसीलिये कवि विप्लवी बादलों का आह्वान करता है—

> तिरती है समीर सागर पर
> अस्थिर दुख पर सुख की छाया—
> जग के दग्ध हृदय पर
> निर्दय विप्लव की प्लावित माया!
> यह तेरी रणतरी
> भरी आकांक्षाओं से,
> घन, भेरी गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
> उर में पृथ्वी के, आशाओं से
> नवजीवन की, ऊँचा कर सिर,
> ताक रहे हैं ऐ विप्लव के बादल!
> फिर फिर!

और जब विप्लवी बादल गरजता है, मूसलाधार बरसता है, तब सारा संसार काँप उठता है। वज्रपात से बड़े-बड़े अभिमानी अचल पर्वतों के शरीर चूर-चूर हो जाते हो जाते हैं। केवल छोटे पौधे (साधारणजन) प्रसन्न होते हैं, क्योंकि 'विप्लव रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।' धनीमानी धारक की गर्जना

सुनकर कांप उठते हैं (क्रांति से घबड़ाते हैं) किन्तु जीर्णबाहु, शीर्णशरीर कृषक बड़ी उत्सुकता से उसका स्वागत करते हैं, क्योंकि यही बादल उनका जीवनाधार है। यह विप्लवी बादल निराला के चिरविप्लवी व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतीक है, इसमें सन्देह नहीं।

निराला ने अपने व्यक्तित्व के विविध परीक्षणों के अनुरूप बादल के विविध स्वरूपों का चित्रण किया है—

आज श्याम-घनश्याम, श्याम छवि,
मुक्तकण्ठ है तुम्हें देख कवि,
अहो कुसुम-कोमल कठोर पवि !
शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र-रवि-संस्तुत
नयन मनोरंजन !
बने नयन अंजन !

इस कविता में निराला ने बादल के बाहरी रूप और अपने व्यक्तित्व के स्वरूप को एक ऐसी विराटता में पर्यवसित कर दिया है कि विश्व के असंख्य रूपों में गतिशील चेतना हमारी आंखों में अंजन बनकर समाविष्ट हो जाती है। सभी वस्तुओं में आत्मतत्व और आत्मा में समत्व का यही सिद्धान्त मनुष्य और प्रकृति में एक ही आध्यात्मिक स्पन्दन की स्थापना करता है, जिसके अनुसार प्रकृति और मनुष्य एक ही व्यापक सत्य के अंग बन जाते हैं। वास्तव में आनन्द की प्रतीति तभी होती है जब हम अपनी आत्मा का संसार से और संसार की आत्मा का विराट भूमा की आत्मा से सहज एकत्व का अनुभव करते हैं।

मुक्त तुम्हारे मुक्त कण्ठ में
स्वरारोह, अवरोह, विघात,
मधुर मन्द्र, उठ पुनः पुनः ध्वनि
छा लेती है गगन, श्याम कानन,
सुरभित उद्यान,
झर-झर-रव भूधर का मधुर प्रपात !
बधिर विश्व के कानों में
भरते हो अपना राग,
मुक्त शिशु ! पुनः पुनः एक ही राग अनुराग !

यहां हमें निराला के मुक्त स्वभाव, वाणी के स्वर-ताल-लय का नाद साधन और उनके शिशु-सुलभ सरल एवं निश्चल हृदय का अनायास परिचय मिल जाता है। जीवन, जगत की नाना तूफानी स्थितियों, आपत्तियों, विपत्तियों, संघर्षों और कटुताओं के बीच अपने शिशु-सारल्य तथा क्रीड़ा-कौतुक को संजोये रखना निराला की निर्मल परमहंसी वृत्ति का अनन्य उदाहरण है। उन्होंने लिखा है—

क्षुद्र प्रफुल्ल जलज से
सदा छलकता नीर।
रोग-शोक में भी हँसता है
शैशव का सुकुमार शरीर!

'बादल-राग' की एक कविता निराला के सर्वस्वदानी करुणामय रूप को सबके सामने स्पष्ट कर देती है। इस कविता में कवि ने अपनी अनन्तधार अन्तर्बादल-प्रतिभा से सर्व मंगलमय रसवर्षण द्वारा अखिल विश्व को संसिक्त करने की कामना की है। यहां पहुँचकर कवि के भाव-अमृत-सिंचन का प्रसाद सबको समान रूप से प्राप्त होता है। अहं प्रेरित अपनत्व के भ्रम को छोड़ कर ही मनुष्य सच्चे अर्थों में स्वत्व का स्वामी बनता है, विश्व के साथ समभाव का अनुभव आकलन करता है। सर्वकल्याण ही दिव्यआत्मा का पोषण है और सर्वप्रेम ही उसकी प्रेम-विजय है—

झूम झूम मृदु गरज-गरज घनघोर।
राग अमर! अंबर में भर निज रोर!
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित्-तड़ित-गति-चकित पवन में
मन में, विजन-गहन-कानन में
आनन-आनन में, रव-घोर-कठोर—
राग अमर अंबर में भर निज रोर!
अरे वर्ष के हर्ष!
बरस तू, बरस-बरस रसधार!
उथल पुथल कर हृदय
मचा हलचल
चल चल
मेरे पागल बादल!

ताप-शाप, रोग-शोक तथा दुख-दारिद्र एवं विषमता की पीड़ा से लुंठित-कुंठित विश्व पर, उसके संवेदनात्मक स्पन्दनों पर अमृत की रसधार बहाने की यह अदम्य आकांक्षा निराला के व्यक्तित्व का उज्ज्वलतम रूप है। विराट सजल घटा की तरह अपने संघर्ष की भीषण ज्वाला तथा कसक की विद्युत को दबाये हुए कवि स्वयं आत्मज्ञान से द्वन्द्वातीत हो गया है। वह रुद्र-शक्ति से सम्पन्न होते हुए भी शिव है, कठोर पवि होकर भी कुसुम कोमल है, विप्लव का उद्घोषक होकर भी नवजीवन का पोषक है, अतिचेतन होकर भी पागल है, पूरा बमभोला शंकर का साक्षात प्रतिरूप ! अस्तु, निराला के व्यक्तित्व और प्रतिभा की विराट बहुमुखता एवं गहन गम्भीरता का मूल प्रतीक उनकी बादल-राग कवितायें हैं, जिनको पूर्णतया हृदयंगम कर लेने के पश्चात् कवि का विराट् बादल व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है।

इन कविताओं का शीर्षक बादल-राग बहुत ही साभिप्राय और सांकेतिक है। राग का मूल ध्वनि है। जो अक्षर या शब्द उच्चरित होते हैं उनसे वायु-मंडल में संक्षोभ होता है और उसमें लहरें उत्पन्न होती हैं, जो गतिशील होकर समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाती हैं। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी के किसी कोने में उच्चरित शब्द बेतार के तार द्वारा हम एक क्षण के सातवें हिस्से में सुन सकते हैं। प्रकृति में सक्रियता का इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिए ? इसी सक्रियता को भारतीय संस्कृति में प्राण शक्ति की संज्ञा दी गई है। बादल में प्राण जल-रूप में स्थित है। इस दृष्टि से कवि के प्राण और बादल के प्राण में कोई अन्तर नहीं है। सृष्टि के समस्त कार्यों का संचालक यही प्राण है और इस प्राण का उत्स शब्द ब्रह्म का सामगान है। संसार के निखिल रूप शब्द के स्पन्दन से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए प्रत्येक स्थूल आकृति के रूप के साथ उसका संगीत (राग) भी निहित रहता है। इस संगीत के स्वरों को पहचानकर यदि हम नाद या ध्वनि का विधान कर सकें तो वस्तु विशेष या व्यक्ति विशेष के रूप अणु संचालित होकर अपना संस्थान ध्वनि के अनुकूल बदलने लगते हैं। इसी प्रकृति-संगीत के परिज्ञान और अपनी साधु या सामवृत्ति से निराला ने अपने राग को बादल-राग और बादल-राग को अपना राग बनाने मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है। वे वास्तव में प्रकृति-पुरुष थे। उनका बादल-राग साम संगीतात्मक होने के कारण शाश्वत और कलातीत है। युगयुगों तक सर्वसुख-दायी वर्षा-ऋतु स्वयं इन कविताओं का भाष्य संसार के सामने उपस्थित करती रहेगी और जनता निराला के स्वरों में मुखरित होती रहेगी—

अलि, घिर आये घन पावस के।
लख ये काले काले बादल,
नीलसिन्धु में खिले कमल-दल,
हरति ज्योति, चपला अति चंचल,
सौरभ के रस के—
अलि, घिर आये घन पावस के!

१७

पन्त का प्रारम्भिक-काव्य

जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है, तो साहित्य उसके सहिता। इसी कारण साहित्य का महत्व जीवन से अधिक और स्थायी है। काव्य-कला साहित्य का एक प्रधान और अत्याधिक आनन्दमय अंग है। कवि अपनी भावनाएँ और इच्छाएँ इसी काव्य-संकेत से संसार के सामने रखता है। इसी से काव्य-कला सदैव सब के लिए आनन्दमय होती है। यों तो किसी भी कला-वस्तु पर दृष्टिपात किया जाय, वह सौन्दर्य के आश्रित है, और बिना सौन्दर्य के यह सारा संसार ही, जो ईश्वर की कला का कमनीय रूप है, फीका सा जान पड़ता है; किन्तु विशेषकर काव्य-कला का प्राण सौन्दर्य ही है। क्योंकि कलाकार सौन्दर्य के भावावेश के बिना कला की रचना नहीं कर सकता और यदि करे भी तो वह मनो मुग्ध-कारी नहीं होगी।

वास्तव में कला वही है, जो जीवन को सौन्दर्यपूर्ण कर दे और अपनी कमनीयता से, सुकुमारता से और स्निग्धता से सब जीवों को ओत-प्रोत कर दे। कला में सौन्दर्य का इतना महत्व होते हुए भी हमें इस बात को न भूलना चाहिए कि सौन्दर्य का शिव और सत्य के साथ चिरन्तन नाता है, अन्यथा वह सौन्दर्य नहीं है। क्योंकि जो सौन्दर्य मंगलमय नहीं है, उससे केवल आंखों को क्षणिक सुख मिल सकता है, किन्तु उसके वर्णन में कवि की कला निखरती नहीं, न उसमें कल्पना की तरंगे और भावों का प्रदर्शन ही रहता, जिनसे मनुष्य पार्थिवता से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता की ओर पहुँच पाता है। इस सर्वांग-सुन्दर की प्राप्ति के लिए साधना की, तपस्या की और तन्मयता की आवश्यकता

होती है। क्योंकि आत्मा बिना तपेश्वरी नहीं होती। हाँ, तो सौन्दर्य कविता का रूप और प्रेम उसका प्राण है। इस सौन्दर्योपासना तथा प्रेमोपासना की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न देश काल, तथा रुचि के कवियों ने भिन्न-भिन्न रूपों से की है। सुकुमार प्रकृति प्रधान कवि श्री सुमित्रा नन्दन जी पन्त प्रकृति-छवि से मुग्ध होकर अपने को उस परम सौन्दर्य की ओर ले गये हैं, और उसी की उपासना का संकेत उन्होंने भिन्न-भिन्न रूपों में किया है।

पन्तजी ने प्रकृति-सौन्दर्य की सुकुमार भावना का हिन्दी-संसार में बहुत ही सुन्दर सृजन किया है। उन्होंने अन्तर और बाह्य प्रकृति का, सुषमा-सौन्दर्य तथा रूपों को बड़ी दिव्य दृष्टि से देखा है। उनके लिए ऐसा होना स्वाभाविक भी है।

पन्त का कवि प्रकृति की पावन गोद में पला है, प्रकृति ने ही उसे कवि बनाया है। प्रकृति से ही उसने अपनी कविताओं के लिए सामग्री ली है, और प्रकृति के ही सुन्दर और विस्तीर्ण प्रांगण में उसकी अधिकांश कवितायें लिखी गई हैं। यही कारण है कि पन्त जी की कवितायें सरस और संगीतमय हैं।

यों तो किसी भी भावुक कवि की वे सभी कृतियाँ, जिनमें उसके हृदय का दुलार तथा मन की मिठास मिली रहती है, सबको परम प्रिय मालूम होती है, किन्तु प्रत्येक कवि का अपना रस तथा अपनी एक विशेषता होती है। पन्त जी ने प्रकृति में ही मानव जीवन की अनन्त धाराओं का सजीव दर्शन पाया है, और उसकी ओर समय-समय पर बड़े सुन्दर संकेत किए हैं। इससे पता चलता है कि प्रकृति इतनी विशाल होते हुए भी मनुष्य के कोमल से कोमल भावों की उद्दीपक बन जाती है। जिस ईश्वर ने मनुष्य की रचना की है, उसी ने मनुष्य के खेल-कूद और विकास के लिए एक सुन्दर प्रकृति की गोद का निर्माण किया है। स्निग्ध श्याम मेघ मालायें, शीतल शशि का सहज प्यार, हीरक मणियों के समान झिलमिलाती तारा कलियों का सौन्दर्य तथा सागर की लोल-लहरियों का उत्थान-पतन किस नीरस मन को भी मुग्ध नहीं कर लेता!

जब हम इन सभी प्राकृतिक सौन्दर्यों में अपने मन के भावों की छाया देखते हैं और प्रकृति के साथ एक अनुपम अनुकूलता का अनुभव करते हैं, तब मन उल्लास से भर जाता है। पन्त जी की प्रकृति सहचरी यह कविता बहुत ही सुन्दर है—

अरे ए पल्लव बाल!
सजा सुमनों के सौरभ हार

गूँथते थे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल
नहीं छूटी तरु-डाल;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर प्रवाल!

कविता की आत्मा वस्तुतः भावनाओं को संगठित और स्वाभाविक रूप से चित्रित करने की शक्ति है। यहाँ पर पन्त का कवि प्रकृति का सफल चित्र-कार हो गया है—

आज पल्लवित हुई है डाल,
झुकेगा कल गुंजित मधुमास;
मुग्ध होंगे मधु से मधुबाल;
सुरभि से अस्थिर मरुताकाश।

और तो और, प्रकृति का वाह्य रूप व्यक्त करने में भी पन्त जी ने सप्राणता भर दी है—

वन के विपटों की डाल-डाल,
कोमल कलियों से लाल-लाल,
फैली नव मधु की रूप ज्वाल,

... ...

अब फैला फूलों में विकास,
मुकुलों के उर में मदिर वास,
अस्थिर सौरभ से मलय श्वास—

इस तरह पन्त जी ने जहाँ-जहाँ प्रकृति-चित्रण किया है, तहाँ-तहाँ उनके वर्णन का एक अनोखापन है, और कहीं-कहीं तो उनका चित्रण इतना सजीव हो गया है कि दृश्य का प्रत्यक्ष अनुभव-सा होने लगता है—

पावस ऋतु थी पर्वत-प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार

नीचे जल में निज महाकार,
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल!

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि का हृदय प्रकृति की आत्मा से हिलमिल गया है। प्रकृति में जीवन के भिन्न-भिन्न मनोभावों का चित्रण ही पन्त जी की अमर कृति है। यद्यपि इन चित्रणों से भी अधिक सफलता पन्त को उन चित्रों के चित्रण में मिली है, जिनमें उन्होंने प्रकृति को संकेत (Symbol) के रूप में ग्रहण किया है, और प्रकृति को उस अव्यक्त परम शक्ति का रूपान्तर मात्र माना है। उनकी बहुत सी कविताओं में उस विश्व आत्मा का संकेत है, जो विश्व के कण-कण में व्याप्त है।

उसी शक्ति का मूल संगीत संसार की रग-रग में रमा है, जिसे कवि सुन पाता है; इसी से पन्त जी की मनोवृत्ति में प्रकृति साकार हो गई है।

पन्त जी की इस सूक्ष्म दृष्टि से सौंदर्य के उस विधायक के प्रति अटल सत्ता जम गई है, और वे उसी में तन्मय हो गये हैं—

शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर,
हो उठता चंचल-चंचल!

लहरों के कम्पन में, उतार-चढ़ाव में कवि एक हृदय की आशाओं, अभिलाषाओं का अथवा जीवन के उत्थान-पतन का परिचय पाता है। और कह पड़ता है—

आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता—

छाया ऐसी निर्जीव वस्तु को भी देखकर पन्त का कवि मुग्ध होकर गा उठता है—

किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि यवनिका हो सुकुमार
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार?

अन्य पंक्तियाँ भी इसी भाव की द्योतक हैं। पन्त जी ने प्रकृति में चेतना

एक सुन्दर संसार बसाया है और उससे अपने रुचि की सामग्री ले ली है। सारे संसार में एक आत्मा के दर्शन के साथ-साथ पन्त जी ने प्रकृति का इतना सुन्दर सामीप्य प्राप्त किया है कि वही प्रकृति भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न 'मूड' में उनके सामने अपने को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट करती और कवि की आत्मा को आश्वासन, दुलार और शान्ति देती है।

पन्त जी ने इस अलौकिक शक्ति का पुरुष-रूप, स्त्री-रूप तथा सखा रूप अलग-अलग देखा है। पुरुष रूप के सामने पन्त जी अपनी सहृदयता, सुकुमारता एवं विचार कोमलता के साथ शीघ्र एक प्रेयसी के रूप में आत्मसमर्पण कर देते हैं—

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब बात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना विथरा देती अज्ञात,
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन?

... ...

न जाने कौन, अये द्युतिमान,
जान मुझको अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख-दुख के सहचर मौन,
नहीं कह सकती तुम हो कौन।

यद्यपि प्रेम की यह अभिव्यक्ति हिन्दी-साहित्य के लिए नई नहीं है, तथापि पन्त जी ने इसे नया रूप अवश्य दिया। केवल प्रकृति के आधार पर प्रेम की सुकुमार से सुकुमार भावनाओं को व्यक्त करना पन्त जी की अपनी विशेषता है।

नव कुसुमों में छिप-छिपकर
जब तुम मधु पान कराओगे,
फूली न समाऊँगी मैं—
उस सुख से हे जीवन-धन!

स्त्री-रूप के इस आत्म-समर्पण तथा प्रदर्शन के साथ-साथ पंत जी का

पुरुष भी जागरूक है और प्रकृति को अपनी प्रेयसी के रूप में भी प्यार करता है—

लहरें अधीर सरसी में
तुमको तकती उठ उठ कर,
सौरभ समीर रह जाता
प्रेयसि, ठंडी साँसें भर।

... ...

तुम आओगी आशा में
अपलक हैं निशि के उडुगण
आओगी अभिलाषा से
चंचल चिर-नव जीवन-क्षण

... ...

अधर मर्मयुत पुलकित अंग
चूमती चल पद चपल तरंग,
चटकाती कलियाँ पा भ्रूभंग
छिटकते तृण तरु पात।
प्राण तुम लघु लघु गात।

जन्म से पुरुष होने के नाते पन्त जी की सफलता इस ओर स्वाभाविक है।

प्रकृति के सामने उपर्युक्त दोनों रूपों से जाने की अपेक्षा उनका सखा-रूप मुझे प्रिय है—

मिले तुम राका पति से आज
पहन मेरे दृग-जल का हार;
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जलधार
नहीं फिर भी तो आती लाज;
निठुर यह भी कैसा अभिमान ?

... ...

अभी मैं बना रहा हूँ गीत
अश्रु से एक-एक लिख बात,
किया करते हो जो दिन रात,

बुझाते ही प्रदीप बन वात,
प्राण प्रिय ! होकर तुम विपरीत
निठुर यह भी कैसा अभिमान ?

पन्त जी ने कवि और प्रकृति के जिस सम्बन्ध की ओर उपर्युक्त पंक्तियों में संकेत किया है, वह वास्तव में सरस, सरल और सखा-भाव से प्लावित तथा सुन्दर हैं। इससे सहज ही में जाना जा सकता है कि शिशु-पन्त प्रकृति को बड़े कौतुक और विस्मय से देखकर अपनी बाल-चपलता के अनुरूप ही सखा-भाव को लेकर हर्षोल्लास से नाच पड़ा और उसने अपने साथ खेलने वाले सखा रूप में देखा; युवक पन्त ने प्रकृति को विचार शीलता के साथ आदि शक्ति तथा अलौकिक सौन्दर्य की प्रतिभा मानकर अपने को उसके सामने प्रेयसी की ममता लेकर समर्पण कर दिया और प्रौढ़ पन्त ने प्रकृति-प्रेयसी का एक पूर्ण पुरुष-रूप में आलिंगन किया, उनके ये सभी सम्बन्ध भावपूर्ण, अवस्था-युक्त एवं विचार तन्मयतामय हैं।

एक साथ ही एक प्रकृति से पन्त जी के भिन्न-भिन्न सम्बन्ध उनकी कल्पना-अस्थिरता तथा भाव चंचलता के परिचायक हैं। इसी के फलस्वरूप उनके काव्य में एक ही भाव तथा विचार की संगठित भावना कम मिलती है। आगे चलकर कवि प्रकृति के इन नाना रूप-लावण्यों से भी सन्तुष्ट न होकर उसमें जीवन की गति-विधि तथा अन्य दार्शनिक तथ्यों का अवलोकन करता है।

ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि कवि-जीवन की इसी दर्शन-प्रियता तथा सौन्दर्य-प्रियता ने ही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को जन्म दिया है। दर्शन के दुर्लभ, शुष्क, कर्कश सत्य-शिव को ही काव्य ने सौंदर्य से मिलाकर सुलभ, सरस तथा स्निग्ध बना दिया है।

अस्तु हम कह सकते हैं कि पन्त जी के काव्य में जीवन की सभी समस्याओं का सरस समाधान स्पष्ट रूप से मिलता है, क्योंकि काव्य तथा दर्शन दोनों के, परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति ही प्राण हैं, जो जीवन में शाश्वत शान्ति के दाता हैं। इसी कारण पन्तजी ने प्रकृति-चित्रण-सौन्दर्य के साथ प्रकृति-दर्शन की दृष्टि से भी उसे अपनाया है, विश्व जीवन की गति विधि को प्रकृति के सहयोग से देखा तथा जाना है और कहा भी है—

काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,

इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली।

कितना सुन्दर आदर्श है और झाँकी कितनी स्पष्ट है। इसी भावना के कारण भारतीय साहित्य में दुःख का दमन नहीं किया है, वरन् उसको अंगीकार करके सुख का रूप दिया गया है—

अपने डाली के काँटे
वेधते नहीं अपना तन,
सोने सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन।

कैसी उदारतापूर्ण भावना है! त्याग की महत्ता इसी में है, सत्य को इसी साहस के साथ प्रकट करना चाहिए, क्योंकि सत्य का सम्बन्ध मनुष्य मात्र से है और भ्रम का एक निश्चित समाज और समय से। इसीलिए पन्त जी ने लिखा है—

आती ही जाती नित लहरी,
कब पास कौन किसके ठहरी?
कितनी ही तो कलियाँ फहरीं,
सब खेलीं हिलीं, रहीं सँभलीं।

अस्तु—

है लेन-देन ही जग जीवन
अपने पर सबका अपनापन।

विश्व-जीवन की कितनी मार्मिक ममता है! कदाचित् इसी अपनापन में अदम्य उत्साह और अनंत जीवन का निगूढ़तम रहस्य अन्तर्हित है। इसकी अभिव्यक्ति पन्तजी ने ऐसे कुशल और सरस ढंग से की है कि उसका प्रभाव सीधे मन पर पड़ता है—

इस धारा-सा ही जग का क्रम
शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति शाश्वत संगम—

जीवन की यही सच्ची दार्शनिकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्तजी

का जीवन के साथ प्रकृति का सम्मिश्रण सोने में सुगन्धि का काम करता है। यही पन्त जी की कविता का सारतत्व है।

प्रकृति के बाह्य चित्रण की मधुरता में पन्त जी ने स्पन्दन की अनुभूति पूर्ण अवस्था का बड़ा ही सफल चित्रण किया है। उनका प्रेम, उनका विषाद, उनकी करुणा यहाँ तक कि उनकी राष्ट्रीयता, अर्थात् उनके सभी चिर-प्रिय विषय प्रकृति के साथ चलते हैं, और इस प्रकार पन्तजी ने प्रकृति के सहारे मानव-जीवन का पूर्ण निदर्शन किया है और प्रकृति के प्रायः सभी सम्बन्धों तथा रहस्यों को खोलकर सर्व साधारण के लिए सहज कर दिया है। पन्त जी प्रकृति प्रवीण-पुरोहित से जान पड़ते हैं। नीचे लिखी कविता उनकी अद्भुत प्रकृति-प्रेक्षण शक्ति का सजीव उदाहरण है—

हम स्वर्ग किरण, आलोक वरण, सुकुमारी,
हम चिर-अदृश्य अप्सरियाँ भू-नभचारी।
छवि की अलकों-सी, स्मित की रेखाओं-सी,
जग-जीवन की झंकारों सी सुखकारी।

किरणों का यह गान पन्त का ही कवि सुन और समझ सकता है। इन सभी विश्लेषणों से हम पन्त जी को प्रकृतिमय पाते हैं, और कह सकते हैं कि पन्त जी की आत्मा ने प्रकृति के साथ एकरूपता का सम्बन्ध जोड़ने के प्रयास में यथेष्ट सफलता प्राप्त की है।

१८

पन्त का परिवर्तन

मानव सभ्यता उसके विकास का प्रतीक है। कला उसी विकास का एक अंग है, मानव शक्ति की महत्ता का सूचक है। वह न तो प्रकृति का अनुकरण है और न उसकी प्रतिछाया वरन् वह मानव की स्वतन्त्र सृष्टि है। जब बाह्य-जगत कलाकार के हृदय में प्रविष्ट होकर एक नवीन रूप धारण कर लेता है तभी उसकी अभिव्यक्ति कला में हो सकती है। इसी प्रकार कविता कवि के अन्तर जगत का सुन्दरतम् भाव है न कि उसके स्थूल जीवन का चित्रण। देशकाल के इस विभेद में भी मनुष्य की समानता का रहस्य ही उसकी कला-प्रियता है, ज्ञान-विज्ञान तो उसके साधन मात्र हैं। प्रथम बार जब मनुष्य ने इस विशाल प्रकृति को देखा तब उसका मन विस्मय से चकित-सा हो गया किन्तु स्थिर होकर सोचा कि इस व्यापकता तथा अनंतता का मैं भी एक विशेष उपादान हूँ, मेरा अन्तर्जगत भी इसी तरह व्यापक एवं अनन्त है। उसी व्यापक भावना का स्पष्टीकरण वह अपनी कला में करता है। इस कलात्मक सृष्टि में उसे अपनी भावना, कल्पना तथा सौन्दर्य बोध की सहायता लेनी पड़ती है, बुद्धि का भी योग उसके सुचारु रूप से संचालन में लिया जा सकता है, किन्तु वह उसकी जननी नहीं। यथा एक छोटा शिशु बेसिक ट्रेनिंग में माँ-बहिनों द्वारा स्नेहशीलता से पढ़ाया जाता हुआ भी वह उनका अपना पुत्र नहीं हो पाता वह अपने जन्म-जात संस्कारों को अपनी सारी शिक्षा-दीक्षा के भी हृदय के एक कोने में संजोये रहता है। उसी प्रकार कला बुद्धि की संचालन शक्ति लेकर भी

अपनी प्रधान हार्दिकता को अपने में छिपाये रहती है, ऐसा न होने से वह कला ही न रह जायेगी।

पन्त जी प्रारम्भ से ही कल्पना तथा सौन्दर्य के कवि हैं और जहाँ कहीं वे अपने इन मूल आधारों को छोड़ कर चले हैं वहाँ उनके काव्य की रमणीयता तथा मनोहरता खो सी गई है। ग्राम-युवतियों के लिए उन्होंने पल्लव में लिखा है—

ग्राम युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के वन्दन वार,

इस कविता में ग्राम-युवतियों की चितवन की एक सौन्दर्य दृष्टि है। यहाँ पाठक इस विश्लेषण में नहीं जाता कि ऐसा करती हैं या नहीं। कवि का आशय यहाँ केवल सौन्दर्य-निरूपण है, किसी तथ्य का विश्लेषण नहीं और यहाँ तक यह ठीक भी है। उसी ग्राम युवती का चित्र 'ग्राम्या' में इस प्रकार है—

हँसती खल-खल, अबला चंचल,
उरु मटकाती, कटि लचकाती,
जल छलकाती, रस बरसाती,
बल खाती वह घर को जाती।

इस कविता में सौंदर्य का स्पष्टीकरण उतना नहीं जितना उसकी भाव-भंगिमा तथा उसके कार्य कलापों का निदर्शन है। नारी विषयक कुछ चित्र बहुत ही स्पष्ट तथा सुन्दर हैं।

स्वाभाविक नारी जन की लज्जा से वेष्ठित,
नित कर्म निष्ठ, अंगों की हृष्ट-पुष्ट सुन्दर,
श्रम से हैं जिसके क्षुधा काम चिर मर्यादित
वह स्वस्थ्य ग्राम नारी, नर की जीवन सहचर!

... ...

हाँका करती दिन भर बन्दर,
अब मालिन की लड़की तुलसा!

यहाँ हमें वास्तव में ग्राम-नारी के मुक्त, स्वस्थ्य तथा कृतिमता रहित सुन्दर दर्शन होते हैं। धीरे-धीरे कवि की नारी के प्रति सौंदर्य भावना ने वास्तविकता

का आधार ले लिया है। पन्तजी का मजदूरिन का चित्र देखने लायक है। उसके प्रति कवि की सहानुभूति है, उसकी महानता के प्रति सम्मान है और उसकी स्वस्थ्य स्वाभाविकता के प्रति एक सहज आकर्षण। नारी का व्यापक रूप यहाँ और भी उठ गया है—

सर से आँचल खिसका है—धूल भरा जूड़ा—
अध खुल वक्ष-ढोती तुम सर पर धर कूड़ा,
हँसती बतलाती, सहोदरा सी जन-जन से
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सातन से।

तुमने निजतन की तुच्छ कंचुकी को उतार
जन के हित खोल दिये नारी के हृदय द्वार।

महादेवी जी के शब्दों में—कवि या कलाकार सत्य को सौंदर्यमय कर देता है। जो इस पहिली सीढ़ी पर सँभल जाता है वह कलाकार बिना प्रयास के ही सत्य तक पहुँच सकता है परन्तु इस सोपान पर पैर फिसल जाने की भी बहुत सम्भावना रहती है।

वास्तव में कला हार्दिक सौंदर्यबोध की ही अभिव्यक्ति है, वह निरी बौद्धिक न होकर भावात्मक होती है। पन्त जी ने कला के प्रति स्वयं लिखा है—

तुम भाव प्रवण हो!
जीवन प्रिय हो, सहनशील, सहृदय हो, कोमल मन हो।
जीर्ण परिस्थितियाँ ये तुममें आज हो रहीं बिम्बित,
सीमित होती जाती हो तुम, अपने में ही अवसित!

कला की यह मान्यता कलाकार में लागू होती है। यदि कलाकार अपनी कला को किसी विषय या वाद विशेष में बाँधना चाहेगा तो निश्चय ही उसकी कला अपनी व्यापकता को छोड़कर सीमित हो जायेगी। पन्त जी ने जहाँ कवि का स्थान एवं विषय निश्चित कर दिया है वहाँ उन्हें उतनी सफलता नहीं मिली, किन्तु जहाँ पन्त जी कवि का एक व्यापक दृष्टिकोण ग्रहण करते हैं वहाँ वे स्वयं लिखते हैं—

फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटी जिससे रवि की किरणें
चाँदी की सी उजली जाली!

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की भावनाओं के अनुसार उनके चित्र बदलते रहते हैं। कला का यह सत्य सभी कलाकारों पर और पन्तजी पर भी लागू होता है। जहाँ कहीं पन्त जी का बौद्धिक कवि अधिक जागरूक है वहाँ कला का उतना सुन्दर प्रस्फुटन नहीं हुआ, किन्तु जहाँ पन्त जी केवल कवि हैं, वहाँ वही कल्पना, वही सौंदर्य बोध तथा वही भावुकता है, जो वास्तव में पन्त के कवि का स्थान है। कवि भविष्य का कितना सुन्दर स्वप्न देखता है—

हे, धरणी जनों की, जगत स्वर्ग-जीवन का घर,
नव मानव को दो प्रभु ! भव मानवता का वर।

इतना ही नहीं वरन्

मानव कर से निखिल प्रकृति जग
संस्कृत सार्थक सुन्दर।

कविता को श्रेय और प्रेय दोनों का आधार मानकर ही सम्भवतः पन्त जी ने प्रगतिवाद को स्वीकार किया होगा। 'आधुनिक कवि' में पन्त जी ने लिखा है—उसमें (छायावाद) में व्यवसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की अन्न-वस्त्र की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। आगे चलकर उन्होंने स्पष्ट कहा—'ऐतिहासिक विचार धारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिए भी हूँ कि उसमें कल्पना के स्रोत को विशुद्ध और वास्तविक पथ मिलता है...भौतिकवाद का विषय ऐतिहासिक (सापेक्ष) चेतना है, और अध्यात्म का विषय शाश्वत (निरपेक्ष) चेतना। दोनों ही एक दूसरे के अध्ययन और ग्रहण करने में सहायक होते हैं और ज्ञान के सर्वांगीण समन्वय के लिए प्रेरणा देते हैं।'

मेरा अपना मत है कि पन्त की पहिली कवितायें अधिक प्रगतिमय हैं। तभी तो उन्होंने स्वयं लिखा है—"इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है।" क्या कविता बुद्धि की उपज है? कदापि नहीं, काव्य में तो बुद्धि की अपेक्षा हृदय की विदग्धता अपेक्षित है, जो पन्त जी की पहिली कविताओं में अधिक मात्रा में पाई जाती है—

तप रे मधुर-मधुर मन !
विश्व वेदना में तप प्रतिपल
जग जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष उज्ज्वल औ कोमल

इसके आगे वे कहते हैं—

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव जग में बँट जावे
दुःख सुख से औ सुख दुःख से !

इन पंक्तियों में मानव के प्रति उनकी हार्दिक सहानुभूति है। वे जीवन के स्थायित्व का निरूपण भी बड़े सुन्दर रूप में करते हैं—

आँसू की आँखों से मिल
भर ही आते हैं लोचन,
हँस मुख ही से जीवन का
पर हो सकता अभिवादन !

छायावादी कवियों पर यह भी आरोप किया जाता है कि वे जीवन से दूर भागते हैं और अपना एक काल्पनिक जगत बनाकर उसी में विचरण करते हैं पर वास्तव में ऐसा नहीं है। पन्त जी ने लिखा है—

जग जीवन में उल्लास मुझे,
नव-आशा, नव अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे,
चाहिए विश्व को नव-जीवन,
मैं आकुल रे उन्मन-उन्मन।

इतना ही नहीं बल्कि उनका तो मन है कि—

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से
चलता उर का स्पन्दन !

जीवन के उपर्युक्त सभी स्वप्न सुन्दर तथा आकर्षक हैं। अब मानव का भी एक चित्र देखिये—

तुम मेरे मन के मानव
मेरे गानों के गाने

अपनी अनुभूति नहीं है तो वह एक क्षणिक उत्तेजना मात्र से रह जावेंगे। किसी भी कला-कृति में अनुभूति ही सप्राणता का संचार करती है। फिर काव्य का तो वह आवश्यक उपादान है।

कवि ने जीवन का जो रस प्राप्त किया है, विश्व की सौंदर्यशाला से जो सौंदर्य उपलब्ध किया है, संसार की गति में, मनुष्य के चिरन्तन जीवन प्रवाह में, अपनी साधना में, जिस सत्य को प्राप्त किया है वही उसकी अपनी अनुभूति है। उसकी अनुभूति की अनुकूलता उसकी कला में अवश्य ही प्रदर्शित होगी, इसी कारण कला, कलाकार के जीवन की सभी साधनाओं का सुफल मानी जाती है। सम्भवतः पन्त जी ने प्रगतिवादी युग की रचनाओं के साथ-साथ कभी-कभी अपने अतीत का भी स्पर्श किया है—

अब रजत स्वर्ण मंजरियों से,
लद गई आम्र की तरु डाली।
झर रहे ढाँक पीपल के दल,
हो उठी कोकिला मतवाली।

... ...

फिरती हैं रँग रँग की तितली
रँग-रँग के फूलों पर सुन्दर
फूले फिरते हो फूल स्वयं
उड़-उड़ वृन्तों से वृन्तों पर।

ये पंक्तियाँ हमें प्रकृति कवि पन्त का स्मरण दिलाती हैं, प्रगतिशील कवि पन्त का नहीं। वास्तव में पन्त जी प्रकृति तथा सौंदर्य के ही सुन्दर कवि हैं। एक और भी सुन्दर चित्र देखिए—

अब आधा जल निश्चय पीला—
आधा जल चंचल औ नीला—
गीले तन पर मृदु संध्यातप
सिमटा रेशम पट सा ढीला।

कुछ भी हो पन्त जी उच्चकोटि के कलाकार हैं। उनसे कला-प्रियता नहीं जा सकती, वे घूम-फिर कर वहीं आयेंगे। क्या भाषा, क्या भाव, क्या शैली, सभी दृष्टि से ये कवितायें उनको प्रथम कविताओं के ही अनुरूप हैं। साहित्य में पन्त जी अपनी इस प्रतिभा से स्थापित रहेंगे। इन प्राकृतिक चित्रों के साथ

हाँ, तो पन्त जी की उस युग की कवितायें एक वर्ग विशेष को सहानुभूति देती हैं तथा उनमें एक वाद विशेष का प्रतिपादन है, इसीलिए शायद वह प्रगतिशील मानी गई हैं। पन्त जी ने स्वयं उनको प्रयोगात्मक काव्य रचनायें माना है। यद्यपि प्रयोग किसी विषय की सिद्धि का स्वरूप नहीं होते परन्तु फिर भी उनमें विषय की झलक तो मिलती ही है। समाजवाद के प्रभाव से सम्भवतः उन्होंने मार्क्स के प्रति यह कविता लिखी है—

> दन्त कथा, वीरों की गाथा, सत्य नहीं इतिहास
> सम्राटों की विजय लालसा, ललना भ्रकुटि विलास।
> दैवनियति का निर्भय क्रीड़ा-चक्र न वह उच्छृंखल
> धर्मान्धता, नीति, संस्कृति का ही केवल समरस्थल।
> साथी है, इतिहास किया तुमने निर्भय उद्घोषित,
> प्रकृति विजित कर मानव ने की विश्व सभ्यता स्थापित।

इस कविता में हमें मार्क्स का अपना सिद्धान्त—प्रतिपादन की घोषणा का निर्भय रूप मिलता है। एक व्यक्ति के विषय में हम जानकारी प्राप्त करते हैं। इसे हम पद्यात्मक परिचय मात्र कहेंगे। इसी प्रकार उस समय की उनकी अधिकतर कवितायें वाद विशेष और व्यक्ति विशेष के प्रति अभिनन्दना मात्र-सी लगती हैं। आश्चर्य केवल एक बात का है कि वे गांधी तथा मार्क्स दोनों का समान रूप से सम्मान करते हैं। इसे हम उनके हृदय की विशालता तथा उदारता के सिवा और क्या कहें।

> मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद,
> सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।

वस्तुतः पन्त जी प्रगति में गांधीवाद और मार्क्सवाद का समन्वय चाहते थे, परन्तु वस्तु परक विचार—प्रगतिवाद में समन्वय का अवकाश नहीं।

काव्य तो सदैव भावात्मक होता है। काव्य के लिए सम्भवतः विचारों तथा चिन्तन की अपेक्षा कल्पना एवं अनुभूति की अधिक आवश्यकता होती है, क्योंकि काव्य, कलाकार की अपनी सृष्टि है, वह मानो उसकी कल्पना का समुन्नत विकास है।

काव्य में यदि कहीं अनुकरण अथवा विचारों का प्रतिपादन है तो उसका कारण देश, संसार तथा समय से [illegible] है, जो उसकी [illegible] शाब्दिक विलक्षणता के कारण [illegible] है। यदि उसमें [illegible]

के सामंजस्य में तर्क कभी सफल नहीं हो सकता। प्रकृति के रूप एवं आकार के सामंजस्य का स्वरूप सृष्टि—रचनाकार की कलात्मक अनुभूति का फल है उसकी तर्कना का नहीं। तर्क तो सामंजस्य से दूर विशृंखलता का ही पोषक है। अस्तु मुझे तो सौंदर्य तथा प्रकृति का कवि पन्त ही अधिक प्रिय है।

मैं पन्त जी की कविताओं का इसे पुनर्जन्म नहीं वरन् वर्गीकरण या नवीन नामकरण कहता हूँ। पन्त जी हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ दे चुके हैं, उनकी प्रतिभा का प्रकाश अमर है, किन्तु उस युग की कवितायें किसी काव्य-प्रेमी को पुलकित नहीं कर सकतीं।

ध्यान पूर्वक सारी कवितायें पढ़ जाने पर साफ पता चलता है कि राजनीतिक, आर्थिक, तथा सामाजिक नियमों की जानकारी भले बढ़ गई हो, विचारों में, भावों में सहृदयता की अपेक्षा चाहे शुष्कता आ गई हो, अभिव्यक्ति में सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता अथवा मांसलता का बाहुल्य हो, परन्तु काव्य की कोई विशेषता हमें नहीं मिलती है। परिवर्तन की भाँति देश का क्रन्दन नाद भी इस युग की कविताओं में नहीं है—

रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल;
शून्य निश्वासों के आकाश
आँसुओं के ये सिन्धु विशाल,
यहाँ सुख सरसों शोक सुमेरु,
अरे जग है जग का कंकाल!

कवि स्वभावतः अनुभूतिमय विषयों को ही स्पर्श करता है, क्योंकि काव्य में बिना अनुभूति के केवल कल्पना और अध्ययन के ज्ञान के सहारे कमनीयता और रमणीयता नहीं आ पाती। साहित्य साधारण संग्रह न होकर शुद्ध तथा सात्विक ज्ञान का स्वरूप है। उसमें मानव समाज तथा मानव-जीवन की केवल प्रतिच्छवि के दर्शन नहीं होते, वरन् उससे मानव मन की अनेक आकुल आकांक्षाओं और उसके संकल्पमय मनोरथों का भी आभास मिलता है। इसी कारण साहित्य तीनों काल-भूत, वर्तमान तथा भविष्य से परे और तीनों के भीतर सन्निहित होता है। इस प्रकार साहित्य में दो प्रमुख धारणाओं का एकीकरण पाया जाता है। एक साधारण समाज को स्थायित्व देती है, दूसरी उसको प्रगति। अस्तु साहित्यकार को वर्तमान से अधिक अपने भविष्य में सांस

उनके कुछ सौन्दर्य-चित्र भी दर्शनीय हैं, जो उनके काव्यानुभूति से अनुप्राणित हैं—

यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर तो वह नारी उर के भीतर,
दल पर दल खोल हृदय के स्तर
जब बिठलाती प्रसन्न होकर
वह अमर प्रणय के शत दल पर
मादकता जग में कहीं अगर, वह नारी अधरों में सुखकर
क्षण में प्राणों की पीड़ा हर
नव जीवन का दे सकती वर
वह अधरों पर धर मदिराधर !

प्रवासी पन्त कवि के लिए ऐसी कवितायें केवल सामयिक स्वप्न की भाँति रहीं। पन्त जी का कोमल-हृदय, उनकी सुकुमार मनोवृत्ति जब प्रगति के पथ में चलते-चलते थकान का अनुभव करती तब वे अपनी स्वाभाविकता में विश्राम पाते। उनकी प्रगति की सूखी बौद्धिकता का भी उदाहरण देखिये—

जो तो हे कवि निज प्रतिभा के
फल से निष्ठुर मानव अन्तर
चिरजीर्ण विगत की खाद डाल
जन भूमि बनाओ सम सुन्दर।

... ...

विज्ञान बहु सुलभ, सुलभ बहु नीति धर्म,
संकल्प कर सकें जन, इच्छा अनुरूप कर्म।
उपचेतन मन पर विजय पा सके चेतन मन;
मानव को हो यह शक्ति, पूर्ण जग के कारण।

ऊपर की दोनों कविताओं में बड़े ही सुन्दर तथा श्रेष्ठ विचारों का प्रति-पादन है, पर उनमें कवित्व कितना है, भाव-प्रवाह तथा रस परिपाक कितना है इसका अनुमान पाठक स्वयं लगावें। कलाकार का ध्येय अपने यथासम्भव भावावेश को व्यक्त करना है। [illegible] [illegible] के आनन्द में कलाकार ने जो कुछ अनुभव किया हो, उसे शब्दों के माध्यम से, भौतिक रूप में चित्रित करना ही उसका कार्य नहीं है।

इसके विपरीत पठित सिद्धान्तों तथा मतों के प्रतिपादन में [illegible] कवि निश्चय ही नीरस एवं [illegible] हो जायेगा। [illegible]

'वीणा' का मधु स्वर गुंजार नहीं है। इसमें तो सम्पूर्ण विश्व-प्रकृति की धूल-फूल मयी चेतना का ही निदर्शन है। किन्तु पन्त जी की मानव साधना सुख-दुःख के इस बँटवारे से ही सन्तोष नहीं पाती, इसलिए आगे चलकर वे एक अन्य प्रकार की चेतना को जगाते हैं—

अविरत दुख है उत्पीड़न
अविरत सुख भी उत्पीड़न

इन दोनों से परे की वे कल्पना तथा कामना करते हैं। विश्वगत भावना के अनुरूप ही इस मानव-साधना में पन्त जी ने मानवता के वास्तविक स्वरूप को समझकर उसकी आन्तरिक अमरता में ही प्राण फूंकना चाहा है। परन्तु संसार तो अहर्निशि आगे बढ़ता है। पिछली बातें, पिछले सत्य सभी उसके उत्थान में जीवन आदर्श उसी के मार्ग कंटक से हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कवि को कल्पनामय रूपकों का सहारा लेना पड़ता है और 'ज्योत्सना' में पन्त जी का वही रूप सामने आता है—

निर्भीक विचर पृथ्वी पर
विचलित मत हो विघ्नों से
निज आत्मा पर रह निर्भर!

इस आत्मबल और अपनेपन में लीनता के अलावा 'ज्योत्सना' में उनके सुन्दर स्वप्नों का समाज भी है। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि जीवन के सुख-दुःख से ऊबकर एक साधक आत्मा-चिन्तन में तल्लीन होने लगता है और इस प्रकार आत्मनिष्ठ होकर वह इन बाह्य दुःखों को भूल सा जाता है! परन्तु पन्त जी यहाँ भी एक कर्मशील व्यक्ति की भांति अपने आधार अन्वेषण में सतत् प्रयत्नशील रहे और अपनी शान्ति का स्वर्ग दूर के समाजवाद में देखने लगे।

पन्त जी जीवन के जटिल संघर्ष से कुछ दूर रहे हैं, चाहे जितनी बार उनका दलित भारतीय जनता के उत्पीड़न से क्षुब्ध हो उठा हो, किन्तु वे तथ्य रूप से स्वयं उसमें कभी नहीं पड़े। अस्तु उन्होंने गांधी जी को आदर्श मानकर उनकी नीति का प्रतिपालन किया—

इस भस्मकाय—तन की रज से
जग पूर्ण काम नव जग-जीवन,

लेना पड़ता है। तभी वह व्यष्टि के साथ समष्टि को भी समेटे रहता है। वह मानवता के आदिकाल से लेकर आज तक के पावन प्रयत्नों को, उसके ओझिल अलौकिक सत्य को एक सरल, सुन्दर रूप देकर उसके सामने उपस्थित करता है। किसी प्रयोजन की प्राप्ति का साधन बनकर साहित्य अपनी संजीवनी शक्ति को खो देता है, क्योंकि साधना से सिद्धि आतंरिक अभिव्यक्ति ही साहित्य की सबसे सुन्दर तथा सहज एवं शक्तिशाली संज्ञा है। आकुलता के आवेग में आकर साहित्य ऐसी सनातन शक्ति को केवल पार्थिव प्रयोजनों की सीमा में सीमित करना ठीक नहीं है, क्योंकि साहित्य किसी विशेष विषय की आसक्ति में सीमित और उसकी विरक्ति में सदैव विस्तृत रहता है। जब हम सीमित होंगे तब हमारी गति स्वभावतः सीमित होगी। प्रगति में गति ही प्रधान है, इसलिए प्रगतिवादियों के लिए साहित्य की गति का अवरोध करना कहाँ तक ठीक रहा? साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि प्रगति में कभी तात्विक मूल प्रकृतियों में परिवर्तन नहीं होता, केवल उसकी बाह्य परिस्थिति बदल जाती है। अन्यथा अनादि काल से प्रगति के पथ पर आरूढ़ मानव आज तक पंगु? अवश्य हो गया होता।

जीवन का द्वन्द्व बहुत पुराना है। अनेक बार इतिहास में ऐसे युग आये हैं जब मानव की पार्थिव-पीड़ाओं ने उसके शेष सब स्वरूपों के ढकने का प्रबल प्रयास किया है, किन्तु जीवन न तो उन पीड़ाओं की अवहेलना ही कर सका और न उसको थामे एक जगह कहीं बँधा ही रहा, वह तो सदैव गतिशील रहा है और रहेगा। एक बार फिर मानवता जीवन संकट में पड़ी और उसके निराकरण के लिए एक भौतिक दवा समाजवाद का सेवन करने की आकुल आकांक्षा से विकल हुई। इस महौषधि की प्राप्ति-साधना में साहित्यकों को भी राजनीति की शरण लेनी पड़ी। पन्त जी ऐसे साहित्य-सेवी तथा कुशल कलाकार भी युग की विडम्बना से विमोहित हुए थे।

सदियों से सामाजिक पराधीनता के पाश में पड़े, पिछड़े साहित्य में पन्त जी प्रारम्भ से ही एक उद्बोधना का स्वर गुंजान करते आये हैं। [illegible] जीवन में कला की स्थापना की, जीवन में कला का रंग था; किन्तु उस युग में भी स्वभावतः जीवन के पार्थिव पहलुओं को ही कला का एक मात्र उपकरण [illegible], अन्यथा गुंजन के ये शब्द आज भी जीवन में गूँजते हैं— '[illegible]...' 'वीणा' तथा 'पल्लव' में प्रकृति-चित्रण [illegible] पंक्तियों में कुछ [illegible] नहीं हो, क्योंकि इसमें 'पल्लव' का [illegible]

विचार और अभिव्यक्ति में अपनी अलग नवीन चीज है।

कविता तो एक सुन्दरी की भाँति बन्धनों से मुक्त होकर इस 'आंधार सलिल' में जीवन की, परिवर्तन की तथा प्रतिभा की एक मुक्त किरण लेकर आती है। आदि काल से अब तक संसार में काव्य-अप्सरा अपने बन्धनों से मुक्त होकर विविध शृंगार से युक्त होकर, नूपुरों की मंजुल ध्वनि करती तथा अपने कलकंठ से जगत पर माधुरी कण बरसाती हुई आई है। इसके विपरीत वह अपनी संज्ञा ही खो देगी। कविता कभी भी एक युग की वाणी नहीं होती, वह तो युग-युग की वाणी है। अस्तु पन्त जी के इन काव्य प्रयोगों में उनकी प्रतिमा प्रभा चाहे लोक पक्ष के नाते जितनी भी प्रखर हो, किन्तु काव्य-कला की कसौटी पर उसकी गति कुछ अस्थिर सी है।

साहित्य कभी भी किसी विषय विशेष या दल विशेष का एकाधिकार नहीं, वह तो सम्पूर्ण मानव-अन्तस्थल की वीणा को समान रूप से झंकृत करने वाला सरस समीरव है; जो एक उपवन से लेकर दूसरे उपवन तक अपनी विभेदता में काँटे से लेकर कोमल कुसुम तक समान गति से तथा समान स्थिर गन्ध से बहता है। ऊषा क्षितिज पर आती है, केवल अमल-कमल-दल को ही खिलाने के लिए, अपितु समस्त सृष्टि को एक सचेतना देने के लिए ही उसका उदय होता है। साहित्य ऊषा इसी प्रकार जीवन के क्षितिज पर किसी दल-विशेष को ही आनन्द देने के लिए नहीं उदय होती वरन्, उससे प्राणिमात्र आनन्द विभोर हो उठता है। साहित्य केवल जीवन की सामयिक समस्याओं का समाधान नहीं है क्योंकि, हम प्रायः देखते हैं कि सभी कुछ प्राप्त होने पर भी कभी-कभी हमारा मन एक अज्ञात आभाव का अनुभव करने लगता है और साहित्य हमारी इस पिपासा को भी शान्त करने में सहायक होता है। साहित्य स्थूल तथा सूक्ष्म जीवन की आवश्वकताओं की उपार्जित रत्नराशि है। इसी से उसमें शरीर और मन के वेगों का रसायनिक समिश्रण रहता है। वह एकांगी होकर वीहड़ एवं विकलांग हो जावेगा, इसमें सन्देह नहीं है।

हर्ष की बात है कि पन्त जी की विचार धारा में परिवर्तन हुआ। यथार्थ जीवन के संघर्ष को देखने का जो प्रयास कवि ने किया था वह अधिक चल नहीं सका। अस्तु पन्त जी उससे अलग हो गये। सम्पूर्ण प्रगति वादी आन्दोलन के बीच में सच्चे अर्थों में उसे जो एक कवि मिला था वह भी छूट गया। पन्त के कवि का क्षेत्र ही कल्पना, सौन्दर्य भावना से निर्मित है। दूसरी जगह कहीं

बीनेगा सत्य अहिंसा के
ताने-बानों से मानव मन !

'जीवन की लहर-लहर से' हँसने-खेलने वाला कवि यहां अपने को एक विशेष लहर में सीमित कर लेता है, यह मानो पन्त जी का युग समर्पण है। पीड़ित-युग की नव जागृति के प्रति उनके मन की ममता है—

झड़ पड़ता जीवन डाली से
मैं पतझड़ सा जीर्ण पात,
केवल केवल जग आँगन में
लाने फिर से मधु का प्रभात।

यह आत्मत्याग की भव्य भारतीय भावना है। भारत सदैव से अपने आदर्शों की चिरन्तनता पर ही विश्वास करता आया है। हम विज्ञान के बल से सारे संसार के बहुत समीप हैं। अस्तु वहां की रीति-नीति का भी हम अपने में चिह्न पाते हैं। विदेशों में भौतिक जीवन की बड़ी मान्यता है, इसी के आधार पर वहां जीवन प्रणाली का भी निर्माण होता है। इसका परिणाम यह होता है कि भौतिक-संसार के स्वरूपों की भांति उन लोगों के जीवन-आदर्श भी बदलते रहते हैं, भारत न तो उतना भौतिक रहा न उतना परिवर्तनशील। यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

धर्म, नीति और सदाचार का मूल्यांकन है, 'जनहित' विचारों के बदल जाने से स्वयं अभिव्यक्ति में भी परिवर्तन आ जाता है और सबसे पहले कला का दृष्टिकोण बदलता है, यथा—

'ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण' भावना में यथार्थ की यह दृष्टि कवि को केवल उन्हीं वस्तुओं की ओर आकृष्ट करती है जो उसके पार्थिव जीवन के साथ अधिक सत्य और सुघर हैं। अस्तु किसी वस्तु विशेष का यथा तथ्य चित्रण ही काव्य का आधार नहीं है। पन्त जी कहीं-कहीं कवि साधक न होकर एक समाजवादी विचारक रहे, उनकी काव्य-कला के कोमल रेशमी धागों में राजनीतिक तथा सामाजिक रंग चढ़ गया। उन्होंने मानव के बाह्य वस्त्र उपकरण भी अपनी [illegible] में खादी की [illegible] का वर्णन किया। किन्तु पन्त जी कवि हैं, कलाकार हैं, यहां उनका यह गुण [illegible] भावनाओं में भी [illegible] उनकी [illegible] और [illegible] सुन्दर रूप में समाहित है। यों भी [illegible] पन्त जी की [illegible] भाव,

१६

पन्त की व्यापकता

कविवर पन्त का स्मरण आते ही मेरी आन्तरिक आँखों के आगे उसी शुभ्र हिमालय का चित्र अंकित हो जाता है, जिसका वर्णन पन्त-काव्य में सर्वाधिक हुआ है। सम्भवत: पन्त के व्यक्तित्व की तुलना में केवल हिमालय ही टिक सकता है। पन्त के व्यक्तित्व का वही उन्नत सजल स्वरूप, वही विराट और विस्तृत भाव-प्रसार, नाना द्वन्द्वों एवं संघर्षों के बीच वही अचल-अटल स्थिरता और गम्भीरता पन्त जी के स्वाभाविक आभूषण हैं। केवल वाह्य साम्य ही नहीं, हिमालय से पन्त के व्यक्तित्व की आन्तरिक समता भी परिलक्षित होती है। हिमालय के ऊपरी हिम-प्रस्तर जड़ित उदास भंगिमा के भीतर लोक-कल्याण और करुणा की जो स्रोतस्विनी सरिताओं तथा प्रभातों के रूप में प्रवाहित होकर भूमि को शस्य श्यामला बनाती रहती है वही भावना पन्त काव्य में भी प्रवाहित मिलती है—

मैं गीत विहग निज मर्त्य नीड़ से उड़ कर—
चेतना गगन में; मन के पर फैलाता,
मैं अपने अन्तर का प्रकाश बरसा कर,
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता।

... ...

मैं नव-मानवता का सन्देश सुनाता,
स्वाधीन देश की गौरव गाथा गाता,

जाकर वह अपने स्थान से अलग सा पड़ जाता है। परम प्रसन्नता की बात है कि पन्त जी 'स्वर्ग धूलि' तथा 'स्वर्ग किरण' के माध्यम से काव्य के पूर्ववर्ती 'रजत शिखर' की ओर उन्मुख हुए यद्यपि इधर की रचनाओं में दार्शनिक विचारों की अधिकता है। अरविन्द दर्शन का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। अन्तर्मुखी-भावना के साथ ही कई रचनायें एक दम प्रारम्भिक पन्त की कल्पना-शीलता तथा सौन्दर्य-प्रियता की याद दिलाती हैं।

सिद्धान्तों से अनुप्राणित है, मानव-जाति के विभिन्न श्रेणी-वर्गों तथा सम्प्रदायों के बीच के व्यवधानों को हटाने के लिए प्रयत्नशील है, जो मानव के विश्व-सम्मेलन के लिए नवीन नैतिक दृष्टिकोण, नवीन सौन्दर्य बोध तथा नवीन सांस्कृतिक उपादानों का सृजन करता है, वही प्रगतिशील साहित्य वास्तव में इस युग के साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है।" पन्त-साहित्य यही कार्य कर रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

लोक रंजनी कला के ऐसे रस सिद्ध कवि को अपना प्रणाम देकर उसका अभिवंदन-वंदन करते हुए मैं अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहा हूँ।

विश्व सभ्यता रुग्ण हृदय में
व्याप्त हलाहल भीषण,
अमृत मेघ भारत क्या छिड़केगा
न प्राण से जीवन ?

जीवन पतझर में जन-मन की डालों पर,
मैं नव मधु के ज्वाला पल्लव सुलगाता।

भारतीय जीवन में, उसके सांस्कृतिक विकास में, उसकी चेतना में जीवन की जाह्नवी अनेक दिशाओं से अनेक धाराओं में आकर उसमें हिल-मिल गयी है। इसलिए हमारी आन्तरिक चेतना में आदिम मनुष्य की स्वच्छंद विराट आनन्द भावना से लेकर मुगल कालीन वैभव-विलास की भावना तक सभी विद्यमान है। आशय यह कि पन्त-युग की समष्टि-चेतना को समझने के लिए युगों का इतिहास देखना अनिवार्य रहेगा। पिछले इतिहास के ज्वलन्त निष्कर्षों के अवगाहन बिना हम पन्त-काव्य-सरोवर का सुखानुभव नहीं कर सकते। देश की सांस्कृतिक दृष्टि से समन्वित पन्त-काव्य की कतिपय प्रमुख विशेषतायें ये हैं—

१—सामंजस्य पन्त-काव्य की प्रमुख विशेषता है। इसमें विषय और विरोधी भावनाओं का अद्भुत सम्मिलन हुआ है।

२—पन्त का दृष्टिकोण अध्यात्मिक है, जो वस्तु-सत्य और भाव-सत्य का संतुलित स्वरूप है।

३—अपने इसी दृष्टिकोण के कारण पन्त ने अनुकरण की अपेक्षा अभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया है। वस्तुतः वाह्य की अपेक्षा आंतरिक और वस्तु की अपेक्षा अनुभूति का पन्त-काव्य में प्राधान्य है।

४—पन्त का सौंदर्य-चेतना अनुभूति के आधार पर प्रतिष्ठित होने के कारण वर्णनात्मक न होकर व्यंजनात्मक है। स्वभावतः अधिक मनोरम और बोध गम्य।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि संघर्ष से सामंजस्य और सामंजस्य से शान्ति तथा शान्ति से आनन्द के आविर्भाव की गाथा ही पन्त-काव्य का मूलाधार है। भौतिक विज्ञान की इस अपरिणामदर्शी एकांगी उन्नति की स्थिति में अपने सरस काव्य के माध्यम से पन्त ने जिस चेतना-विज्ञान की प्रतिष्ठा की है, वह युग-युगों तक सामूहिक मानवता के विकास में सहायक और पथ-प्रदर्शक सिद्ध होता रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

पन्त जी ने स्वयं लिखा है—

"अतएव यह साहित्य जो [illegible] जाति की [illegible]

स्थितियों को पार करती हुई अपने विकास पथ में अपने भीतर निहित अमर-अजर आत्मा का भी अनुभव प्राप्त करती है जो प्राणियों में उसकी श्रेष्ठता की प्रतीक है। यही आत्मचेतना आगे चलकर ब्राह्मी चेतना का स्वरूप धारण करती है, जो चेतना का चरम विकास है।

चेतना के इस चरमविन्दु को छूने वाले तत्व ज्ञानियों का मत है कि सृष्टि की रचना के लिये यह ब्राह्मी चेतना आत्म संकल्प द्वारा जड़ में लीन होकर आत्म विस्मृति तथा आत्म विभाजन के पथों से आत्म उपलब्धि का आनन्द प्राप्त करती है इसी कारण सृष्टि को उस परम तत्व की लीला भी कहा गया है। आध्यात्मिक साधकों का निष्कर्ष है कि सच्चिदानन्द ने आत्मोपलब्धि के लिये ही इस जड़-चेतन मय सृष्टि की रचना की है। स्वाभावतः निखिल प्रकृति और अखिल जीव स्वतः स्फूर्त योग साधना द्वारा उसी आत्मोपलब्धि की साधना में रत हैं।

महादेवी जी ने सृष्टि क्रम का उल्लेख इस प्रकार किया है—

न थे जब परिवर्तन दिन रात,
नहीं आलोक तिमिर थे सात,
व्याप्त था सूने में सब ओर,
एक कम्पन थी एक हिलोर।
न जिसमें स्पन्दन था न विकार,
न जिसका आदि न उपसंहार,
सृष्टि के आदि आदि ये मौन,
अकेला सोता था वह कौन ?

... ...

हुआ त्यों सूने पन का भान,
प्रथम किसके उर में अम्लान,
और किस शिल्पी ने अनजान,
विश्व प्रतिमा करदी निर्माण ?

... ...

स्वर्ण लता सी कब सुकुमार,
हुई उसमें इच्छा साकार,

२०

महादेवीजी की वेदनानुभूति

महादेवी जी का काव्य-पथ आध्यात्मिक है। वस्तुतः उनका आराध्य अद्वैतवादियों का चिर चेतन ब्रह्म है। यह ब्रह्म कवि का प्रिय और सम्पूर्ण सृष्टि का कारण भी है। सन्देह नहीं कि यह ब्रह्म चेतन है और इसका कोई स्थूल रूप सम्भव नहीं पर मानवता के आदिकाल से लेकर आज तक के साधकों ने अपनी-अपनी रुचि तथा साधना के अनुसार उसके भिन्न-भिन्न रूपों का आकलन किया है। इस चेतना की चरितार्थकता लिए प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक के दार्शनिकों, ऋषियों, सन्तों तथा साधकों की वे जीवन झाँकियाँ हैं, जिनसे इस रहस्य का स्पष्ट उद्घाटन होता है। महादेवी जी ने उस परम तत्त्व को अपने प्रियतम के रूप में ग्रहण किया है।

इस भावना के अनुभूति शून्य तथा केवल अनुमानात्मक होने के आक्षेपों का भी महादेवी जी ने बहुत सुन्दर उत्तर दिया है—

> "जो न प्रिय पहचान पाती!
> दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत-सी तरल बन?
> क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन?
> किसलिए हर साँस तम में सजल दीपक राग गाती?"

बात यह है कि बाह्य रूप से देखने पर यह जगत [illegible] में अचेतन से नियमित होता दिखाई पड़ता है। जड़-जगत में चेतना का अभाव-सा प्रतीत होता है किन्तु वनस्पति, पशु-पक्षी तथा मानव में चेतना का उत्तरोत्तर विकास स्पष्ट और प्रत्यक्ष है। मानव की चेतना सजीव, [illegible]

जन्म ही जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास
चुरा लाया जो विश्व समर
वही पीड़ा की पहली साँस ?

इस प्रकार जब जीवात्मा अपनी वास्तविक स्थिति को समझ लेती है तब उसके लिए अपनी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा स्वाभाविक बन जाती है।

दर्शन के इस बौद्धिक चिन्तन की भावात्मक प्राणप्रतिष्ठा से महादेवी ने उसे एक ऐसी सरसता दे दी है जो अपनी उर्वरता से काव्य-भूमि को पुलकित करने तथा अलौकिक सौंदर्य को स्पष्ट करने में सफल है। काव्य की इस आध्यात्मिक भूमि पर पहुँच कर कवि व्यक्तिगत सीमा को पार कर विश्व की अनेकता में एकता का दर्शन तभी सम्भव हो सकता है, अन्यथा नहीं। महादेवी जी का विश्वास है कि—

"विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जलविन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।" अपनी इस भावधारा के अनुकूल उन्होंने दुख का वैज्ञानिक विश्लेषण भी उपस्थित किया है—

रजत रश्मियों की छाया में,
धूमिल घन सा वह आता।
इस निदाघ से मानस में,
करुणा के स्रोत बहा जाता।
उसमें मर्म छिपा जीवन का,
एक तार अगणित कम्पन का।
संसृति के सूने पृष्ठों में करुण काव्य वह लिख जाता।

... ...

दुख के पद छू बहते झरझर,
कण कण से आँसू के निर्झर।
हो उठता जीवन मृदु उर्वर,
लघु मानस में वह असीम जग को आमंत्रित कर लाता।

"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक [illegible] बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख चाहे हमें [illegible]

उगल जिसने तिन रंगे तार
बुनलिया अपना ही संसार।

... ...

सिन्धु की जैसे तप्त उसाँस,
दिखा नभ में लहरों का लास,
घात प्रतिघातों की खा चोट
अश्रु बन फिर आ जाती लौट।
बुलबुले मृदु उर के से भाव
रश्मियों से कर कर अपनाव,
यथा हो जाते जलमय प्राण
उसी में आदि वही अवसान।

... ...

मृत्यु का प्रहस्त सा उर चीर
प्रवाहित होता जीवन नीर,
चेतना से जड़ का बन्धन
यही संसृति की हृत्कम्पन।

काल सीमाहीन अवकाश में वह अनादि अनन्त सो रहा था। एकाकीपन के भार से व्याकुल होकर उसने अपनी सहज इच्छा से सत्व, रज, तम से पूर्ण सृष्टि की रचना की जिसका उद्भव, विकास तथा लय समुद्र में लहरों के समान उसी में होता रहता है। लहरें जिस प्रकार विशेष आकार में बँधकर अपने को सिन्धु से भिन्न तथा वियुक्त मानकर किसी खोज में सिहरती तथा लहरती रहती हैं, उसी प्रकार परम व्यापक चेतना भी 'नाम' तथा 'रूप' में बँधकर अपने को ससीम समझती हुई असीम की खोज में विह्वल हो उठी। युग-युग से उस परमतत्व से वियुक्त आत्मा की व्यथा और खोज की आकुलता की अभिव्यक्ति महादेवीजी के काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है।

कहना न होगा कि आत्मा का परमात्मा से यही विछोह वियोग महादेवी जी के काव्य का वेदना तत्व या विरहानुभूति है। कवि के इस जीवन दर्शन तथा साधना के अनुरूप यह वेदना भी अत्यन्त मार्मिक और व्यापक है, क्योंकि इस वेदना का सम्बन्ध किसी व्यक्ति से न होकर सम्पूर्ण सृष्टि से है—

है कि वियोग व्यथा की यह धारा महादेवीजी की चेतना में 'कूल हीन प्रवाहिनी' बन गई है। उनमें दुखी विश्व को शीतलता प्रदान करने के लिए बादलों की भाँति घिर-घिर कर मिटने और मिट-मिट कर घिरने की अभिलाषा है—

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय
नित घिरूँ झर झर मिटूँ प्रिय।

कबीर ने विरह की अनुभूति में कहा था—'दुखिया दास कबीर'। मीरा को भी कहना पड़ा था—'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई' किन्तु महादेवी जी ऐसा नहीं कह सकतीं, क्योंकि यह सम्पूर्ण विश्व उनकी अपनी ही स्थिति में हैं, उनका अपना है। अति भक्त या व्यक्ति-साधना की भाँति वे अपनी मुक्ति की कामना नहीं करतीं। उनका सारा प्रयास सम्पूर्ण संसार के विषाद को दूर करने के लिए है—

आज वर दो मुक्ति आये बन्धनों की कामना लें।
मैं सजग चिर साधना ले।

इतना ही नहीं वे अपने प्रिय से कहती हैं—

मेरे गीले पलक छुओ मत
मुर्झाई कलियाँ देखो,
बिखरी पंखुरियाँ देखो।

साफ है कि उनकी दुःखानुभूति की व्यापकता और यह व्यथा-प्रियता उन्हें जीवन के उस सत्य का साक्षात्कार कराने में सफल है जो मनुष्य की अनेक जन्मों की तपस्या के बाद प्राप्त होता है।

कवीन्द्र रवीन्द्र की एक उक्ति इस प्रकार है—

आमार माझारे जे आछे से गो कोन विरहिणी नारी।

उपनिषद् में भी कहा गया है कि उस अनादि अव्यक्त पुरुष को अपने आपको व्यक्त करने की इच्छा हुई, क्योंकि अकेलेपन में किसी को आनन्द नहीं मिलता, दो की स्थिति में आनन्द है। द्वैतभाव से ही आनन्द का रस मथित होता है। इसलिए उसने अपने को पुरुष और नारी में विभक्त किया। यही कारण है कि पुरुष और नारी एक दूसरे के प्रति इतने प्रबल आकर्षण के साथ मिलना चाहते हैं। समस्त विश्व मण्डल नारीत्व के भाव से भरा हुआ है। सनातन नारीत्व के इस भाव के कारण ही सृष्टि जन्य विरह के भाव द्वारा जीव जगत आनन्द

पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता।" यह उनकी मान्यता है।

आदि कवि से लेकर आज तक के कवि-हृदयों में दुःख की यह उर्वरा धारा भिन्न-भिन्न रूपों में प्रवाहित होती आ रही है, जो अदम्य आत्म प्रकाश की प्रवृत्ति का प्रतीक है। महादेवी जी ने उसको एक अभिनव रूप देने में सफलता पाई है। यह जान कर भी कि जड़-पाश में बद्ध चेतन जीवात्मा उसी चिर चेतन ब्रह्म का अंश है, वे उसमें अन्य साधकों की भाँति लीन हो जाना नहीं चाहती, क्योंकि उस स्थिति में उनका अस्तित्व ही मिट जायगा और वेदना तथा विरह की अनुभूति भी समाप्त हो जायगी। उन्होंने लिखा है—

मुझे है उसकी धुँधली याद
बैठ जिस सूनेपन के कूल,
मुझे तुमने दी जीवन बीन
प्रेम शत दल का मैंने फूल।

... ...

उसे तुमने सिखलाया हास
पिन्हाए मैंने आँसू हार,
दिया तुमने सुख का साम्राज्य
वेदना का मैंने अधिकार।
वही कौतुक रहस्य का खेल
बन गया है असीम अज्ञात,
हो गई उनकी स्पन्दन एक
मुझे अब चकवी की चिर रात।

... ...

विरह का तम हो गया अपार,
मुझे अब वह आह्वान प्रयाण,
बन गया है मेरा अभिसार
जिसे तुम कहते हो अवसान।

वस्तुतः महादेवी का यह दृढ़ है कि वे अपनी इस वेदनानुभूति का अन्त नहीं चाहेंगी। और—"[illegible] पीड़ा का भार, देख [illegible] कल्पना की [illegible]।" स्पष्ट

अगरु गन्ध ला लाकर जिसके विकच अलकों को भर देती है, जिसके जावक रचे मृदुल पदों को चूम कर श्वेत बादल गुलाबी रङ्ग धारण करते हैं, जिसका दृष्टि-निक्षेप विश्व को नाना रूप रङ्गों से भर देता है, वह मुकुलदशना, मधुप रशना, राग छलकाती हुई अरुण वसना ऊषा ने भी उन्हें अपनी विरह-साधना की प्रेरणा दी है। रहस्यवाद की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—

"आत्मा अपने सीमित रूप में जड़ से बँधा है, अतः प्रकृति की उपाधियाँ उसे मिल जाने के कारण वह भी परम पुरुष के निकट प्रकृति का परिचय लेकर उपस्थित होने लगा। आत्मा को चिति के रूप में ग्रहण करने वाले मनीषी भी उसके स्वभाव का आभास देने के लिए नारी संज्ञाओं का प्रयोग करने लगे। समर्पण के भाव ने भी आत्मा को नारी की स्थिति दे डाली। सामाजिक व्यवस्था के कारण नारी अपना कुल क्षेत्र आदि परिचय छोड़कर पति को स्वीकार करती है और स्वभाव के कारण उसके निकट अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर उस पर अधिकार पाती है। अतः नारी के रूपक में सीमाबद्ध आत्मा का असीम में लय होकर ससीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है।"

आदि काल से रहस्यवादियों ने परमतत्व और आत्मा के बीच में माधुर्य-भाव मूलक सम्बन्ध की स्थापना के लिए इन दोनों में पुरुष और नारी भाव का आरोप किया है। सांख्य ने भी जड़त्व को त्रिगुणात्मक प्रकृति और विकार शून्य चेतन को पुरुष की संज्ञा दी है। नारी होने के नाते काव्य की यह भाव धारा महादेवीजी में जितनी सरस स्वाभाविकता पा गई है उतनी किसी अन्य कवि में नहीं, यह निर्विवाद है। वस्तुतः महादेवी की विरह-वेदना मानवीय चेतना के उच्चतम शिखर से फूटकर बहने वाली आध्यात्मिक गंगा है जो अलौकिक भावनाओं की शत-शत लहरियों से विश्व के सतप्त प्राणों को परि-प्लावित करती हुई चिर शान्त अनन्त सागर की ओर बराबर प्रधावित है।

अन्त में उनकी इस काव्यधारा के प्रतीक रूप में उन्हीं की एक कविता उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पाता। इस विरहिणी पङ्कज कली में हम उनका पूरा इतिहास पढ़ सकते हैं।

पङ्कज कली !
क्या तिमिर कह जाता करुण ?
क्या मधुर दे जाती किरण ?

का अनुभव कर पाता है। कवि कुल गुरु कालिदास की रचना से भी इसी [illegible] की परिपुष्टि होती है—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य-शब्दान्
> पर्युत्सुकी भवति यत् सुखतोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा   स्मरतिनूनमबोधपूर्वम्
> भावस्थिराणि   जननान्तर सौहृदानि !

रमणीय वस्तु के दर्शन और मधुर शब्द के सुनने से सुखी लोगों को भी उत्सुक होते देख कर यही समझ पड़ता है कि उन लोगों को निश्चय ही ऐसे अवसर पर भाव के भीतर अज्ञात रूप से स्थित जन्मान्तर के प्रेम का स्मरण हो आता है।

कहना न होगा कि महादेवीजी की प्रेरणा का मूल उत्स भी प्रकृति के सुन्दर मधुर दृश्यों में ही है। वर्षा का एक चित्र इस प्रकार उन्होंने चित्रित किया है—

> रूपसि तेरा घन केश पाश !
> श्यामल-श्यामल कोमल-कोमल
> लहराता सुरभित केश पाश।
> कम्पित हैं तेरे सजल अङ्ग
> सिहरा-सा तन है सद्य [illegible],
> भीगी अलकों के छोरों [illegible]
> चूतीं बूँदें कर विविध ला[illegible]
> रूपसि तेरा घन केश पाश !

...   ...

> उच्छ्वसित वक्ष पर चंचल है
> बक-पाँतों का अरविन्द हार,
> तेरी निश्वासें छू भू को
> बन-बन जाती मलयज बयार,
> केकी रव की नूपुर ध्वनि सुनि
> जगती जगती की मूक प्यास।
> रूपसि तेरा घन केश-पाश !

इसी प्रकार [illegible]

२१

महादेवी की कविता

अपने नाम के साथ जिस महा के महत्त्व को लेकर महादेवी चली हैं, वही महत्व उनके काव्य में भी परिलक्षित होता है।

आनंद, ओज एवं मार्दव की जिस त्रिगुणात्मक कला प्रकृति से भारती-मंदिर का छायायुगीन निर्माण प्रसाद, निराला तथा पंत के द्वारा हुआ, उसके पूर्ण उत्कर्ष-काल में महादेवी ने काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। इस भावधारा की कलेवर-वृद्धि का श्रेय केवल उसके वार्द्धक्य का ही कारण बनता। अतएव महादेवी ने उसमें ऐश्वर्य की प्राण-प्रतिष्ठा की और उसे ऐश्वर्यशाली बनाकर महिमान्वित किया।

वास्तव में महादेवी के काव्य का रंगस्थल ऐश्वर्य ही है। महादेवी के सहयोग से छायायुग ऐश्वर्य, आनंद, ओज तथा मार्दव की अंतरंग तथा बहिरंग चतुरंगिणी से संरक्षित और सजित-शोभित है।

यह सर्वविदित है कि आदिकाल से लेकर आजतक अपने ऐश्वर्य के आकलन तथा स्थापन के ही माध्यम से मनुष्य चेतना के इस स्तर तक पहुँचा है। यों अन्य जीवों की भाँति वस्तु-तथ्य मनुष्य का भी प्राप्य तथा संबल है, किन्तु उसका भाव-तथ्य—उसका सार-सत्य ऐश्वर्य ही है। कहना न होगा कि ऐश्वर्य का लक्ष्य अभावों की पूर्ति न होकर महत्व तथा महिमा की उपलब्धि है। मनुष्य की यह ललकार स्मरणीय है—भूमैव सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।

उस दिन की कल्पना कीजिए जिस दिन मनुष्य ने चतुष्पद जीव-श्रेणी से जन्म पाया और सीना तान कर दो पैरों पर खड़ा हो गया। मनुष्य ने कहा

किस प्रेम मय दुख से हृदय में
अश्रु में मिश्री घुली ?
किस मलय सुरभित अङ्क रह
आया विदेशी गन्ध वह
उन्मुक्त उर अस्तित्व खो
क्यों तू उसे भुज भर मिली ?
रवि से झुलसते मौन दृग
जल से सिहरते मृदुल पग
किस व्रतव्रती तू तापसी
जाती न सुख-दुख से छली ?
मधु से भरा विधु पात्र है
मद से उनींदी रात है
किस विरह में अवनत मुखी
लगती न उजियाली भली ?
यह देख ज्वाला में पुलक
नभ के नयन उठते छलक
तू अमर होने नभ धरा के
वेदना पग से पली !
पङ्कज कली, पङ्कज कली !

मनुष्य के माध्यम से हुआ है, इसलिए यह समझना सहज है कि आदि-अंत हीन सत्य, परमतत्त्व मनुष्य के माध्यम से अपने को प्रतिष्ठित करना चाहता है। वस्तुतः मनुष्य का स्वभाव शाश्वत सत्य के अनुकूल बनते चलना है। मनुष्य के सारे ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, साहित्य उस सत्य की पूर्ण प्राप्ति के ही माध्यममात्र हैं, स्वार्जित निधियाँ हैं, ऐश्वर्य-स्थापनाएँ हैं।

साधारणतः मनुष्य की दो स्थितियाँ हैं—एक प्रत्यक्ष शारीरिक और दूसरी मानसिक एवं आध्यात्मिक। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मनुष्य के भीतर दो भाव हैं—एक उसका जीवभाव और दूसरा उसका विश्वभाव। जीवभाव आकांक्षा और तृप्ति के प्रयोजन की प्रदक्षिणा करता भटकता रहता है, किंतु विश्वभाव एक आदर्श को लेकर जीवित रहता है। यह आदर्श उसके अंतर का आह्वान—एक रहस्यमय निर्देश है।

ऋग्वेद ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृदं दिवि।

जीव गत प्रक्रिया में उसका केवल चतुर्थांश परिलक्षित होता है, बाकी वृहत् अंश अमृत स्वरूप ऊर्ध्व में है। मनुष्य इस तत्व को प्राप्त करने की साधना में संलग्न है। अहं को लेकर जिस प्रकार वह अहंकार का स्तूप खड़ा करता है, उसी प्रकार अहं से वियुक्त आत्मा में भूमा की उपलब्धि भी वह कर सकता है। उपनिषद् में कहा गया है कि संभूति और असंभूति के साधनात्मक समन्वय से ही सत्य का रहस्य स्पष्ट होता है। सहज जीवन में भी प्रायः प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि बाहर जो कुछ भी वह है, भीतर उससे बहुत बड़ा है। ठीक उसी तरह जैसे किसी एक मनुष्य से निखिल मनुष्यता बहुत बड़ी है। आशय यह कि मनुष्य एक ओर मृत्यु के अधिकार में है तो दूसरी ओर अमृत के, एक ओर वह व्यक्तिगत सीमा में बन्दी है तो दूसरी ओर विश्वगत विराट में मुक्त। मनुष्य स्वयं जानता है कि तद् दूरे तदंतिके च—वह दूर भी है, पास भी है। इसीलिए मनुष्य का जो संसार उसके अहं के क्षेत्र में है, उसे वह सीमित करता है, किंतु जो संसार उसकी आत्मा के क्षेत्र में है, उसे असीमित बनाता है। उसकी सार्थकता भूमा में है, जहाँ मनुष्य की विद्या, मनुष्य की साधना समस्त काल के समस्त मनुष्यों को लेकर सत्यरूप में प्रतिष्ठित होती है। मृत्यु के मध्य से अमृत की स्थापना में मनुष्य का चरम ऐश्वर्य [illegible] होता है—

ऐश्वर्य-प्रकाशन का यह प्रथम सोपान था—इसमें संदेह नहीं। शरीर और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करके अपनी आंतरिक स्वतंत्रता का यह पहला सक्रिय उद्घोष कम आश्चर्य का विषय नहीं। यद्यपि अन्य जीवों की अपेक्षा इस विद्रोह के कारण उसे बहुत-सी शारीरिक कठिनाइयां उठानी पड़ीं तथापि उसने अपने शरीर की अपेक्षा मन की विजय स्वीकार की और जीवों के बीच अपनी विजय का ध्वजा फहराया। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है। मूल पंचभूतों का श्रेष्ठतम समन्वित विकास केंद्र बनकर इससे कुछ कम वह करता भी क्या? प्राय: प्रत्येक प्रकार की गति में प्रभाव डालने वाले अपने आकर्षण की चेतना से ही धरती माता ने भूमिवासी जीवों का चतुष्पद प्रजनन किया था। संतान का हठ और उसके साहस को देख कर ही मानवी माता ने आगामी संतानों की द्विपदता स्वीकार की हो, तो आश्चर्य नहीं। हमारे यहां शास्त्रों ने जीव-योनियों का विकास उनके मानसिक विकास के ही अनुसार माना है। कहते हैं, विकास-वादी डार्विन भी वृक्षों में पैने कांटों की स्थिति को वृक्षों के रक्षाभाव का ही परिणाम मानता है। जो भी हो, मनुष्य की स्वनिर्मित द्विपद-व्यवस्था उसके अदम्य ऐश्वर्य का ही प्रतीक है।

दो पैर से सीधा खड़े होने की क्रिया में मनुष्य को असुविधाओं के साथ कतिपय सुविधाएं भी प्राप्त हुईं। एक ही रेखा में अपनी शारीरिक गति को संचालित कर सकने की अपेक्षा वह वृत्त-गति का अधिकारी बना और अपनी आंखों का चतुर्दिक् प्रसार प्राप्त किया। उसने चारों तरफ दृष्टि-निक्षेप किया नहीं कि अपने को केंद्र में स्थित पाया। उसने यह भी देखा कि चतुर्दिक् बिखरी वस्तु-राशि में एक प्रकार का तारतम्य और संबंध है। आगे चल कर मनुष्य की यही दृष्टि-अनुभूति उसका दर्शन बनी।

उसने इतने ही से संतोष नहीं किया। कर्म और दर्शन की स्वतंत्रता के पश्चात् उसने मानसिक स्वतंत्रता—कल्पना का विधान किया, जो जीवों में एकमात्र मनुष्य की ही विशेषता है। इस कल्पना के द्वारा देश और काल से परे पहुंचने की भी क्षमता उसने प्राप्त कर ली। एक होकर भी वह अनेक और अनंत की अनुभूति प्राप्त करने लगा और स्वयं स्वनिर्मित [illegible] सिंहासन पर बैठा। मनुष्य के इस विशालत्व की [illegible] और [illegible] संभव नहीं। स्वतः-स्फूर्त आत्मचेतना की [illegible] अभी तक [illegible] भी नहीं बना पाये।

भारतीय मनीषियों ने इसे मन का स्वतंत्रता और मनुष्य की आत्मोपलब्धि कहा है। यही उसकी परम शक्ति है। [illegible] इस [illegible] का [illegible]

अलग महत्ता है। कतिपय विद्वानों की राय है कि कवित्व और दर्शन का संमिश्रण सुकर या सम्भव नहीं होता, किन्तु मुझे इन दोनों के विरोध की कोई संभावना नहीं जान पड़ती। कवि सौंदर्य का साधक होता है और दार्शनिक सत्य का शोधक। यों भी सौंदर्य सत्य का उत्पादक है और सत्य सौंदर्य का रक्षक। आशय यह है कि सौंदर्य और सत्य के पथों का पर्यवसान एक ही चरम केंद्र सत्ता में होता है। जो भी हो, महादेवी ने काव्य और दर्शन का बहुत ही संतुलित स्वरूप ग्रहण किया है, तभी उनका काव्य उस परमतत्त्व की खोज तथा उपासना एवं उसकी पूर्ण प्राप्ति का सुन्दर सोपान है। कवींद्र रवींद्र ने कहीं पर ऐसा कहा है—भारत में दर्शन का काव्य से शाश्वत सम्बन्ध रहा है, क्योंकि यहाँ के दर्शन का उद्देश्य जन-जीवन का आध्यात्मिक उत्कर्ष है, न कि तर्कजाल की गुत्थियों में उलझाकर उनके सुलझाने की चेष्टा में विद्वत्ता-प्रदर्शन? महादेवी का दर्शन तर्कजाल नहीं, वरन् आत्मा की जीवनव्यापी भावात्मक अनुभूति का सुफल है। कहना न होगा कि उनका दर्शन उतना ही व्यापक और महान है, जितना उनका कवित्व। उनका दर्शन यदि सत्य का बोध है तो उनका काव्य उस सत्य का सौंदर्य-प्रसाधन। यह विशेष महत्त्व की बात है कि महादेवी का दर्शन उनके काव्य की कलात्मकता से उसी प्रकार करुण-कोमल है जिस प्रकार उनका अश्रु-सिंचित आत्मभाव-कोमल कुसुम। इस स्थल पर महादेवी ज्ञानयोगी की अपेक्षा भावयोगी हैं।

भारतीय दर्शन के सारतत्त्व गीता में जीव की चरम शान्ति के तीन मार्ग निर्दिष्ट हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग (भावयोग अथवा प्रेमयोग)। महादेवी प्रेमयोग को ही उसकी प्राप्ति का साधन मानती हैं। प्रेम, भाव और क्रिया की ऐसी संयुक्त-समन्वित जीव-स्थिति है जो ज्ञान और कर्म को, सहज ही अपने में समाहित कर लेती है। प्रेम कर्म का त्याग नहीं, गुरुतम ग्रहण है; क्योंकि कर्म ही प्रेम की लीला है। प्रेमी के व्यक्तित्व का उन्मेष कर्म से ही होता है। उसके साथ ही यह भी ठीक है कि कर्मों की द्विविधा का अन्त भी प्रेम से ही संभव है, क्योंकि अद्वैत का आकलन प्रेम के ही द्वारा संभव है। यही प्रेम जीवन की मूल प्रेरक शक्ति है। प्रसाद ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेमकला।

प्राणी की कोई भी प्रेरणा इसके अभाव में जीवित नहीं रह सकती। यह

अप्रतिष्ठितं वै किल ते साम,
अन्तवद् वै किल ते साम।

आदि भूत की सीमा में जो प्रश्न उलझ गया था, वह उसकी सीमा पार कर आगे निकल गया। संभवतः इसी कारण जीवों के बीच केवल मनुष्य ही अमिताचारी बन पाया है। वह अमित पाना चाहता है, अमित देना चाहता है, जो उसके भीतर प्रतिष्ठित अमित मानव का ही प्रकाशमात्र है। उपनिषद् में भगवान के संबंध में एक प्रश्नोत्तर है—स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः। वह कहाँ प्रतिष्ठित है? इसका उत्तर है—स्वे महिम्नि। अपनी महिमा में। मनुष्य भी अपनी महिमा में आनंदित होता है। किसी विशाल भूमिका में अपने भीतर के सत्य को प्रगट करना चाहता है। पग-पग पर सीमा को मानकर चलने से चेतन-विज्ञान तो क्या, भौतिक विज्ञान भी कभी का ठप हो गया होता। संसार की गति का कारण मनुष्य की सहज सीमित अवस्था और उसके असीमित स्वभाव का द्वंद्व ही है। सहज सीमा में वह अपनी जीविका का आकलन करता है और स्वाभाविक असीमता में अपनी महिमा का, अपनी विराटता का, अपने ऐश्वर्य का प्रकाशन। कहा गया है कि 'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्।' मानवधर्म का गंभीर सत्य गोपन में संरक्षित है। मनुष्य का देहधर 'यही मैं' प्रत्यक्ष है, और स्वभावधर्मा 'वही मैं' अप्रत्यक्ष इन दोनों के बीच के ऐक्य को समझकर ही उपनिषद् ने उपदेश दिया था—प्रतिबोध विदितम्।

आधारभूत इस समष्टिगत एकता और एकात्मकता का बोध प्राप्त करने के बाद मनुष्य ने अपने भीतर छिपे हुए रहस्य के उद्घाटन की महत् चेष्टा में तल्लीन हो गया। उसने सोचा कि जीवन, जगत् तथा मनुष्य की वास्तविक पहचान इस रहस्य के उद्घाटन से ही संभव है। पिछली मानवता इसी प्रथा में आगे बढ़ती आई है और अपनी पूर्ण सफलता तक बढ़ती जायगी। वेद ने मनुष्य की इसी प्राप्ति को 'ऋतं सत्यम्' कहा है। प्रकृति-प्रदत्त सीमा को पार कर अपने आत्मिक सौंदर्य को प्राप्त करने में ही उसकी सार्थकता है। इस दृष्टि से अखिल विश्व मानव के मन की भूमिका में प्रतिष्ठित हो जाता है। समस्त सृष्टि के बीच एक ही आत्मा को अपने भीतर अनुभव करना ही इस पथ की ऐश्वर्यमयी सीमा है।

दर्शन और काव्य—दोनों के माध्यम से मनुष्य ने इस बोध के पाने का प्रयास किया है। महादेवी मुख्यतः कवि हैं, किन्तु उनकी कविता दर्शन से अनु-प्राणित और सुगठित है। उनके काव्य में अस्तित्व के आद्य-स्रोत सृष्टि की ओर

मनुष्यता की यही विजय है। यों यह सृष्टिक्रम का ही एक विधानमात्र है। प्रत्येक युग में जीवन के विकासशील तत्वों की उद्भावना कभी किसी मानव-समूह से, कभी किसी मानव-समूह से अपना पथ प्रशस्त करती रहती है। हम तो इसे भी मानते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

वस्तुतः छायायुग युग-चेतना का प्रतीक है—अखिल जीवन के विकास का स्वर-संधान अथवा मोड़ है। मनुष्य और शेष प्रकृति के बीच जिस साहचर्य, सौहार्द तथा सम्बन्ध की छायायुग ने स्थापना की, वह अद्वितीय होने के साथ इस भौतिक विज्ञानी युग में चेतन-विज्ञान की प्रतिष्ठा का द्योतक, समर्थक और सजग प्रहरी है। दुःख है कि इस काव्य का व्यावहारिक उपयोग तथा सम्यक् समालोचन अभी तक नहीं हो सका। अन्यथा विश्व के विचारक तथा साहित्य-पारखी इसकी प्रशंसा करते कभी न थकते। इस पयस्विनी के भगीरथ रवींद्र की दुंदुभि दुनिया में बज चुकी है। कुछ भी हो, अब समय आ गया है जबकि इस बात की घोषणा की जा सकती है कि भारतीय साहित्य का यह युग इस युग के विश्वकाव्य में श्रेष्ठ और सुन्दरतम है। निस्संदेह बीसवीं शताब्दी की बाजी भारत की है।

कवींद्र रवींद्र ने गीतांजलि द्वारा जिस परमतत्त्व की भावात्मक रहस्यमयता का उद्घाटन किया था; महादेवी भी उसी पथ की पथिक हैं। आचार्य शुक्ल तक ने रहस्यवादी अनुभूतियों की सघनता में महादेवी को रवींद्र के साथ रखा है। यह स्मरण रखना होगा कि इन दोनों कवियों की भाव-निकटता विभिन्न होते हुए भी दो विशाल पर्वतों की चोटियों की निकटता है। सच तो यह है कि भारती के इन दोनों पुजारियों में पूजा का विन्यास एक ही वर्णच्छटा से प्रोज्ज्वल और प्रगतिशील है। दोनों के काव्य-सुमनों में एक ही वर्ण, गन्ध, रस तथा सरसता की सुरभित समता-प्रदर्शन का न तो यहाँ अवकाश है और न अवसर, किन्तु इतना समझ लेना पर्याप्त है कि दोनों ही युग-काव्य की रहस्य-वादी धारा के युगल कूल हैं।

हाँ, तो रहस्यवाद एक प्रकार का प्रणय-प्रशस्त काव्यपथ है। इस पथ का अनुसरण करने के लिए परमचेतन तत्त्व (ब्रह्म) पर आस्था और उसकी परम-शक्ति पर विश्वास रखना आवश्यक है। महादेवी को यह आस्था अज्ञातत्व से

प्रेम श्रद्धा और विश्वास के दोहरे संविधान से जीवन के परमतत्त्व एवं चरम निष्कर्ष का परम अधिकारी बनता है। यह स्मरण रखना होगा कि ऐसा प्रेम कभी कर्मों का—संसार का त्याग नहीं हो सकता, बल्कि शत-शत कर्मों द्वारा वह अपने को प्रतिष्ठित, प्रमाणित तथा प्रकाशित करता चलता है। महादेवी ने लिखा है—

बन्दिनी बनकर हुई
मैं बन्धनों की स्वामिनी-सी।

महादेवी ने अपने कर्म तथा काव्य के द्वारा विश्व की अनादि चरम-चेतन-शक्ति का स्पष्टीकरण तथा भावन किया है। इस युग में कवींद्र रवींद्र तथा महादेवी का यही काव्य-पथ है।

यह तो स्पष्ट है कि इस युग ने अपनी बौद्धिक तथा वैज्ञानिक उन्नति से मनुष्य में एक ऐसी अहमिका भर दी जिसके परिणामस्वरूप वह अपनी चिर-सहचरी प्रकृति से अपने स्नेह-संबंध विच्छिन्न कर एक विजयी और विजित के स्वरूप में विहार करने लगा।

रवींद्र का काव्य, छायावादी काव्य, महादेवी का काव्य इसी अनर्थकारी भौतिकता के प्रति विद्रोह का स्वर है, सक्रिय संचरण है। आश्चर्य है कि कति-पय समालोचक इस युग की काव्यधारा का अँगरेजी की रोमांटिक काव्यधारा से मिलान करते हैं। विश्व के प्रथम महायुद्ध के पहले से लेकर उसकी विनाश-कारी समाप्ति तथा दूसरे युद्ध की सम्भावना-स्थिति तक सारे संसार में भौतिकता के विरुद्ध जो भावात्मक तथा आध्यात्मिक प्रतिक्रिया हुई, हमारा आधुनिक साहित्य उसी की सबल चेतना है। इस युग-चेतना की परिव्याप्ति भारत में प्रायः समस्त प्रांतीय साहित्यों में समान है। सृष्टि के अटूट नियम के अनुसार भौतिकता के तांडव नृत्य से निरवधि धरती में इस युग में भारत को ही चेतन स्वरों की सुरीली मनोमोहक तान छेड़नी थी। आश्चर्य है कि देश का सामा-जिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक जीवन संयुक्त रूप से एक ही तान-लय में तल्लीन होकर मुखरित हो उठा।

युद्धों की बर्बरता के युग में महात्मा गांधी ने राजनीति के क्षेत्र में, रवींद्र ने [illegible] होने वाली [illegible] चेतना को चरितार्थ किया। सत्य-अहिंसा के [illegible] व्यवहारों से, अँगरेज-जैसे कूटनीतिज्ञों से स्वराज्य प्राप्त करना भारत को ही नहीं, विश्व की महान् आश्चर्यजनक घटना है। गांधीजी [illegible] के

वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं!
सजल सीमित पुतलियों पर
चित्र अमिट असीम का वह,
चाह एक अनन्त बसती प्राण किन्तु समीप-सा वह,
रज-कणों में खेलती किस—
विरज विधु की चाँदनी मैं!

रहस्यवादी विश्वासों के साथ इस कविता में महादेवी ने मानव-जीवन में एक ऐसे ऐश्वर्य की अवतारणा की है, जो इस काव्यधारा को केवल उनकी देन है। उनका कहना है-मेरा प्रिय (ब्रह्म) चिरन्तन है। मैं क्षण-क्षण परिवर्तित होती हुई नवीन सुहागिनी हूँ। मैं वह चंचल विद्युद्गति-आभा हूँ जिसे अपने श्वास में छिपाकर बादल-सा वह असीम प्रिय शून्य आकाश में छा गया। मैं उसकी तरल-सजीली प्रेम की इच्छा के कारण उसमें छिपी न रह सकी, जल-जलकर बुझती रही और बुझ-बुझकर जलती रही। मैं वह रात्रि हूँ जो उस प्रकाशमय प्रिय की छाँह ओढ़कर अपना समय धूल में आँसू गिराने में बिताती रही और प्रातःकाल प्रकाशमय होने के समय—प्रिय से मिलने के समय हँसकर छिप गई। यदि मिलन-समय में मैं अपने मुख से यह करुण घूँघट उठा दूँ तो मैं उस प्रिय में उसी प्रकार मिट जाऊँ जिस प्रकार गरम बालू में पानी की बूँद। मैं अपने मधुर व्यक्तित्व का, अपनेपन को मिटाकर उससे कैसे मिलूँ? उसकी प्रियतमा होने का मेरा अपना अलग अभिमान है, ऐश्वर्य है। मेरी इच्छा है कि मैं युगों तक दीप की तरह जलती रहूँ; पर जब मैं उसकी इच्छा से ही कभी बुझूँ तब भी राख में मेरा अपनापन अक्षुण्ण रहे। वे सदा मेरे आराध्य रहें और मैं उनकी प्रेमिका; क्योंकि मेरी प्रेममयी सीमित आँखों में असीम का कभी न मिटनेवाला चित्र है और मेरे ससीम हृदय में उसे प्राप्त करने की अनंत अभिलाषा। धूल के कणों से निर्मित संसार में क्रीड़ा करती हुई मैं उसी दिव्य विधु (ब्रह्म) की चाँदनी हूँ।

ब्रह्म-ज्ञान का चरम लक्ष्य मोक्ष महादेवी का साध्य नहीं। उनका तो कहना है—

क्यों मुझे प्रिय हों न बन्धन?
बीन बन्दी तार की झंकार है आकाशचारी,

शैशव में ही ममतामयी आस्तिक माँ से मिल चुकी थी। कालक्रम से दर्शन के अध्ययन, प्रकृति के निरीक्षण और जीवन की वैराग्यमयी स्थिति ने उसे और भी दृढ़ तथा भास्कर बना दिया, तो यह स्वाभाविक ही कहा जायगा।

उनका विश्वास है कि एक ही चेतन से इस सृष्टि की रचना हुई है और वही उनका उपास्य, अतः प्रियतम है। नारी-सुलभ कोमलता के कारण शक्ति और सौंदर्य के उस अनादि-अजस्र स्रोत को महादेवी ने जो प्रेमाश्रयी आकार दिया है, और उस चिर-सुन्दर से अपना प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किया है, वह बहुत दिव्य, सुन्दर और स्वाभाविक है। प्रकृति के विभिन्न अंशों का पारस्परिक आकर्षण पार कर महादेवी ने प्रकृति का पुरुष (ब्रह्म) के प्रति आकर्षण को अपना आधार बनाया है। यों तो सम्बन्धों का अपना अलग-अलग महत्त्व है, पर प्रेम का ही सम्बन्ध मधुरतम होता है। प्रियतम और प्रियतमा की तन्मयता अन्यत्र कहाँ सुलभ-संभव है? महादेवी ने गर्व के साथ लिखा है—

प्रिय चिरंतन है सजनि
        क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं!
श्वास में मुझको छिपाकर
        वह असीम विशाल चिर घन,
शून्य में जब छा गया उसकी सजीली साध-सा बन,
छिप कहाँ उसमें सकी
        बुझ-बुझ जली चल दामिनी मैं!
छाँह को उसकी सजनि नव आवरण अपना बनाकर,
धूलि में निज अश्रु बोने में पहर सूने बिताकर,
प्रात में हँस छिप गई
        ले छलकते दृग यामिनी मैं!
मिलन-मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों
        तप्त सिकता में सलिल-कण,
सजनि मधुर निजत्व दे
        कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं!
दीप-सी युग-युग जलूँ पर वह सुभग इतना बता दे,
फूँक से उसकी बुझूँ तब क्षार ही मेरा पता दे,

उदासीन और दुख से भरी हूँ। मैंने क्षण-क्षण के जीवन-रस का आनन्द लिया है और मिटने को निर्माण का रूप दिया है।

आधुनिक काव्यालोचन में महादेवी के आंसुओं का काव्यगत विधान कई प्रकार से आलोचित हुआ है; परन्तु इसकी मार्मिकता की पकड़ नहीं हुई। महादेवी ने स्वयं उसे इस प्रकार स्पष्ट किया—

जिसकी विशाल छाया में
जग बालक-सा सोता है,
मेरी आँखों में वह दुख
आँसू बनकर खोता है।
जग हँसकर कह देता है
मेरी आँखें हैं निर्धन।
इनके बरसाए मोती
क्या वह अबतक पाया गिन ?

जिस दुख से संसार बेसुध होकर बालकों की भांति निरुपाय है, वह मेरी आंखों में आंसू बनकर स्वयं नष्ट होता रहता है। संसार हँसकर कह सकता है कि मैं निर्धन की भांति किसी भौतिक अभाव में रोती हूँ, किन्तु आज तक क्या किसी ने उन बहुमूल्य आंसुओं को गिनने का साहस किया है। और—

मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक से व्रीड़ा,
उसके प्राणों से पूछो
वे पाल सकेंगे पीड़ा।

इस प्रकार महादेवी ने दुख को भी ऐश्वर्य से भर दिया है—

सखे, यह है माया का देश
क्षणिक है मेरा तेरा संग,
यहाँ मिलता काँटों में बन्धु
सजीला-सा फूलों का रंग।

दुख के बीच मनुष्य को उसी प्रकार अपनी आत्मीय कुसुम-कोमलता संरक्षित करने का अवसर मिलता है जिस प्रकार कांटों से फूल संरक्षित रहकर अपने को मिटता (झड़ता) देखकर भी दूसरों को सुगंधित कर

धूल के इस मलिन दीपक से बँधा है तिमिरहारी,
बाँधती निर्बंध को मैं
बंदिनी निज बेड़ियाँ गिन !

रवींद्र ने भी यही कहा था—

वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय
असंख्य बन्धन माझे महानन्दमय
लभिबो मुक्तिर स्वादु एइ वसुधार,
मुक्तिकर पात्रखानि भरि बारम्बार ।

जीवन की ऐसी ही उद्भावनाएँ मनुष्य की विकासशील चेतना की साक्षी है, क्योंकि विकास का अर्थ ही यह है कि हमें अपने आदर्श, कर्म, ज्ञान और प्रेम के द्वारा व्यक्ति-रूप से विश्वरूप में प्रतिष्ठित होना 'एकोऽहं बहु स्याम' को चरितार्थ करना है। इस विराट व्यक्तित्व का संग्रह करने के लिए संसार की सभी वस्तुओं, स्थितियों के प्रति एक सामंजस्यपूर्ण स्नेहिल स्वभाव की अपेक्षा रहेगी—यह निश्चित है। हमारे परमानन्द की अनुभूति केवल तभी संभव है जब हम अपने को सबके साथ मिला हुआ पावें, अन्यथा नहीं। संभवतः इसी का संकेत इस कविता में महादेवी ने किया है—

अलि, मैं कण-कण को जान चली।
सबका क्रंदन पहचान चली !

... ...

इन आँखों के रस से गीली,
रज भी है दिवि से गर्वीली।
मैं सुख से चंचल दुख-बोझिल,
क्षण-क्षण का जीवन जान चली !
मिटने को कर निर्माण चली ?

वे गर्व और विश्वास के साथ कहती हैं कि उन्होंने सुख-दुख के आँसुओं को जान लिया है और दुख को सुख बना लिया है। मैंने काँटे में उस जीवन को जो उनके एकाकीपन का प्रतीक है, उसमें निहित मधुर भाव को ग्रहण किया है। इसीलिए मैंने जीवन को चिर-नवीन का वरदान भी दे दिया है। मेरे आँसुओं से भीगा यह छोटा सीमित जीवन स्वर्ग से भी अधिक गर्वीला है। स्वर्ग में दुख का अभाव है और जीवन में पूर्णता है। वस्तुतः वे सत्य में

प्रतिक्रिया नहीं। इस क्षणिक जीवन के दुखों का तो एक-न-एक दिन नाश हो ही जाता है। बुदबुदों की तरह असंख्य प्राणियों के विलीन हो जाने पर भी न जाने कौन किस अज्ञात कक्ष से द्रौपदी के दुकूल की तरह नव-नव जीवन का विस्तार करता रहता है? मानों, वह मानव को पुनः-पुनः कुछ समझने के लिए, कुछ गुनने-धुनने के लिए अवसर देता जा रहा है। एक-एक पार्थिव जीवन की इकाई से मनुष्य इस जीवन के आदि स्रोत उस अज्ञात के अभिप्राय को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा—जैसे सब-के-सब मरणशील प्राणी उस अमर तत्व को जानने के लिए एक दूसरे की समझ के पूरक बनते जा रहे हैं।

महादेवी का कवि अपने गीतों में सजल-कोमल होकर उस अनन्त चिर-सुन्दर के शाश्वत स्वरूप को उसी प्रकार प्रतिफलित करता है जिस प्रकार सिंधु आकाश को। इसी प्रेममयी कला को उपनिषद् में आत्मा की कला कहा गया है।

महादेवी का जीवन केवल दुख की बदली ही नहीं, सुख की सौदामिनी भी है। एक में करुणा है तो दूसरी में शक्ति।

मुस्करा दी दामिनी में
सावनी बरसात मेरी!
क्यों इसे अंबर न निज
सूने हृदय में आज भर ले?
क्यों न यह जड़ में पुलक का
प्राण का संचार कर ले?

इस प्रकार नारी हृदय की सार्वभौम करुणा और सर्वव्यापी शक्ति लेकर महादेवी ने भ्रम से भटकते विश्व के लिए चिर-मंगलमय की आराधना साधना की है। वर्तमान हिन्दी-कविता में रहस्यवाद की भावना को प्रशस्त करने की उनकी कलात्मक क्षमता अपने में अकेली है। वास्तव में उनकी काव्य-सृष्टि में मानवता की साधना, विकास की सीमा और आत्मा की पूर्णता का वही मूल प्राण पुलकित है जो आदिकाल से मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने का एकमात्र साधन रहा है, और है। महादेवी ने अपने जीवन के सम्पूर्ण साधना-सार को काव्य के रूप में संसार को भेंट किया है—ऐसा मेरा विश्वास है।

हिमालय पर लिखे गये गीत से महादेवी के काव्य तथा व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण सुलभ है—

जाता है। यही तो मार्मिक वेदना का वरदान है। विरहिणी पंकजकली का चित्र देखिए—

पंकज-कली।
क्या तिमिर कह जाता करुण ?
क्या मधुर दे जाती किरण ?
किस प्रेममय दुख से हृदय में
अश्रु में मिश्री घुली !
किस मलय-सुरभित अंक रह—
आया विदेशी गन्धवह ?
उन्मुक्त उर अस्तित्व खो
क्यों तू उसे भुज भर मिली ?
रवि से झुलसते मौन दृग
जल में सिहरते मृदुल पग
किस व्रतवती तू तापसी
जाती न सुख-दुख से छली ?
मधु से भरा विधुपात्र है,
मद से उनींदी रात है,
किस विरह में अवनतमुखी
लगती न उजियाली भली ?
यह देख ज्वाला में पुलक,
नभ के नयन उठते छलक,
तू अमर होने नभ-धरा के
वेदना-पय से पली।
पंकज-कली ! पंकज-कली !

पृथ्वी और आकाश के वेदना-रस में पगी, विरह के सुख से [illegible], विरह के दुःख में उन्मुख पंकज-कली के सजीव और मर्मस्पर्शी-चित्रण के द्वारा महादेवी ने अपने जिस कोमल-करुण व्यक्तित्व की व्यंजना की है, वह अपूर्व है।

'नीहार' से लेकर 'सांध्यगीत' तक, प्रकृति के आँगन में प्रभात से लेकर सायंकाल तक सजनी की तरह गीत गानेवाली महादेवी का [illegible] [illegible] विरह-वेदना में आकुल-व्याकुल है। यह वेदना [illegible] [illegible] [illegible] की

जान पड़ता है, महादेवी ने अपने भाव-सौंदर्य के ऐश्वर्य के बढ़ाने के ही लिए काव्य-कला की सृष्टि की है। उन्होंने प्रायः प्रत्येक गीत में अपने हृदय के भावविशेष को एक सजीव मूर्ति का रूप दिया है, जिसे देखकर मालूम होता है कि यह अन्य कोई प्राकृत मूर्ति न होकर साक्षात् प्रेम, करुणा या सौंदर्य की ही मूर्ति है। उनकी जैसी विशुद्ध कलाकृति हमारे साहित्य की ही नहीं, विश्व-साहित्य की निधि है।

हे चिर-महान !

वह स्वर्ण-रश्मि छू श्वेत भाल,
बरसा जाती रंगीन हास;
सेली बनता है इंद्रधनुष
परिमल मल-मल जाता बतास !
पर राग-हीन तू हिम-निधान !

नभ में गर्वित झुकता न शीश,
पर अंक लिए है दीन क्षार
मन गल जाता नत विश्व देख
तन सह लेता है कुलिश भार।
कितने मृदु, कितने कठिन प्राण !

टूटी है कब तेरी समाधि ?
झंझा लौटे शत हार-हार,
बह चला दृगों से किंतु नीर
सुनकर जलते कण की पुकार।
सुख से विरक्त, दुख में समान

मेरे जीवन का आज मूक
तेरी छाया से हो मिलाप,
तन तेरी साधकता छू ले
मन ले करुणा की थाह नाप।
उर में पावस, दृग में विहान।
हे चिर-महान !

रागहीन के द्वारा अनासक्ति की, समाधि की अटूटता कहकर अहंकार की, छाया कहकर प्रभाव की व्यंजना से अपने व्यक्तित्व की महिमा को महादेवी ने उस सत्ता की समरसता से अल्प शब्दों में ही रख दिया है। हे हिमालय, तेरा प्रसार [illegible] में झुककर रहा करे। मेरे शरीर में तुम्हारी-जैसी साधना-शक्ति और मन में तुम्हारी करुणा भर जाय। जिस प्रकार तुम्हारे उर में पावस (करुणा) और आँखों में प्रभात (प्रकाश) रहता है उसी प्रकार मेरे हृदय में करुणा और आँखों में प्रकाश का वास हो।

रहस्य की संज्ञा भी दी गयी है। 'आत्मवत् सर्वभूतेपुथः पश्यति स पश्यति' के समात्मभाव का उन्मेष ही दर्शन में 'समोऽहं सर्वभूतेपु' के सर्ववाद के सिद्धान्त में प्रतिष्ठित हुआ है। समात्मभाव की सार्थकता के लिए जिस व्यापक पारस्परिक स्नेह, सद्भाव, समानता और समानुभूति की आवश्यकता एवं अनिवार्यता होती है, वही संस्कृति का मूल प्रतिपाद्य और चरम मूल्य है। सांस्कृतिक मूल्यों में व्यक्ति के प्राकृतिक व्यक्तित्व की एकान्त पृथकता का कोई स्थान नहीं रहता, क्योंकि व्यक्ति सत्ता आत्मिक चेतना का रूप न होकर ऐन्द्रिक संवेदना का ही लक्षण है। संस्कृति का आत्मिक समभाव स्थूल प्रकृति और उससे प्रेरित संवेदना का अतिक्रमण करता हुआ प्रकृति, व्यक्ति और आत्मा तीनों का समाहार कर लेता है। अध्यात्म की यही प्रमुख विशेषता है।

मनुष्य जिस चेतना की अभिव्यक्ति के कारण अन्य प्राणियों के समान केवल प्राकृतिक जीवन से सन्तुष्ट नहीं हो पाता, वह प्राकृतिक नियमों का ज्ञाता होने के कारण उसका अतिक्रमण कर अपने आन्तरिक प्रकाश और मौलिक भाव-विस्तार तथा प्रज्ञात्मक चिन्तन के माध्यम से संस्कृति की सर्जनात्मक सीढ़ियों पर आरोहण करती हुई सर्वात्मचेतन और सर्वात्मभाव से समन्वित अध्यात्म में ही अपनी पूर्णता प्राप्त करती है। वस्तुत. संवेदना, चेतना की आरम्भिक, विचार दर्शन माध्यमिक एवं अध्यात्म उसकी स्थितियाँ परिणति हैं। प्रकृति से संस्कृति की ओर का यह गुणात्मक विकास ही मनुष्य को पशु-प्राणी से एक भिन्न स्थिति देकर उसे जीवन-सार्थकता की अनन्त सम्भावनाओं और क्षमताओं के प्रति उन्मुख करते हुए स्थूल प्रयोजनातीत स्वलक्ष्य मूल्यों के आकलन और अनुभव का उत्साह और आकर्षण देता रहता है। मनुष्य का यह सांस्कृतिक अभियान उसकी चेतना की उर्ध्वगामी वृत्ति का प्रमाण होने के साथ-साथ विभिन्न चेतनाओं के परस्पर साम्य का आधार आत्मतत्व को जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने में भी सफल होता है।

मूल्य सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं—एक निमित्त मूल्य और दूसरा स्वलक्ष्य मूल्य। निमित्त मूल्य वह वस्तु होती है जो किसी अन्य उद्देश्य का साधन होती है। निमित्त मूल्य सापेक्ष मूल्य होता है। स्वलक्ष्य मूल्य वह मूल्य जो किसी अन्य उद्देश्य का साधन न होकर स्वयं आत्माश्रय होता है—उसका मूल्य वह स्वयं ही होता है। संस्कृति स्वलक्ष्य मूल्य है। इस मूल्य की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह सभी विचारशील प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा समान रूप से वांछनीय माना जाता है।

२२

सांस्कृतिक मूल्य और महादेवी

यह आश्चर्य के साथ अत्यन्त क्षोभ का विषय है कि हमारे देश में अभी तक काव्य का विश्लेषण-विवेचन संस्कृति की भूमिका पर अत्यन्त विरल है। वास्तव में सांस्कृतिक मूल्यों के प्रकाश के बिना सम्यक काव्यालोचन सम्भव नहीं है। साहित्य, विशेषतः काव्य मनुष्य की इन्द्रिय सुख साधक स्थूल प्रयोजनवती प्राकृतिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति-मात्र न होकर उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का प्रमुख उपादान है।

संस्कृति अपने स्वरूप और स्वभाव से ही सर्जनात्मक है। रूप और भाव, पदार्थ और भावार्थ, सत्य और सौन्दर्य, शिव और शक्ति तथा आत्मा और परमात्मा का साम्य ही भारतीय संस्कृति का मूल रहस्यमय सूत्र है। भावात्मक, सृजनात्मक, एवं चिन्तनात्मक साम्य, सन्तुलन से समन्वित समृद्ध संस्कृति मानव जीवन के विकास का अनिवार्य अंग और महत्त्वपूर्ण मूल्य है।

सांस्कृतिक अनुभवों, क्रियाओं और मूल्यों की व्याख्या और जीवन के परम मूल्य का अन्वेषण करने वाले दर्शन और उसके भावात्मक दृष्टिकोण से प्रतिफलित करने वाले काव्य में हमारे यहाँ कभी कोई विरोध नहीं रहा। भारत में काव्य और दर्शन, दोनों को [illegible] [illegible] परिगणित किया गया है। वस्तुतः दोनों की प्रकृति और व्यवहार में ही अन्तर है, निष्कर्ष और उपलब्धि में नहीं, क्योंकि दोनों का [illegible] एक ही है। दोनों ही आत्मसाक्षात्कार [illegible] [illegible] है। इसी कारण दोनों में अनुभूति का समान स्वीकार किया गया है। [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] हो, पर [illegible] [illegible] का दोनों ही में [illegible] है। [illegible]

संस्कृति का आयोजन प्राकृतिक परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही आरम्भ होता है। स्वभावतः बाह्य प्रकृति और मानव-अर्जित संस्कृति में सामञ्जस्य की स्थिति अनिवार्य रहती है। प्रकृति के प्रति मानव की संस्कारगत अबाध आत्मीयता संस्कृति में संयमित मूल्यगत परिष्कार प्रियता बन जाती है। हमारा देश प्राकृतिक परिवेश की विविधता की दृष्टि से एक विशेष महत्व रखता है। इसी कारण इसकी संस्कृति भी अपनी अलग विशेषता रखती है। प्रकृति के समस्त बाह्य विभेदों के रहते हुए भी सम्पूर्ण देश एक गहरी एकता के सूत्र में बँधा हुआ है। इसका प्रधान कारण यहाँ के निवासियों की जीवन प्रकृति के विविध रूपों में व्याप्त आन्तरिक एकता की अनुभूति ही कही जायेगी। वस्तुतः प्रकृति और जीवन की बाह्य विविधता और भिन्नता में अन्तर्हित आन्तरिक एकता का बोध और अनुभव भारतीय संस्कृति की अध्यात्मिकता का मूल उत्स है।

महादेवी जी ने लिखा है—संस्कृति मनुष्य के बुद्धि और हृदय के जिस परिष्कार और जीवन में उसके व्यक्तीकरण का पर्याय है, उसका दाय विभिन्न भू खण्डों में बसे मानव-मात्र को प्राप्त है, परन्तु संस्कृति की साहित्य में प्राचीनतम् अभिव्यक्ति वेद-साहित्य के अतिरिक्त नहीं है। वेदकाल का मानव भौतिक जीवन का भावुक कलाकार ही नहीं, आत्मा का अथक शिल्पी भी है। जिस तूलिका से वह अपने पार्थिव परिवेश को उज्ज्वल रेखाओं और इन्द्र धनुषी रंगों में चित्रमयता देता है, उसी से अपने अन्तर्गत् में मंगल संकल्पों को अजरमूर्ति सत्ता प्रदान करता है। अपने आपको 'पृथ्वी पुत्र' की संज्ञा देकर वह धरती के वरदानों को जैसा आदर देता है, 'आत्मा का विनाश नहीं होता' स्वीकार कर वह अखण्ड चेतना के प्रति भी वैसा ही विश्वास प्रकट करता है। मनुष्य की प्रज्ञा की जैसी विविधता और उसके हृदय जैसी रागात्मक समृद्धि वेद-साहित्य में प्राप्त है, वह मनुष्य को, न एकांगी दृष्टि दे सकती है, न अन्ध-विश्वास। आकाश के अखण्ड विस्तार में केन्द्रित दृष्टि के लिए घट की सीमा में प्रतिबिम्ब आकाश ही अन्तिम सत्य कैसे हो सकता है? वैदिक चिन्तक की तत्व-स्पर्शी दृष्टि सृष्टि की असीम विविधता को पार कर एक तत्वगत सूत्र खोज लेती है।

इसी तत्वगत एकता के भावोदय के फलस्वरूप वैदिक ऋषियों-कवियों ने घोषणा की—'एक सद्विप्रा बहुधा वन्दति' अथवा 'कवयोवचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'। ऋगवेद की इन ऋचाओं से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति की अध्यात्मिक परम्परा का वैदिककाल में ही पर्याप्त प्रौढ़ विकास हो चुका था।

भारतीय मनीषा ने मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा का प्रतिष्ठान माना है और उसके अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष नामक चार मूल्यों को स्वीकार किया है, जो उसके व्यक्तित्व के विकास के भौतिक और आध्यात्मिक उपादान हैं। अर्थ, काम तथा धर्म निमित्त मूल्य हैं और इनका सम्बन्ध सामाजिक जीवन की प्रगति से है, किन्तु मोक्ष जीवन का स्वलक्ष्य चरम मूल्य है। मोक्षमूल्य न तो लौकिक ही है और न पारलौकिक, वरन् पारमार्थिक है। परमार्थ वह प्रवृत्ति जो मनुष्य को स्वार्थ से ऊपर उठाकर निःस्वार्थ बनाती है और आत्म विकास के साथ उसे अन्य प्राणियों की सेवा और कल्याण करने की प्रेरणा देती है। निष्काम कर्म इसी का दूसरा नाम है। मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा से है और उसका उद्देश्य सबके साथ समभाव रखते हुए प्राकृतिक क्षणिक सुख-दुःखों से मुक्त होकर आत्म साक्षात करना है, जो इसी जीवन और जगत में सम्भव है।

इस अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव जीवन्मुक्ति की स्थिति में चरितार्थ होता है। यह स्थिति कोरी सैद्धान्तिक धारणा या कोई अमूर्त आदर्श मात्र नहीं है, अपितु एक ज्वलन्त तथा वास्तविक अनुभवात्मक अवस्था है। जीवन्मुक्त व्यक्ति वह है, जो अपने अध्यात्मिक संयम तथा नैतिक आचरण से नश्वर सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, स्व पर के सभी प्रतीयमान द्वन्द्वों और सापेक्षताओं का अतिक्रमण करके सभी स्थितियों में समान रहता है। वह संसार में रहते हुए जीवन और जगत का अनुभव करते हुए भी उसमें आसक्त और लिप्त नहीं होता। वह निरन्तर आत्मोत्थान और लोक मंगल की साधना में लगा रहता है। सर्व-भूत-हित-रत उसका स्वभाव बन जाता है। उसका जीवन स्वयं आनन्दमय होता है और वह सभी को आनन्द-मार्ग में लाने का प्रयत्न करता रहता है।

जीवन्मुक्ति की स्थिति प्राप्त करने का उद्देश्य सामाजिक जीवन या लोक मंगल के मूल्यों की अवहेलना कदापि नहीं है, वरन् उन मूल्यों को उदात्त, व्यापक तथा पूर्ण रूप देना है। जीवन के सभी मूल्यों का यथास्थान अपना-अपना महत्व है, किन्तु इस महत्व का बोध हमें तभी हो सकता है, जब हम किसी ऐसे परम मूल्य का ज्ञान रखते हों जो सभी मूल्यों के परस्पर संघर्षों और विरोधों का समन्वय तथा सामञ्जस्य कर सके और स्वयं उन सबसे पृथक् होकर भी उनका विरोध न करे। मोक्ष या जीवन्मुक्ति की स्थिति एक ऐसा ही सर्वव्यापक आध्यात्मिक मूल्य है। भारतीय संस्कृति अपने आचारात्मक तथा विचारात्मक उत्कर्ष, धर्म और दर्शन दोनों में ही आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोपरि आदर और मान्यता देती है।

भाव अपने में स्वतः पूर्ण और उच्चतम आध्यात्मिक मूल्य होता है। सबके साथ प्रेम द्वारा परस्पर संपृक्त होकर ही निःसीम आनन्दमय जीवन का अनुभव प्राप्त किया जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं। जिस प्रकार कमल के खिलने के लिए रस (जल) और प्रकाश अनिवार्य हैं, उसी प्रकार हमारे चैतन्य-कमल के उत्फुल्ल होने के लिए रस (भाव) और प्रकाश (ज्ञान) दोनों आवश्यक हैं। इस समष्टि प्रेम की काव्यात्मक अभिव्यक्ति को अध्यात्म काव्य अथवा आधुनिक शब्दावली में रहस्यकाव्य का रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है।

आत्मा की मौलिक एकता आधार ग्रहण करने के कारण अध्यात्म में अखिल अस्तित्वों के आन्तरिक साम्य का भाव—समात्मभाव को ही महत्व दिया जाता है और अध्यात्म की उच्चतम स्थिति का प्रतीक बन इसी भाव की सक्रियता पर निर्भर करता है।

चेतना की अध्यात्मिक शक्ति से अनुप्राणित होने के कारण मनुष्य का जीवन असीम परिधि की ओर विस्तृत होता रहता है और वह अपने सर्जनात्मक क्षेत्र में आत्मवाद,सर्वात्मभाव तथा समात्मभाव के आरोहण क्रम में परमात्मभाव तक की ओर चिन्तन के क्षणों में स्वात्म चेतन, सर्वात्मचेतन और परमात्म चेतन तक की यात्रा करता रहता है। वस्तुतः प्रकृति सत्ता, प्राणी और मानवीय जीवन एवं परम चेतन में चेतना की स्थितियों के विकास की भिन्नता को छोड़कर तत्वतः कोई भेद नहीं, क्योंकि एक ही चेतन इन सबमें परिव्याप्त और अन्तर्हित है।

आत्मा या ब्रह्म कोई व्यक्ति नहीं, विश्व रूप है। उसके प्रति प्रेम-भावना समष्टि का प्रतीक है। सर्गारम्भ में प्रेम की आनन्दमय सृजनेच्छा से ही उसने अपने को द्विधा विभक्त कर लिया था। अपनी परा प्रकृति में परात्पर रहते हुए भी वह जीव रूप से अपरा प्रकृति में व्याप्त हो गया। जीवात्मा विश्व-प्रेम के माध्यम से पुनः उसी के साथ प्रथम स्थिति की अद्वैतता में प्रतिष्ठित होना चाहती है। सबके साथ प्रेम की अद्वैत भावना उसी अनुभूति का एक रूप है।

हमारा भौतिक जीवन सापेक्ष और अपूर्ण है। अध्यात्म बोध का रहस्य ही यह है कि वह सापेक्ष से निरपेक्ष की ओर तथा अपूर्ण से पूर्ण की ओर जाने का प्रयत्न करता है। यह पूर्णता धारणा मात्र नहीं, वास्तविक आत्मानुभूति है। संसार में ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने आध्यात्मिक मार्ग पर चलकर [illegible] निरपेक्षता का पूर्ण अनुभव किया है और ऐसे परम शुभ और [illegible] की प्राप्ति की है, जिनकी अपेक्षा में जीवन के अन्य मूल्य अ[illegible]

एक प्राणता का आभास देती है, इस प्रकार मेरे सम्पूर्ण जीवन का ऐसा सक्रिय पूरक है, जो जीवन के सब रूपों के प्रति मेरी ममता समान रूप से जगा सकता है।

सब रूपों के प्रति समान रूप से ममता जगाने वाले भाव को ही समात्म भाव कहा गया है। इसी की संज्ञा महाभाव भी है। महादेवीजी इसी महत् भावोन्मेष की सांस्कृतिक-अध्यात्मिक कवियत्री हैं—

सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला।

... ...

मधुर मुस्को हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले।

महादेवीजी का जन्म सम्वत् १९६४ में होली के दिन फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश में हुआ। जन्मदिन की यह रंग मयता और सार्व जनीनता उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में सन्निहित है। होली धरती का निजी उत्सव है, क्योंकि धरती के रूप, रंग, रस तथा गंध होली में सजीव हो उठते हैं। अन्नमयी नवीन फसल आत्म-त्याग द्वारा मानवीय जीवन-साधना का उपहार लेकर उपस्थित होती है और चारों ओर राग-रंग की पिचकारियां छूटने लगती हैं। सभी लोग पिछला वैर-भाव भूलकर परस्पर गले मिलते हैं। नये वर्ष का आरम्भ होता है। प्रह्लाद (प्रकृष्ट आह्लाद) की रक्षा और पूतना (जो पवित्र नहीं है) का अन्त होता है। जन्म दिन की सारी विशेषतायें महादेवीजी के साहित्य में चरितार्थ हैं।

जीवन और साहित्य के पट में इतने विभिन्न रंगी सूत्रों का सम्मिलन बहुत ही विरल होता है। रहस्य कवि, यथार्थवादी गद्यकार, समन्वयवादी समालोचक होने के साथ ही वे अद्वितीय रेखाचित्रकार संस्मरण लेखिका, सामाजिक एवं ललित निबंधकार, उच्चकोटि की चित्र कर्त्री और प्रबुद्ध समाज सेविका तथा राष्ट्रीय संस्कृति की संरक्षिका हैं। इनके रचनात्मक कार्यों के प्रतीक प्रयाग महिला विद्यापीठ और साहित्यकार संसद के अतिरिक्त अन्य अनेक संस्थायें और पाठशालाएँ हैं। विशेषता यह है कि इन सभी क्षेत्रों में इनके व्यक्तित्व की अखण्डता सर्वथा अक्षुण्ण है।

धरती के ऊपर तना नील वितान-आकाश सभी प्रकार के आलोकों और रंगों का आधार है। यदि आपने कभी संध्या का आकाश देखा है तो महादेवी जी की इन पंक्तियों का रंग परखिये—

प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन।
यह क्षितिज बना धुँधला विराग

पड़ते हैं। इसीलिए जिस प्रकार वैयक्तिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों के आधीन करना उचित है उसी प्रकार सामाजिक मूल्यों के अध्यात्मिक मूल्यों के अधीन करना संगत और अनिवार्य है। हमारी संस्कृति के अनुसार जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों का स्थान उच्चतम् है, अन्य सभी मूल्य इसकी अपेक्षा गौण हैं।

इसी दृष्टिकोण के कारण भारतवासी केवल तथ्यपरक वैज्ञानिक जिज्ञासा की शान्ति अथवा केवल पार्थिव प्रयोजन की सिद्धि के लिए कभी किसी वस्तु की ओर आकर्षित नहीं हुए, क्योंकि उनके जीवन का उद्देश्य अस्तित्व केन्द्रित न होकर मूल्य-केन्द्रित था। उनका मनोरथ विश्व की विराट आत्मा के साथ आत्म मिलन की अक्षय शान्ति अथवा केवल पार्थिव प्रयोजन की सिद्धि के लिए कभी किसी वस्तु की ओर आकर्षित नहीं हुए, क्योंकि उनके जीवन का उद्देश्य अस्तित्व-केन्द्रित न होकर मूल्य-केन्द्रित था। उनका मनोरथ विश्व की विराट आत्मा के साथ आत्म-मिलन की अक्षय शान्ति और आनन्द का अनुभव करना था न कि नश्वर अस्तित्व की रक्षा का आकुल व्याकुल-आयोजना। वे जानते थे कि विश्व की प्रत्येक सत्ता से उनका आत्मिक साहचर्य और समवाय है, क्योंकि निखिल विश्व की सभी विभिन्न विभूतियाँ एक ही सूत्र में ग्रंथित और सम्बन्धित हैं। एकत्व, ममत्व और समत्व की भावानुभूति के कारण उन्हें सम्पूर्ण विश्व में एक ही अध्यात्मिक स्पंदन का अनुभव होता था और वे, पृथकता और परिच्छिन्नता की बात ही नहीं सोच पाते थे। उनके इस विश्वास को मृत्यु भी नहीं भंग कर सकती थी—यस्यच्छाया अमृतं यस्य मृत्युः—उसकी छाया में ही अमृत है और उसी में मृत्यु भी है।

पूर्वजों की इस महान उपलब्धि को जीवन्त और क्रियाशील रखना हमारी सांस्कृतिक मनोरथ है। जिस प्रकार आंगिक विविधता के साथ सबमें सामञ्जस्य-जनित प्रक्रिया के कारण हम अपने शरीर को एक मानकर अपनाते रहते हैं, उसी प्रकार इस विश्व के गठन में निहित सामंजस्य को देख समझकर इसे भी सम्पूर्ण एक मानने में मुझे कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती। [illegible], [illegible], भिन्नता मूलतः विश्वात्मा के साथ हमारे समभाव की कमी का ही द्योतक है।

आधुनिक युग में महादेवीजी हमारे इस सांस्कृतिक-[illegible] विचार का पूर्ण निर्वाह करने में सफल संपन्न हैं। [illegible] और [illegible] प्रमाण है। उन्होंने कहा भी है—"[illegible] के युग में [illegible] की आवश्यकता है, [illegible] न होकर [illegible] की परिभाषा है [illegible]

कहने के लिए किस तरह बाध्य कर देती थीं, इसकी भी एक रोचक कहानी है। वय की गति के साथ जीवन-विस्तार की छाया में यह घर की शिशु कुशलता बगीचे के फूलों और पड़ोसियों के घर तक पहुँचने लगी। रसाल और फूलों का यह आकर्षण रसात्मक, कलात्मक संसार का प्रतीक माना जाये तो 'राज भइया' कहलाने का हठ पुरुष के साथ समानाधिकार के आग्रह का बीजारोपण जान पड़ता है।

माँ ने चाहा कि बेटी को कुछ समय खिलौनों-गुड़ियों में उलझाये रखें और कुछ समय गृह-कार्य की शिक्षा दें, यदि यह न हो सके तो पाटी पकड़ाकर स्कूल ही भेज दें। महादेवीजी इन सब चक्करों में नहीं पड़ना चाहती थीं। फूल, तितली, हरी दूब और फर्श पर या दीवार पर कुछ उरेहने के लिए कोयल और सिन्दूर के अतिरिक्त उन्हें और कुछ भी न चाहिए था। परेशान होकर छोटे भाई और बहन की ओर संकेत करते हुए माँ ने कहा—खेलना छोटों का काम है बड़ों का पढ़ना या काम करना। इन्होंने पढ़ना पसन्द किया। आर्य समाजी संस्कारों के साथ इन्हें मिशन स्कूल भेज दिया गया। घर में हिन्दी, ऊर्दू, संगीत और चित्रकला के अध्ययन का प्रबंध कर दिया गया।

अध्ययनारम्भ के दिन ही आप थोड़ी देर तक अध्यापक के पास बैठी रहीं और फिर छुट्टी की माँग पेश की। आवश्यकता पूँछे जाने पर तपाक से उत्तर दिया—'फूल तोड़ लाऊँ, नहीं तो माली तोड़कर बाबू (पिता जी) के फूल दान में लगा देगा, जहाँ वे सूख जाते हैं।' 'तो क्या तुम्हारे तोड़ने से नहीं सूखते ?' 'सूखते तो हैं, पर भगवानजी पर चढ़ने के बाद फिर जिज्जी (माँ) उन्हें नदी भेजवा देती हैं। माली कूड़े में फेंक देता है और बाबू उन्हें उठाने भी नहीं देते।' पंडित जी इस उत्तर से इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें तुरन्त छुट्टी दे दी। धीरे-धीरे पंडित जी को ज्ञात हुआ कि बालिका केवल बातचीत में ही नहीं, पढ़ने-लिखने में भी पर्याप्त प्रवीन है। लड़कियाँ और हो ही क्या सकती हैं, पढ़ाकू या लड़ाकू। महादेवी जी ने दोनों रूपों में दक्षता प्राप्त की है। लड़ाकू रूप में उनके सामाजिक विद्रोह और नारी विषयक निबन्धों में शतशः मुखरित हैं और उनका पढ़ाकू रूप तो जग-जाहिर है।

'रामा' नामक संस्मरण-रेखाचित्र में इन्होंने अपने बचपन की अनेक मनोरंजक घटनाओं का उल्लेख किया है जिनसे इनके स्वभाव और प्रबुद्धता का पता चलता है। दशहरे के मेले में जाने के लिए रामा ने एक को कंधे पर बैठाया दूसरे को गोद में ले लिया। इन्हें उँगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा—

नव अरुण अरुण मेरा सुहाग
छाया सी काया वीत राग;
सुधि भी ने स्वप्न रँगीले घन
प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन !

महादेवीजी माँ-बाप की पहली संतान हैं। रूढ़ि-ग्रस्त भारतीय समाज में आज भी, फिर आज के प्रायः साठ वर्ष पहिले तो निश्चित रूप से प्रथम कन्या लाभ शुभ या सुखद नहीं माना जाता था। सौभाग्य से इनका जन्म बड़ी प्रतीक्षा और मनौती के बाद हुआ था। बाबा ने इसे कुल देवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह माना और आदर प्रदर्शित करने के लिए नाम रखा—महादेवी। उन्होंने अपने नाम को अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से सफल सार्थक बना दिया। [illegible] की यह युक्ति—"सौ-सौ पुत्रों से भी अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला"

वास्तव में राजा जनक की बेटियों के लिए जितनी उपयुक्त है उतनी ही श्री गोविन्द प्रसाद की पुत्री महादेवी के लिए भी। तभी तो साकेत के महाकवि गुप्तजी ने महादेवीजी के लिए लिखा है—

सहज भिन्न दो महादेवियाँ एक रूप में मिलीं मुझे,
बता बहन साहित्य शारदा या काव्यश्री कहूँ तुझे !

महादेवीजी का काव्य करुणा-कलित-अश्रुसिक्त है। पैदा होते ही रोते तो प्रायः सभी बच्चे हैं, पर इनको रोने की अद्भुत आदत। माँ हेमरानी देवी आस्तिक स्वभाव की भारतीय महिला होने के कारण पति को खिलाने-पिलाने का कार्य नौकरों पर न छोड़कर स्वयं करना चाहती थीं; किन्तु महादेवीजी इस बीच रो-रोकर कोलाहल मचा देती थीं। माँ ने विवशता में [illegible] अफीम का सम्बल ग्रहण किया। अफीम खिलाई और पलंग पर डाल दिया। वे अपनी दैनिकी में व्यस्त हो गईं और बालिका ने [illegible] की ओर की। अफीम सेवन से हानि भी भी हुई हो, पर अवश्य [illegible] यह हुआ कि अन्य शिशुओं की अपेक्षा इनका विकास शीघ्र हुआ। तीन वर्ष की अवस्था में ही [illegible] की माला में से [illegible] चुनकर और [illegible] लेने में आप निपुण हो गईं। [illegible] वर्णमाला के साथ [illegible] ही [illegible] भाई को सिखाने लगीं।

तीन वर्ष की [illegible] आपको [illegible]। [illegible] की माता [illegible] जहाँ "अतीत के चल चित्र" का 'रामा' इन्हें मिला। [illegible] भाई [illegible] रामा को [illegible] [illegible] के [illegible] लिए ही '[illegible]'

कहने के लिए किस तरह बाध्य कर देती थीं, इसकी भी एक रोचक कहानी है। वय की गति के साथ जीवन-विस्तार की छाया में यह घर की शिशु कुशलता बगीचे के फूलों और पड़ोसियों के घर तक पहुँचने लगी। रसाल और फूलों का यह आकर्षण रसात्मक, कलात्मक संसार का प्रतीक माना जाये तो 'राज भइया' कहलाने का हठ पुरुष के साथ समानाधिकार के आग्रह का बीजारोपण जान पड़ता है।

माँ ने चाहा कि बेटी को कुछ समय खिलौनों-गुड़ियों में उलझाये रखें और कुछ समय गृह-कार्य की शिक्षा दें, यदि यह न हो सके तो पाटी पकड़ाकर स्कूल ही भेज दें। महादेवीजी इन सब चक्करों में नहीं पड़ना चाहती थीं। फूल, तितली, हरी दूब और फर्स पर या दीवार पर कुछ उरेहने के लिए कोयला और सिन्दूर के अतिरिक्त उन्हें और कुछ भी न चाहिए था। परेशान होकर छोटे भाई और बहन की ओर संकेत करते हुए माँ ने कहा—खेलना छोटों का काम है बड़ों का पढ़ना या काम करना। इन्होंने पढ़ना पसन्द किया। आर्य समाजी संस्कारों के साथ इन्हें मिशन स्कूल भेज दिया गया। घर में हिन्दी, ऊर्दू, संगीत और चित्रकला के अध्ययन का प्रबंध कर दिया गया।

अध्ययनारम्भ के दिन ही आप थोड़ी देर तक अध्यापक के पास बैठी रहीं और फिर छुट्टी की माँग पेश की। आवश्यकता पूँछे जाने पर तपाक से उत्तर दिया—'फूल तोड़ लाऊँ, नहीं तो माली तोड़कर बाबू (पिता जी) के फूल दान में लगा देगा, जहाँ वे सूख जाते हैं।' 'तो क्या तुम्हारे तोड़ने से नहीं सूखते ?' 'सूखते तो हैं, पर भगवानजी पर चढ़ने के बाद फिर जिज्जी (माँ) उन्हें नदी भेजवा देती हैं। माली कूड़े में फेंक देता है और बाबू उन्हें उठाने भी नहीं देते।' पंडित जी इस उत्तर से इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें तुरन्त छुट्टी दे दी। धीरे-धीरे पंडित जी को ज्ञात हुआ कि बालिका केवल बातचीत में ही नहीं, पढ़ने-लिखने में भी पर्याप्त प्रवीन है। लड़कियाँ और हो ही क्या सकती हैं, पढ़ाकू या लड़ाकू। महादेवी जी ने दोनों रूपों में दक्षता प्राप्त की है। लड़ाकू रूप में उनके सामाजिक विद्रोह और नारी विषयक निबन्धों में शतशः मुखरित हैं और उनका पढ़ाकू रूप तो जग-जाहिर है।

'रामा' नामक संस्मरण-रेखाचित्र में इन्होंने अपने बचपन की अनेक मनोरंजक घटनाओं का उल्लेख किया है जिनसे इनके स्वभाव और प्रबुद्धता का पता चलता है। दशहरे के मेले में जाने के लिए रामा ने एक को कंधे पर बैठाया दूसरे को गोद में ले लिया। इन्हें उँगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा—

नव अरुण अरुण मेरा सुहाग
छाया सी काया वीत राग;
सुधि भीने स्वप्न रँगीले घन
प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन !

महादेवीजी माँ-बाप की पहली संतान है। रूढ़ि-ग्रस्त भारतीय समाज में आज भी, फिर आज के प्रायः साठ वर्ष पहिले तो निश्चित रूप से प्रथम कन्या लाभ शुभ या सुखद नहीं माना जाता था। सौभाग्य से इनका जन्म बड़ी प्रतीक्षा और मनौती के बाद हुआ था। बाबा ने इन्हें कुल देवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह माना और आदर प्रदर्शित करने के लिए नाम रखा—महादेवी। उन्होंने अपने नाम को अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से सफल सार्थक बना दिया। [illegible] की यह सुक्ति—"सौ-सौ पुत्रों से भी अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला"

वास्तव में राजा जनक की बेटियों के लिए जितनी उपयुक्त है उतनी ही श्री गोविन्द प्रसाद की पुत्री महादेवी के लिए भी। तभी तो साकेत के महाकवि गुप्तजी ने महादेवीजी के लिए लिखा है—

सहज भिन्न दो महादेवियाँ एक रूप में मिलीं मुझे,
बता बहन साहित्य शारदा या काव्यश्री कहूँ तुझे !

महादेवीजी का काव्य करुणा-कलित-अश्रुसिक्त है। [illegible] प्रायः सभी बच्चे है, पर इनकी रोने की अद्भुत आदत। माँ हेमरानी देवी आस्तिक स्वभाव की भारतीय महिला होने के कारण पति को खिलाने-पिलाने का कार्य नौकरों पर न छोड़कर स्वयं करना चाहती थी; किन्तु महादेवीजी इस बीच रो-रोकर कोलाहल मचा देती थी। माँ ने विवशता में [illegible] अफीम का नुस्खा ग्रहण किया। अफीम खिलाई और पलंग पर [illegible]। वे अपनी दैनिकी में व्यस्त हो गई और बालिका ने [illegible]। अफीम सेवन से हानि जो भी हुई हो, पर प्रत्यक्ष लाभ [illegible] शिशुओं की अपेक्षा उनका विकास शीघ्र हुआ। तीन वर्ष की अवस्था में ही [illegible] की पाल से गीत सुनकर और पुत्र [illegible] निपुण हो गई। [illegible] वर्णमाला में [illegible] भी [illegible] लगीं।

[illegible]

केवल सात वर्ष की अवस्था में ही पूजा-आरती के समय माँ से सुने हुए मीरा, तुलसी आदि के तथा उनके स्वरचित पदों के संगीत से मुग्ध होकर इन्होंने पद रचना प्रारम्भ की थी। काव्य की प्रथम रचना का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ—'आओ प्यारे तारे आओ, मेरे आँगन में बिछ जाओ।' परन्तु इसके बाद की लिखी पूर्ण रचना ब्रजभाषा में समस्यापूर्ति है।

प्रथम पढ़ने आने से पहिले ही आप 'सरस्वती' पत्रिका से परिचित हो चुकी थीं। महाकवि गुप्तजी की रचनायें भी देख चुकी थीं। बोलने की भाषा में कविता लिखने की सुविधा इन्हें आकर्षित करने लगी थी। वस्तुतः इन्होंने 'मेघ बिना जलवृष्टि भई है' को खड़ी बोली में इस प्रकार रूपान्तरित किया—

हाथी न अपनी सूँड में यदि नीर भर लाता अहो,
तो किस तरह बादल बिना जलवृष्टि हो सकती कहो ?

'अहो', 'कहो' देखकर इनके वृजभाषा प्रेमी पंडितजी ने कहा—'अरे ये यहाँ भी पहुँच गये !' उनका आशय गुप्तजी से था। परन्तु इन्होंने उसे अनसुना कर दिया और वृजभाषा छोड़कर खड़ी बोली को अपना लिया। खड़ी बोली की पूर्ण रचना आपने आठ वर्ष की अवस्था में लिखी थी, जो 'दीपक' पर है।

इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिसने महादेवीजी को इतना प्रभावित किया कि वे उस वेदना से कभी मुक्त नहीं हो सकीं। नौकर ने पत्नी को इतना पीटा कि वह लुहू-लुहान होकर रोती-चिल्लाती जिज्जी के पास दौड़ आई अन्यथा वह उसे मार ही डालता। गर्भिणी स्त्री से लिये कान-कान का भारी बोझ ऊपर से ऐसी मार ! जिज्जी ने सहानुभूति के साथ उसकी गाथा सुनी और नौकर को बहुत डाँटा-फटकारा। सब शान्त हो जाने पर महादेवीजी ने कहा—'हाय कितना पीटा है ! यह भी क्यों नहीं पीटती ?' जिज्जी ने सहज ही कह दिया 'आदमी मारे तो भी औरत कैसे हाथ उठा सकती है ?' 'और अगर तुमको बाबू इसी तरह मारे तो ?' 'ना, ना, बाबू ऐसा नहीं कर सकते। आर्य समाजी होकर भी मेरे साथ सत्यनारायण की कथा सुनते हैं, बड़े अच्छे आदमी हैं। कोई-कोई आदमी दुष्ट होते हैं।' 'तो फिर इसने दुष्ट के साथ शादी क्यों की ?' 'पगली, शादी तो घर के बड़े-बूढ़े करते हैं, यह बेचारी क्या करे ? अब कोई उपाय नहीं।' इसके बाद थोड़ी देर तक एक दूसरे को देखती रहीं फिर जिज्जी ने जाने क्यों दीर्घ साँस ली और महादेवीजी जैसे अपने भीतर डूब गईं।

वय के सामर्थ्य से कहीं अधिक आपने सातवें वर्ष से लेकर नवें वर्ष तक के

"ढँगरिया जिन छोड़ियो राजा भइया"। सिर हिलाकर स्वीकृति देते हुए भी इन्होंने उँगली छोड़कर मेला देखने का निश्चय कर लिया। भटकते-भूलते दबने से बचते-बचते जब इन्हें भूख लगी तब रामा का स्मरण अनिवार्य हो उठा। एक मिठाई की दूकान पर खड़े होकर अपनी सारी उद्विग्नता छिपाते हुए इन्होंने सहज भाव से प्रश्न किया—'क्या तुमने रामा को देखा है? वह खो गया है।' बूढ़े हलवाई ने वात्सल्य मुग्ध होकर पूछा—"कैसा है तुम्हारा रामा?" इन्होंने ओंठ दबाकर धीरज से कहा 'बहुत अच्छा है।' हलवाई इस उत्तर से क्या समझता? अन्ततः उसने आग्रह के साथ विश्राम करने के लिए वहीं बैठा लिया। महादेवीजी ने लिखा है—"मैं हार तो मानना नहीं चाहती थी परन्तु पाँव थक चुके थे और मिठाइयों से सजे थालों में कुछ कम निमंत्रण नहीं था। इसी से दूकान में बिछे टाट पर सम्मान्य अतिथि की मुद्रा में बैठ कर मैं बूढ़े से मिठाई रूपी अर्घ्य को स्वीकार करते हुए उसे अपनी महान यात्रा की कथा सुनाने लगी। संध्या समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दूकान के सामने पहुँचा, तब इन्होंने विजय गर्व से फूल कर कहा—'तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो रामा।'

एक बार पड़ोस में किसी कुत्ती ने बच्चे दिये। जाड़े की रात का सन्नाटा और ठन्डी हवा के झोंकों के साथ पिल्लों के कूं-कूं की ध्वनि करुणा का ऐसा संचार करने लगी जो इनके कोमल हृदय के लिए असह्य हो उठी। पिल्लों को घर उठा लाने के लिए ये इतने जोर-शोर से रोने लगीं कि सारा घर जग गया। अन्त में पिल्ले घर लाये गये तभी ये शान्त हुईं। इनके इस स्वभाव में आज भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसे असहाय [illegible] पशु-पक्षि और [illegible] से इनका घर भी पर प्रायः भरा रहता है।

इस करुणा-कोमल स्वभाव के कारण जीवन और जगत की [illegible] स्थिति में इनके हृदय का स्पंदन [illegible] सामने आई हुई [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—

[illegible] में [illegible] [illegible]
[illegible] में [illegible] [illegible]'

अभी तक आप छोटे खिलौने-विशेष के लिए बच्चों के साथ कलह-कोलाहल तक भी उतर आती हैं। चुन्नी का हाथी छीन लेना चाहती हैं, मुन्नी की गुड़िया छिपा लेने की ताक में रहती हैं। संपर्कित परिवार के बच्चे खिलौनों के विषय में इनसे सदा सतर्क रहते हैं। महादेवीजी को बच्चों से बहुत प्यार है। उनका कहना है कि बच्चों के प्रसन्न होने, रूठने और हँसने-रोने के कारण इतने सहज-सरल और क्षणिक होते हैं कि उनका क्षण-क्षण का भाव-परिवर्तन देखना बहुत अच्छा लगता है। इनकी सतत परिवर्तनशील भाव-भंगिमा अनायास ही जीवन के गहनतम् रहस्य का पता दे जाती है। वे मानती हैं कि बच्चे फूल से भी अधिक सुन्दर होते हैं, क्योंकि वे बोलते हुए फूल हैं। भारतीय साधना मार्ग में परमहंसीय बालवृत्ति को जीवन की उच्चतम् स्थिति माना गया है। खिलौनों का इतना बड़ा संग्रह इनके पास है कि शायद ही किसी और के पास हो। रूसी कलाकारों ने आपको एक सुन्दर रूसी गुड़िया भेंट की, तो आपने प्रसन्नता से उन्हें अपनी दर्जनों गुड़ियों का संग्रह दिखाया। वे स्तब्ध रह गये। उनकी इन पंक्ति पर ध्यान दीजिए—

'यह खिलौने और यह उरप्रिय नयी असमानता है' 'क्षण में आँसू क्षण में हास' की उक्ति में भी बच्चों के साथ आपकी बाजी रहती है। मैंने देखा है कि महाप्राण निराला की मानसिक अवस्था से करुणार्द्र होकर आँसुओं के साथ उन्हें विदा देते समय भी वे गुप्तजी का स्वागत मुक्त हास के साथ करने में समर्थ हैं। पलकों में आँसू और होठों में हास साथ ही संजो रखने में अद्वितीय हैं।

नवाँ वर्ष पूरा होने को हुआ कि बाबा (पितामह) ने गुड़ियाँ का ब्याह रचने की ठान ली। पके आम-बूढ़े होने के कारण वे अपनी महामहिम महादेवी का विवाह अपनी आँखों की छाया में ही कर देना चाहते थे। घर में उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ कहने का साहस किसी में नहीं था। बाबा का हठ, उन्होंने न केवल ब्याह वरन् आगामी कई वर्षों तक साइतन बनने के कारण उसी समय एक सप्ताह के लिए बालिका की विदाई भी कर दी। रोती-चिल्लाती बालिका की कातर वाणी कितनी हृदयविदारक रही होगी, यह सहज ही अनुमेय है।

ससुराल (बरेली के पास कस्बा नवाबगंज) पहुँचकर महादेवीजी ने जो उत्पात मचाया उसे ससुराल वाले ही जानते होंगे। न खाना, न पीना, न बोलना, न कुछ सुनना, केवल रोना, रोना बस रोना। आँखें सूज गईं, ज्वर आ गया और उल्टी का ताँता बँध गया। सारे घर में एक आतंक छा गया। फलतः श्वसुर महोदय दूसरे दिन ही इन्हें वापस लौटा गये। श्वसुर लड़कियों की

बीच में हिन्दी, उर्दू, संगीत और चित्रकला का अप्रत्याशित ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बृजभाषा के पद, कवित्त, सवैये की समस्या पूर्ति के बाद खड़ी बोली में भी कवितायें लिखने लगी थीं। इसे संस्कारगत प्रतिभा की प्रबलता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? जिज्जी और बाबूजी ने भी बेटी की असाधारण बुद्धि और प्रतिभा की जन्मजात प्रखरता देखकर प्रोत्साहन देने में कभी कोई चूक नहीं की। आजीवन शिक्षा संस्थाओं से संबद्ध रहने के कारण बाबूजी बच्चों की परख में पारंगत थे। पढ़ाई-लिखाई में पिताजी का प्रबुद्ध निरीक्षण-परीक्षण और उत्साहवर्द्धन तथा गृहकार्य में माताजी की शिक्षा-दीक्षा ने मिलकर इन्हें दोनों क्षेत्रों में दक्ष कर दिया था। महादेवीजी ने इसका उल्लेख किया है—'एक ओर साधनापूत आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया उसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर और आस्तिकता एक सक्रिय, किन्तु किसी वर्ग या सम्प्रदाय में न बँधने वाली चेतना पर ही स्थित हो सकती थी।'

इसी कारण एक सजग यथार्थवादी की तरह सोचने-समझने और आस्थावान आदर्शवादी की तरह कार्य करने की इनकी अपनी एक अलग प्रणाली है। समन्वय और सामंजस्य इनके जीवनक्रम के मूलाधार हैं। अनेक आश्चर्यजनक विलक्षणताओं का सहज समाहार विभिन्न विजातीय वर्गों से समान सम्पर्क-विभिन्न मत और विचार के व्यक्तियों से एकरस सहानुभूति, परस्पर-विरोधी नानाप्रकार के कार्यों को कर सकने की अद्भुत क्षमता, मोतियों की हाट और चिनगारियों का एकसाथ मेला लगाते चलने की अनन्य धुन आदि इनकी समन्वय-शीलता के साक्षी हैं। काव्य में गम्भीर रहस्यवादी होकर भी जीवन में इनके सहज-सरल तथा सहानुभूतिशील, स्पष्ट और निर्मुक्त मुस्कानी होने का रहस्य भी यही है। इनकी ये पंक्तियाँ भी यही कहती हैं—

> दूसरी होगी कहानी,
> शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूलि में खोई निशानी।
> आज जिसपर प्रलय विस्मित
> मैं लगाती चल रही नित
> मोतियों की हाट औ' -
> चिनगारियों का एक मेला।

चरण है, क्योंकि रहस्य साधना की खोज और इस पथ की पीड़ा का उभार 'नीहार' में स्पष्टतः लक्षित होता है। इस कृति का पहिला गीत ही रहस्य काव्य का साक्ष्य उपस्थित कर देता है—

गये तब से कितने युग बीत
हुए कितने दीपक निर्माण,
नहीं पर पाया मैंने सीख
तुम्हारा सा मन मोहन गान!
नहीं अब गाया जाता देव!
थकी अँगुली, हैं ढीले तार
विश्व वीणा में अपनी आज
मिला लो यह स्फुट झंकार!

दसवां, ग्यारहवां दर्जा पास करते-करते कवि सम्मेलनों, वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में प्राप्त तमगों और पुरस्कारों से छात्रावास का कमरा भर गया। प्रचलित प्रसिद्ध पत्रिकाओं में रचनायें निरन्तर प्रकाशित होने लगीं और काव्य मर्मज्ञों का ध्यान इस नवीन प्राञ्जल प्रतिभा की ओर उत्सुकता से आकर्षित होने लगा। इन्टर की विद्यार्थिनी के रूप में ही आपको आश्चर्यजनक ख्याति मिल चुकी थी। सन् २३-२४ में श्री इलाचंद्र जी जोशी को अपने अल्पकालीन चाँद के सहकारी सम्पादक के रूप में महादेवी वर्मा के नाम से प्रकाशन के लिए आई हुई कविता देखकर आश्चर्य के साथ जो सन्देह हुआ था उसका वर्णन उन्होंने संगम के महादेवी अंक के अपने लेख 'जीवन' विजयनी महादेवी' में रोचकता और विशदिता के साथ किया है।

कालेज की विद्यार्थिनियों को नाटक खेलने के लिए आपने एक काव्य-रूपक की भी चर्चा की थी, जिसमें वसन्त, फूल, भ्रमर तितली तथा वायु को पात्र बनाया गया था। न जाने क्यों, आपने इस विद्या को प्रश्रय नहीं दिया। कालेज की सभी छात्रायें और अध्यापिकायें समान रूप से आपको सम्मान और स्नेह देती थीं। श्री सुभद्रा कुमारी चौहान से प्रगाढ़ मैत्री की नींव भी यहीं पड़ी। कविवर पन्तजी को हिन्दू बोर्डिंग हाउस के कवि सम्मेलन में उसी समय पहिली बार देखा। उनके बड़े बाल और भेश-भूषा-विन्यास के कारण उन्हें लड़की समझ कर पुरुषों के बीच बैठने की ढिठाई पर मन ही मन रुष्ट भी हुईं।

बी० ए० पास होते होते गौने का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस बार इन्होंने

स्कूली पढ़ाई के नितान्त विरोधी थे। अतः उनकी पढ़ाई का क्रम टूट गया। इसे विधि का विधान ही कहा जायगा कि साल भर के बाद श्वसुर का देहान्त हो गया।

महादेवीजी के लिए अब केवल एक ही प्रशस्त पथ था—पढ़ाई का। विद्यानुरागी बाबू जी ने भी यही उचित समझा और आगे पढ़ने के लिए इन्हें क्रास्थवेट कालेज प्रयाग में भरती कर दिया। फिर क्या था अबाध गति से पढ़ाई और काव्य रचना चल पड़ी। मिडिल की परीक्षा इन्होंने प्रथम श्रेणी में पास की और प्रान्त भर में प्रथम स्थान पाने के कारण राजकीय छात्रवृत्ति भी प्राप्त की। उसी समय सौ छन्दों का एक करुण खण्ड काव्य भी लिख डाला। उस समय की साहित्यिक मनोभूमि का इन्होंने इस प्रकार उल्लेख किया है—'जब मैं अपनी विचित्र कृतियों और तूलिका और रंगों को छोड़कर लिखने पढ़ने के लिए बाहर आई, तब सामाजिक जाग्रति के साथ राष्ट्रीय जागरण की किरणें फैलने लगी थीं। अतः उनसे प्रभावित होकर मैंने भी 'श्रृंगारमयी अनुरागमयी भारत जननी भारत माता' 'तेरी उतारूँ आरती माँ भारती' आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की थी वे विद्यालय के वातावरण में ही खो जाने के लिए लिखी गई थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरी कविता का शैशव समाप्त हो गया।' उस समय की 'अबला' 'विधवा' आदि रचनायें चाँद, आर्य महिला एवं महिला जगत में प्रकाशित भी हुई थीं।

इसके पश्चात् महादेवी जी की काव्य-प्रवृत्ति उसकी मूल धारा की ओर उन्मुख हो गई। जिसमें व्यक्तिगत दुःख समष्टिगत गंभीर वेदना का रूप ग्रहण करने लगा और प्रत्यक्ष का स्थूल रूप एक सूक्ष्म चेतना का आभास देने लगा। कहना नहीं होगा कि इस दिशा में मेरे मन को [illegible] —शायक को कई बार गिर-उठकर अपने पंखों के [illegible]।' इस भाव की प्रथम रचना चाँद में प्रकाशित हुई। [illegible] रूप में चलता रहा और बहुत बाद में प्रकाशित इनकी प्रथम पुस्तक 'नीहार' का अधिकांश इनके मैट्रिक होने के पहले ही लिखा जा चुका था।

'नीहार' [illegible]

आती हुई वह दयनीय दशा जिसका उल्लेख अपने सामाजिक निबन्धों में महादेवी जी ने बार-बार आक्रोष और क्षोभ पूर्ण शब्दों में किया है तथा उनकी सहज वैराग्य भावना भी हो सकती है। इस सहज स्वाभाविक सत्य को स्वीकार कर सकने का मनोवैज्ञानिक कारण हमें महादेवीजी में न खोज कर अपने में ही खोजना चाहिए। बौद्ध भिक्षुणी बनने की उनकी इच्छा से भी विवाह की अस्वीकृत का समर्थन होता है। इसके अतिरिक्त पुरुष निरपेक्ष-नारी-व्यक्तित्व की स्थापना का उनका जीवन-व्यापी उद्देश्य भी इस प्रवृत्ति में सक्रिय रहा हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। अनुमान से अधिक महत्व स्वयं उनके कथन को न देकर हम अपने को लांक्षित करते हैं। उनके इस कथन पर ध्यान दीजिये—'मेरे जीवन ने वही ग्रहण किया जो उसके अनुकूल था। कविता सबसे बड़ा परिग्रह है, क्योंकि वह विश्व-मात्र के प्रति स्नेह की स्वीकृति है।'

परिग्रही जीवन को अस्वीकार करके इन्होंने अपना कोई सीमित परिवार नहीं बनाया, पर इनका जैसा विशाल परिवार-पोषण सबके वश की बात नहीं। गाय, हिरण, मोर, कुत्ते, बिल्लियाँ, गिलहरी, खरगोश, कबूतर तो इनके चिरसंगी हैं ही, लता-पादप-पुष्प आदि तक इनकी पारिवारिक ममता के समान अधिकारी हैं। आगन्तुक और यदि वह अतिथि हो, तो उसके स्वभाव की इनकी तन्मयता देखने लायक होती है। विसाल साहित्यिक परिवार में से प्रयाग आने वाले साहित्यिकों के लिए तो इनका घर ही सा है, पर असाहित्यिकों के लिए भी उनका द्वार मुक्त रहता है। गुप्त जी ने ठीक ही कहा था—'मेरी प्रयाग-यात्रा केवल संगम स्नान से पूरी नहीं होती, उसको सर्वथा सार्थक बनाने के लिए मुझे सरस्वती (महादेवी) के दर्शनों के लिए प्रयाग महिला-विद्यापीठ जाना पड़ता है। संगम में कुछ फूल अक्षत भी चढ़ाना पड़ता है, पर सरस्वती के मन्दिर में कुछ प्रसाद मिलता है। साहित्यकार संसद हिन्दी के लिए उन्हीं का प्रसाद है।

प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० पास करने के बाद इन्होंने अपनी रुचि के अनुकूल कार्य समझकर प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या का भार ग्रहण कर लिया और चाँद का निःशुल्क सम्पादन भी करने लगी। अब तक उनकी द्वितीय काव्य कृति 'रश्मि' भी प्रकाशित हो चुकी थी। 'रश्मि' में उनकी अध्यात्मिक अनुभूतियों को दर्शन का दृढ़ आधार मिल जाता है और निहार का धुँधलापन निखर उठता है। जिज्ञासा और कौतूहल की अधिकता इसमें भी है, पर इसके समाधान दृढ़ और अडिग हैं। 'रश्मि' की

साफ शब्दों में दृढ़तापूर्वक, किन्तु सहज भाव से जिज्जी को बता दिया कि वे विवाह को किसी भी स्थिति में स्वीकार करने को तैयार नहीं और तब गौने की चर्चा ही व्यर्थ है। जिज्जी का यह निर्णय सुनकर स्वभावतः बहुत पीड़ित हुईं और उन्होंने बहुत तरह से समझाया-बुझाया भी, पर महादेवीजी अपने निश्चय पर अटल रहीं। बाबूजी को भी बहुत दुःख हुआ और उन्होंने इन्हें एक लम्बे पत्र में अबोध बालिका के प्रति विवाह में किये गये अन्याय की मुक्तकंठ से क्षमा मांगते हुए यह भी लिखा कि यदि इनकी इच्छा दूसरा विवाह करने की है वे इसके साथ धर्म-परिवर्तन करने को भी तैयार हैं। इन्होंने स्पष्ट कर दिया कि दूसरे विवाह की बात नहीं, वे विवाह करना ही नहीं चाहतीं। यदि पिछले कृत्य की ग्लानि छोड़कर उनके वर्तमान निश्चय को सहर्ष स्वीकार कर लिया जाय तो दोनों ही पक्ष पिछले पापों से मुक्त हो जायेंगे। बाबू जी ने इसे तुरन्त स्वीकार कर लिया। उसी समय से इस प्रसंग का अन्त हो गया।

उन दिनों भारतीय नारी के लिए विवाह को इस प्रकार अस्वीकार कर देना कितना कठिन और विस्मयकारी था, कहने की बात नहीं। बचपन से ही महादेवीजी का यह स्वभाव रहा है कि उन्होंने जो अपने जीवन विकास के लिए उचित और उपयुक्त समझा सो किया, हठ और भीषण विद्रोह के साथ किया। संसार का कोई भी प्रलोभन या भय उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर सका—

> घिरती रहे रात !
> न पथ रूँधतीं ये गहनतम शिलायें,
> न गति रोक पातीं पिघल मिल दिशायें;
> चली मुक्त मैं ज्यों मलय की मधुर बात !
> न आँसू गिने औ न काँटे सँजोये,
> न पग-चाप दिग्भ्रान्त उच्छ्वास खोये;
> मुझे भेंटता हर पलक-पात में प्रात !

विवाहित जीवन को अस्वीकार करने की [illegible]

पादन किया है, वह बड़े से बड़े समाज-सुधारक में भी विरल है। सामान्य नारी की स्थिति का विश्लेषण करते हुए इन्होंने विधवाओं, वेश्याओं और अवैध संतानों की समस्या पर भी अपने साहसी और निर्भीक विचार व्यक्त किये हैं—'अनेक व्यक्तियों का विचार है कि यदि कन्याओं को स्वावलम्बी बना देंगे तो वे विवाह ही न करेंगी, जिससे दुराचार भी बढ़ेगा और गृहस्थ धर्म में भी अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। परन्तु वे भूल जाते हैं कि स्वाभाविक रूप से विवाह में किसी व्यक्ति के साहचर्य की इच्छा प्रधान होनी चाहिए, आर्थिक कठिनाइयों की विवशता नहीं।'

'नीरजा' इनके काव्य संचरण का तीसरा सोपान है। इसमें अनुभूति के उत्कर्ष और कलात्मक मनोरमता के साथ हिन्दी गीति-काव्य अपने चरम विकास की भूमिका पर प्रतिष्ठित हो जाता है। गीतों की दृष्टि से 'नीरजा' हिन्दी की श्रेष्ठतम रचना है। छायावाद के दुर्वासा आलोचक आचार्यशुक्ल को भी इनके गीतों की सफलता को अनन्य मानना पड़ा था। 'नीरजा' में चिन्तन और अनुभूति, भाव और अभिव्यक्ति तथा गीत और संगीत का बहुत ही उत्कृष्ट समन्वय पाया जाता है। 'रश्मि' की किरण-चेतना का आरोहण क्रम 'नीरजा' में समात्मभाव के उस शिखर पर पहुँच जाता है, जो इनके काव्य की प्रतिष्ठा भूमि और अध्यात्मिक उन्मेष का प्रतीक है। आत्मभाव-'सोऽहं,' सर्वात्मभाव--'तत्वमसिः तथा समात्मभाव—'सर्व खल्विदं ब्रह्म' की स्थितियाँ नीरजा में समाहित हैं। जीवननिष्ठा, अध्यात्मिक आस्था और व्यापक सौंदर्यबोध के माध्यम से महादेवीजी ने 'नीरजा' के गीतों में जिस समात्मभाव की रहस्यात्मक अनुभूति को अभिव्यक्त किया है, वह कलात्मक रूप से छायावाद और भावात्मक रूप से रहस्यवाद का प्रतिनिधित्व करने में सहज ही सफल और सार्थक है—

मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं?
सघन वेदना के तम में सुधि जाती सुख सोने के कण भर,
सुर धनु नव रचतीं निश्वासें स्मित का इन भीगे अधरों पर;
आज आँसुओं के कोषों पर स्वप्न बने पहरे वाले हैं।
नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रही कैसी उलझन?
रोम-रोम में होता री सखि एक नया उर का-सा स्पन्दन,
पुलकों से भर फूल बन गये जितने प्राणों के छाले हैं।

प्रकृति विस्मय की सृष्टि करने वाली न होकर कवि-व्यक्तित्व-सापेक्ष हो गई है। इसकी रहस्यानुभूतियाँ स्पष्ट और साधना-समन्वित हैं। भावुकता और दार्शनिकता में बदल गई है। अज्ञात का आकर्षण ज्यों का त्यों बना है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न स्वरों में सामंजस्य की गरिमा बढ़ गई है। जीवन, मृत्यु, मुक्ति, अमरत्व, प्रकृति और मानव आदि की द्वन्द्वात्मक स्थितियों में साम्य का सूत्र संग्रथित हो गया है और भाषा भावाभिव्यक्ति में अधिक सघन और सफल हो गई है। इस कृति में वेदान्त और बौद्ध दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है, किन्तु कवयित्री ने अपने स्वतन्त्र चिन्तन को अक्षुण्ण रखा है। बौद्ध दर्शन की मूल प्रवृत्ति व्यक्तित्व की सर्वांगतः निर्विशेषता को इन्होंने कहीं स्वीकार नहीं किया—'पर न समझना देव हमारी लघुता है जीवन की हार।' इसी तरह उपनिषद् के सुख-दुःख-समन्वय को साधना का लक्ष्य न मानकर दोनों को व्यापक सत्य के अंग रूप में स्वीकार किया है—

छिपाकर उर में निकट प्रभात,
गहनतम होती पिछली रात,
सघन वारिद अम्बर से छूट,
सफल होते जल कण में फूट।

वस्तुतः 'रश्मि' में सर्ववाद-दर्शन की भावात्मक अथवा सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का प्राचुर्य है। आत्मा, प्रकृति और परमात्मा (सत्य) की समन्वित एकता ही 'रश्मि' का मूलाधार है।

कविता के साथ-साथ बचपन से ही उन्होंने गद्य लिखना भी आरम्भ कर दिया था। और पर्दा-प्रथा पर लिखित निबन्ध-प्रतियोगिता में उत्तर प्रदेश शिक्षा विभाग से पुरस्कृत भी हो चुकी थीं। '[illegible]' नामक नाटक भी कई जगह अभिनीत हो चुका था। कतिपय संस्मरण भी [illegible], परन्तु [illegible] रूप में लिखित [illegible] है। [illegible] में नारी का स्थान [illegible] है। महादेवी जी [illegible] स्वाभाविक था कि [illegible] अत्याचार के विरुद्ध [illegible]। इन निबन्धों में उन्होंने भारतीय नारी की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का [illegible] विश्लेषण-विवेचन किया है। [illegible] है। इन निबन्धों में महादेवी जी [illegible]

हो गयी आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले।
विरह का युग आज दीखा मिलन के लघु पल सरीखा,
दुःख सुख में कौन तीखा मैं न जानी औ न सीखा
मधुर मुस्को हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले।

इस कृति के साथ कवयित्री का चित्रकर्त्री रूप भी सामने आया। इस प्रकार 'सांध्यगीत' काव्य, संगीत और चित्र के समन्वित स्वरूप से आलोकित है।

पांचवीं काव्यकृति 'दीप दिखा' को काव्यमय चित्र या चित्रमय काव्य अथवा 'चित्रगीत' की संज्ञा दी जा सकती है। इसके प्रत्येक गीत की पृष्ठभूमि के रूप में एक चित्र अंकित है, जो काव्योत्कर्ष की चारुता बढ़ाने में समर्थ है। कला और भाव दोनों की दृष्टि से 'दीप शिखा' पूर्णत्व का स्पर्श करती हुई अपने ढँग की अकेली काव्य-कृति है। इसे देखने के पश्चात् ही निराला ने ये उद्‌गार प्रकट किये थे —

हिन्दी के विशाल मंदिर की वीणा-वाणी,
स्फूर्ति चेतना-रचना की प्रतिभा कल्याणी !

'दीपशिखा' में महादेवीजी की समात्य भावना रागात्मक अनुभूति की तीव्रता से सर्वव्यापक होकर इतनी प्रत्यक्ष और जीवन्त हो उठी है कि सर्व-भूतरत हित क्रियाओं में उसका स्वरूप परिलक्षित होने लगता है। भाव, क्रिया और वोध का यही समन्वय अध्यात्म की चरम परिणति और काव्य की उच्चतम उपलब्धि है। 'दीपशिखा' का आरम्भ ही लोक-मंगल की भावना से होता है—

दीप मेरे जल अकम्पित धुल अचंचल।
पथ न भूले, एक पग भी, घर न खोये लघु विहग भी
स्निग्ध लौ की तूलिका से आँक सबकी छाँह उज्जल।

और अपनी इसी वृत्ति के लिए—निष्काम कर्मयोग की साधना के लिए अपेक्षित आत्मविश्वास का दृढ़ सम्वल भी इनके पास है—

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला !
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे;
दृढ़वती निर्माण उन्मद, यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अंक—संसृति से तिमिरि में स्वर्ण वेला।

आन्तरिक और बाह्य संसार में सभी जगह आत्ममिलन के संकेत मिल रहे हैं। वेदना के अंधकार में स्मृति प्रकाश भर रही है। भीगे ओठों पर निरन्तर स्मित का इन्द्रधनुष बना जाती हैं। आँसुओं के कोष पर सपनों का पहरा लग गया है। नेत्र और कान एक से हो गये हैं—प्रिय को देखने और उनकी बातें सुनने की समान आकुलता है। रोम-रोम में हृदय की उत्सुकता धड़क रही है। प्राणों के सारे दुःख पुलकों के कारण फूल की तरह प्रफुल्ल हो उठे हैं। 'नीरजा' की यही विशेषता है। वास्तव में 'नीरजा' जैसा कलापक्ष और भाव-पक्ष का समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है।

इनकी चौथी काव्य-कृति 'सांध्यगीत' है। 'नीरजा' के भाव विस्तार के साथ इस कृति की अनुभूति तन्मयता अधिक सघन और व्यापक हो गई है। विरह के अभिशाप को इन्होंने वरदान के रूप में रूपान्तरित कर लिया है। उनका भाव पथ निश्चित हो चुका है और कवयित्री ने अपनी निश्चित दिशा खोज ली है। सापेक्षताओं से ऊपर उठने के कारण वे इतनी निर्द्वन्द्व हो गयी हैं कि उनके लिए और तो और जीवन-मृत्यु का पार्थक्य भी मिट गया है—

चाँदनी मेरी अमा का भेंट कर अभिषेक करती,
मृत्यु-जीवन के पुलिन दो आज जागृति एक करती,
हो गया अब दूत प्रिय का प्राण का संदेश-स्पंदन।
सजनि मैंने स्वर्ण पिंजर में प्रलय का वात पाला,
आज पुंजीभूत तम को कर बना डाला उजाला,
तूल से उर में समाकर हो रही नित ज्वाल चंदन।

परन्तु अब उनके लिए—

'विरह की घड़ियाँ हुईं मधुर मधु की यामिनी सी'

वस्तुतः समन्वय, सामंजस्य और सापेक्षताओं से ऊपर उठने का आलोक 'सान्ध्यगीत' की चरम उपलब्धि है। इस गीत की पंक्ति में इस स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है—

मैं सजग चिर साधना ले।
सजग प्रहरी से निरन्तर
जागते अलि रोम निर्भर,
निमिष के बुदबुद मिटाकर,
एक रस है त्याग अन्तर।

मैं घोल अश्रु में ज्वाला-कण
चिर मुक्त तुम्हीं को जीवन के
बंधन हित विकल दिखा जाती।

गोस्वामी तुलसीदास ने लोक-मंगल की भावना के जिस बल पर आत्म-विश्वास के साथ कहा था—'शम्भु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, रामचरित मानस कवि तुलसी।' उसी अकम्प्य विश्वास के साथ महादेवी ने भी कहा है—

विद्युत घन में बुझने आती, ज्वाला सागर में घुल जाती,
मैं अपने आँसू में बुझ घुल, देती आलोक विशेष रही।
जो ज्वारों में पल कर न बहें अंगार चुगें जलजात रहें,
मैं गत-आगत के चिर संगी सपनों का कर उन्मेष रही।

इसीलिए 'दीपशिखा' में अविश्वास का कोई कम्पन नहीं है। नवीन प्रभात के वैतालिकों के स्वर के साथ इसका स्थान रहे, ऐसी कामना नहीं, पर रात की सघनता को इसकी लौ झेल सके, यह इच्छा तो स्वाभाविक है। वस्तुतः व्यापक और स्थिर समता, निष्कामता, लोकमंगल की भावना और आत्मा के स्वातंत्र्य की माँग 'दीपशिखा' का प्रमुख प्रतिपाद्य है—

सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला।
जिसने उसको ज्वाला सौंपी उसने इसमें मकरंद भरा,
आलोक लुटाता वह घुल-घुल देता झर यह सौरभ बिखरा;
दोनों संगी पथ एक किन्तु कब दीप खिला कब फूल जला ?

इस गीत में प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में स्थिति रूप, आकार और कार्य से नितान्त भिन्न पदार्थों को चुनकर तथा उन सबको एक ही पथ के पथिक और एक ही मूल चेतना की अभिव्यक्ति मानकर कवयित्री ने बाह्य भिन्नता के भीतर निहित अभिन्नता की बहुत ही मार्मिक अभिव्यंजना की है। वस्तुतः किसी को बड़ा-छोटा, कोमल-कठोर, ऊँचा-नीचा तथा लघु-विराट समझना हमारे व्यष्टि भाव का बुद्धि विभ्रम मात्र है, अन्यथा सभी उस परम मूल तत्व की सृष्टि हैं और उसी की आभा से उद्भासित हैं। इस प्रकार ब्रह्म और जीवात्मा तथा प्रकृति अभिन्न हैं। एक ही चैतन्य कहीं दीप बनकर जल रहा है तो कहीं फूल बनकर खिल रहा है। दोनों का लोक-मंगल के लिए उत्सर्ग समान है। इसी भावोदय के उल्लास में ये पंक्तियाँ मुखरित हो उठी हैं—

इस प्रकार साधना—सिद्धि आत्मविश्वास का सहज सम्बल 'दीपशिखा' को प्राप्त है। कवयित्री ने स्पष्ट घोषणा भी की है—

> और कहेंगे मुक्ति—कहानी, मैंने धूलि व्यथा भर जानी;
> हर कण को छू प्राण पुलक बंधन में बँध जाता है।
> मिलन उत्सव बन क्षण जाता है।
> मुझे प्रिय जग अपना भाता है!

कहना न होगा कि समत्व की यह स्थिति सर्वत्र एक ही आत्मा को देखने की दृष्टि का ही सुफल है। द्वन्द्व मोह विनिर्मुक्त होने से व्यष्टिजीव का विश्वात्मा के प्रति प्रेमभाव उजागर हो सकता है, अन्यथा नहीं। वास्तव में आध्यात्मिक आलोक की सार्थकता यही है कि वह विश्व के लिए करुणा, सहानुभूति ही नहीं, समानुभूति तथा स्नेह का संदेश दे सके, क्योंकि इसी से इसका आदर्श भी जीवन के यथार्थ से समन्वित होकर प्रतिष्ठा पाता है। इस सार्वभौम प्रेम और समत्व की प्राप्ति के लिए अपने प्राकृत अहं की चहारदीवारी को तोड़ना और अपरा प्रकृति से उठकर पराप्रकृति में प्रवेश करना अनिवार्य है, तभी सभी सर्वभूतों के प्रति मैत्री और करुणा का भाव जाग्रत हो सकता है। 'दीपशिखा' की कवयित्री 'अपने से पहिले अपनों की मुक्ति जोहती सीता' के अनुसार अपने लिए व्यक्तिगत सुख से पूर्व विश्व को सुखी देखना चाहती है, सबका दुःख ओढ़ने के लिए आतुर है और इसी को कवि का मोक्ष मानती है। महादेवी की इस विराट संवेदनशीलता के उन्मेष में लोक-कल्याण की भावना को स्वीकार। मोक्ष से कई गुना अधिक महत्त्व दी जान पड़ती है। वे विश्व से विषाद, पीड़ा और ताप को दूर करके उल्लास, आनन्द और शीतलता की स्थापना करने की इच्छुक हैं— [illegible]

[illegible]

अभी तक महादेवीजी की चित्रकला पर सम्यक समालोचना का प्रायः अभाव है, परन्तु जब कभी इस ओर कलाविदों का ध्यान आकर्षित होगा, तब भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इन चित्रों का महत्व स्पष्ट होकर सामने आयेगा। अपने चित्रों की चर्चा करते हुए इन्होंने चित्रकला की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है वे अधिकतर इनके चित्रों में समाविष्ट हैं।

वास्तव में महादेवीजी की भाव-चेतना इतनी गंभीर, मार्मिक और संवेदनशील है कि उसकी अभिव्यक्ति का प्रत्येक रूप नितान्त मौलिक और हृदयग्राही शैली की स्थापना करने में स्वाभावतः सफल होता है। साहित्यकार, चित्रकार, मूर्तिकार होने के साथ ही वे एक अत्यन्त प्रभावशाली व्याख्याता और समाजसेविका भी हैं। इनके भाषणों को सुनने वाले श्रोताओं को भलीभांति यह ज्ञात है कि उन्हें भाव-विभोर कर देने की क्षमता में महादेवीजी अद्वितीय हैं। विषय को सुनने वालों के लिए इतना संवेदनीय बना देती हैं कि वे इनके शब्दों को अपने संवेदनों से मिलाते हुए इनके साथ परम आत्मीय भाव से बहते चले जाते हैं। वक्ता और श्रोता का भाव-स्पन्दन एक हीं लय में लयमान हो जाता है। वक्ता और श्रोता का ऐसा तादात्म्य—स्थापन भाषण-कला की चरम परिवर्तित है। महादेवीजो ऐसी ही समर्थ व्याख्याता हैं।

अपने साहित्यिक और सामाजिक कार्यों के साथ वे देश के स्वतंत्रता-आन्दोलन में भी निरन्तर यथायोग्य सहयोग्य देती रही हैं। सन् १९४२ के स्वतंत्रता-संग्राम में इन्होंने जिस अडिग धैर्य और अटूट साहस के साथ विद्रोहियों का साथ दिया है, उनकी सहायता की है, उनको और उनके परिवार को संरक्षण दिया है वह बहुत ही रोमांचकारी और आश्चर्यजनक है। उन्हीं दिनों की एक घटना विशेष से परिचित होकर श्रीइलाचंद्र जोशी ने कहा था—'आजकल सरकार का रुख बहुत कड़ा है। किंचित मात्र संदेह होने पर भी पुलिस वाले बहुत परेशान करते हैं। स्थिति महिलाओं के लिए और भी भयावह है। आपको बहुत सावधान रहना चाहिए।' यह सब तो मैं जानती हूँ, पर विश्वास और आशाओं से आये हुए देश-प्रेमी विद्रोही को सहानुभूति और संरक्षण देने से इंकार भी तो नहीं किया जा सकता। इस समय देश को बहुत बड़े बलिदान और त्याग की आवश्यकता है। पुलिस वाले हमें जीवित तो पकड़ नहीं सकते, और यथाशक्ति काम तो करना ही है। राक्षसी परिपीड़न का भय हमको नहीं हैं, क्योंकि हम जौहर व्रत के सच्चे उत्तराधिकारी हैं।' हम लोग केवल स्तब्ध थे।

लघु हृदय तुम्हारा अमर छंद, स्पन्दन में स्वर-लहरी अमंद,
हर स्वप्न स्नेह का चिर निबंध, हर पुलक तुम्हारा भाव-बंध,
निज साँस तुम्हारी रचना का लगती अखण्ड विस्तार मुझे।

स्पष्ट है कि 'दीपशिखा' में अध्यात्मिक साधना के विभिन्न सोपानों पर चढ़ती हुई कवयित्री ने सिद्ध की उस उच्चतम स्थिति का आकलन और अनुभव कर लिया है, जहाँ जीवात्मा निरन्तर वैयक्तिक स्तर के अहंभाव से ऊपर उठकर सर्वव्यापी आत्मा की निर्वैयक्तिक समस्थिति में विकसित होकर परमसत्ता के साथ चेतना और दिव्य आनन्द में भावात्मक एकता स्थापित करते हुए असीम प्रेम और चरम स्वातंत्र्य का लाभ प्राप्त करती है। मानवीय जीवन की चरम सफलता और उसकी सर्जनात्मकता का यही परम विकास है।

'साधना की सिद्धि का संकेत इन पंक्तियों में चरितार्थ है—

सजल है कितना सवेरा!
कल्पना निज देखकर साकार होते,
और उसमें प्राण का संचार होते,
सो गया रख तूलिका दीपक चितेरा!
ले उषा ने किरण-अक्षत हास-रोली,
रात अंकों से पराजय—रेख धोली,
राग ने फिर साँस का संसार घेरा!

महादेवी के चित्रों के विषय में कुछ अधिक कहने का मैं अधिकारी नहीं हूँ। केवल इतना ही कह सकता हूँ कि गीतों की पृष्ठभूमि के रूप में अंकित उनके चित्र भावों को मूर्तित करने में पूर्णतः सफल हैं। गीतों की भाव-व्यंजना के सहयोगी होने के कारण ये चित्र स्वभावतः वस्तुपरक होने की अपेक्षा भावात्मक अधिक हो गये हैं, यह भी सच है। उदाहरणस्वरूप—'आँसू से धो आज इन्हीं अभिशापों को वर कर जाऊँगी' वालचित्रगीत लिया जा सकता है। चित्र में एक स्त्री के दोनों हाथ काँटों से बँधे हैं और अँगुलियों में अविकसित, अर्धविकसित कमल के फूल अपनी नाल के साथ लिपटे बने हैं। अपने ऊपर आपदाओं का बोझ रखकर भी दूसरे के सुख-स्वागत का भाव ही चित्र और गीत का प्रतिपाद्य है। अपनी तपन-तपस्या और त्याग से दूसरों को सुखी बनाने की कामना ही दोनों के साम्य का आधार है। किसी भी चित्रगीत को लेकर यह भाव-साम्य स्पष्ट किया जा सकता है।

हार्दिकता का विश्वास है, संकोच संदेह तथा भय पराजय का भाव नहीं, विजयी की वह विनम्रता और उदारता है। जिस पर का साधना का पानी चढ़ा हुआ है। आशय यह कि विद्रोह की मंगल मुखी भावना पर ही इनकी आस्था है।

इनकी काव्य-रचना का क्रम अटूट है, 'दीप शिखा' की भाँति 'प्रभा' चित्र-गीत-कृति पूर्ण हो चुकी है, पर अभी प्रकाशित नहीं हुई। कतिपय गद्य कृतियाँ अवश्य प्रकाशित हुई हैं। इन्होंने लिखा भी है—

"जीवन की दृष्टि से मैं बहुधंधी हूँ अतः एकान्त काव्य-साधना का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ होगा। साधारणतः मुझे भाव, विचार और कर्म का सौन्दर्य समान रूप से आकर्षित करता है, इसी से किसी एक में जीवन की पूर्णतया लेना मेरे लिए सहज नहीं। भाव और विचार जगत की सब सीमायें न छू सकने पर भी मेरे कर्मक्षेत्र की विविधता कम सारवती नहीं। साहित्य मेरे जीवन की सम्पूर्ण साधना नहीं है, यह स्वीकार करने में मुझे लज्जा नहीं। हमारे जीवन का धरातल इतना विषम है कि एक पर्वत के शिखर पर बोलता है और दूसरा कूप की अतल गहराई में सुनता है। इस मानव समष्टि में, जिसमें शत-प्रतिशत असाक्षर और एक प्रतिशत से भी कम काव्य-मर्मज्ञ हैं, हमारा बौद्धिक निरूपण कुन्ठित और कलागत सृष्टि पंखहीन है। शेष के पास हम अपनी प्रसाधित कलात्मकता और बौद्धिक ऐश्वर्य छोड़कर व्यक्तिमात्र होकर ही पहुँच सकते हैं। बाहर के वैषम्य और संघर्ष में व्यथित मेरे जीवन को जिन क्षणों में विश्राम मिलता है, उन्हीं को कलात्मक कलेवर में स्थिर कर मैं समय-समय पर पहुँचाती रही हूँ, जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है। शेष जीवन को जहाँ देने की आवश्यकता है, वहाँ उसे देने में मेरा मन कभी कुन्ठित न होगा।

"विशाल साहित्य-परिवार के हर्ष-शोक मेरे अपने हैं, परन्तु उसे बाहर खड़े व्यक्तियों की सुख-दुःख कथा मुझे पराई नहीं लगती। अपने सुशिक्षित-सुसंस्कृत विद्यार्थियों से साहित्यालोचन करके मुझे प्रसन्नता होती है, परन्तु अपने मलिन दुर्बल जिज्ञासुओं (गँवई गाँव के बच्चों) को वर्णमाला पढ़ाने में मुझे कम सुख नहीं मिलता। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैंने उस उपेक्षित संसार में बहुत कुछ भव्य पाया है, अन्यथा सभ्य समाज से इतनी दूरी असह्य हो जाती। अनेक बार लोकगीत सुनकर ऐसा भी लगता है कि यह भाव मेरे गीत में होता। एक बहुत बड़े मानव समूह को हमने ऐसी दुर्दशा में रख छोड़ा है जहाँ साहित्य का प्रवेश कल्पना की वस्तु है। वह समाज हृदय की बात समझता है, पर व्यक्ति के माध्यम से। ऐसे समाज में काव्य पहुँचाने से अधिक महत्व का प्रश्न मनुष्य

बंगाल के अकाल के समय 'बंगदर्शन' और चीनी आक्रमण के समय 'हिमालय' काव्य संकलन और प्रकाशन इनकी राष्ट्र सेवा के ही ज्वलंत अनुष्ठान हैं। 'बंगदर्शन की अपनी बात में महादेवीजी ने लिखा था—'किसी अन्य देश में यह घटना घटित होती तो क्या होता इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु हमारा देश इसे अदृष्ट का लेख मानकर स्वीकार कर ले तो स्वाभाविक ही कहा जायगा। फिर भी प्रत्येक विचारक जानता है कि यह आकस्मिक वज्रपात नहीं है, जिसका कारण दुर्दैव या संयोग मानकर जिज्ञासा विराम पा सके। यह तो मनुष्य के स्वार्थ की शिला पर उसके प्रयत्न और बुद्धि द्वारा निर्मित नरक है। अतः इसका कारण ढूंढ़ने दूर न जाना होगा। इस दुर्भिक्ष की ज्वाला का स्पर्श करके हमारे कलाकारों की लेखनी-तूली यदि स्वर्ण न बन सकी तो उसे राख हो जाना पड़ेगा।' हिमालय का समर्पण इस प्रकार है—'जिन्होंने अपनी मुक्ति की खोज में नहीं, वरन् भारत भूमि को मुक्त रखने के लिए अपने स्वप्न समर्पित किये हैं, जो अपना सन्ताप दूर करने के लिए नहीं, वरन् भारत की जीवन-ऊष्मा को सुरक्षित रखने के लिए हिम में गले हैं, जो आज हिमालय में मिलकर धरती के लिए हिमालय बन गये हैं, उन्हीं भारतीय वीरों की पुण्य स्मृति में' और इस संग्रह के विषय में इन्होंने लिखा है—'इतिहास ने अनेक बार प्रमाणित किया है कि जो मानव-समूह अपनी धरती से जिस सीमा तक तादात्म्य कर सका है, वह उसी सीमा तक अपनी धरती पर अपराजेय रहा है। इस तादात्म्य के अनेक साधनों में विशिष्ट साहित्य है। किसी भूमि खण्ड पर किसी मानव-समूह का सहज अधिकार है, इसे जानने का पूर्णतम प्रमाण उसका साहित्य है। आधुनिक युग में साहित्यकारों को भी अपने रागात्मक उत्तराधिकार का बोध था, इसी से हिमालय के असन्न संकट ने उनकी लेखनी को ओज के शंख और आस्था की वंशी के स्वर दिये हैं।'

अन्याय की दुर्दमनीय नीतियों के प्रति मन में विद्रोह-स्वाभाविक है, पर उसे क्रियात्मक रूप देने की क्षमता जिस अपराजेय आत्मदान की अपेक्षा रखती है, वह महादेवीजी की निजी विशेषता है। वस्तुतः मैथिली की अग्निपरीक्षा, बुद्ध का गृह त्याग और महादेवी का विद्रोह सत्य को सुन्दर और सुन्दर को शिव बनाने की ऊर्ध्वगामी सीढ़ियाँ हैं, जिनके द्वारा राग-द्वेष से मुक्त होकर मनुष्य जीवन की उच्चतम भूमि पर चढ़ सकता है। इनके विद्रोह में आग की लपटों या उच्छ्वसित आवेग नहीं, दीपक की लौ की आलोकवाही स्निग्धता है, चमत्कारी बुद्धि का उतावलापन नहीं, भावावेश को स्पंदित कर देने वाली

धरती के चरणों पर, नभ के धर शत प्रणाम,
गल गया तुषार-भार बनकर वह छवि-शरीर।

वस्तुतः स्वयं मिटकर जलती धरती को रससिक्त करना ही बादल के प्रतीक का प्रमुख अभिप्रेत है। सम्भवतः महादेवीजी ने इसीलिए कामना की है—

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय।

दीपक के द्वारा आत्मनिष्ठा, उपासना तथा समर्पण के भाव को संपूरित किया गया है। साधनारत प्राण और आत्मा के प्रतीक रूप में भी दीपक प्रयुक्त हुआ है। लघुता की महत्ता का भी उससे प्रतिपादन होता है—

दीप मेरे जल अकम्पित,
घुल अचंचल।
पवन भूले एक पग भी,
घर न खोये लघु विहग भी,
स्निग्ध लौ की तूलिका से,
आँक सबकी छाँह उज्ज्वल।

दीपक से निष्कंप आलोक विकीर्ण करने का यह आग्रह इसलिए है कि इस आलोक के सहारे पक्षी अपने घोंसलों और यात्री अपने गन्तव्य तक सुरक्षित रूप से पहुँच सकें, उन्हें किसी प्रकार का दिशा-भ्रम न हो, क्योंकि अपनी स्निग्ध ज्योति द्वारा दूसरों के मार्ग को प्रशस्त एवं प्रकाशित करना ही दीपक की सार्थकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत साधना और लोकमंगल की भावना, दोनों का इसमें संकेत है। दीपक की स्निग्ध-मधुर लौ के माध्यम से महादेवीजी ने अपने भावालोक के उन्मेष की जो व्यंजना दीप-गीतों में की है, वह अत्यन्त कलात्मक और उदात्त है।

जल, प्रकाश और वायु महादेवीजी के प्रिय तत्त्व हैं। सम्भवतः इसीलिए, उनके व्यक्तित्व में सरलता, स्निग्धता एवं निर्मलता का [illegible] पाया जाता है।

उनके [illegible] है।

पहुँचाना है, जो अपनी सहज संवेदना से उनके हृदय तक पहुँचकर बुद्धि की खोज खबर ले सके।"

इस प्रकार साहित्य-सृजन के अतिरिक्त सामाजिक तथा राष्ट्रीय कार्य-क्षेत्र में भी इन्होंने बराबर सक्रिय भाग लिया है। प्रयाग महिला विद्यापीठ, साहित्यकार संसद, रंगवाणी आदि संस्थाओं की स्थापना और सम्वर्द्धना के साथ सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों को एक रंगमंच पर एकत्रित करने का सर्वप्रथम श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। साहित्यकार संसद की ओर से ताकुला-उत्तरायण, नैनीताल में महादेवीजी ने साहित्य-शिविर का एक आयोजन किया, इसमें हिन्दी के अतिरिक्त राष्ट्र की विभिन्न भाषाओं के साहित्यकार प्रायः एक माह साथ रहकर कविता, कहानी, नाटक और विचार गोष्ठियों का आनंद लेते रहे। दक्षिण के महाकवि श्री पाद कृष्णामूर्ति ने ठीक ही कहा था—'महादेवीजी यदि कहा जाय कि आप मूर्तिमान मनुष्यता हैं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं।' ग्रामीण जीवन के साथ निकट-सम्पर्क रखकर इन्होंने वहाँ के लोगों को शिक्षित करने की चेष्टा के साथ उनके सुख-दुःख में भी हाथ बटाया है। अपने नाम के शाब्दिक अर्थ को क्रियात्मक सार्थकता देने वाली महादेवी वास्तव में महादेवी ही हैं।

बादल और दीपक उनके सर्वाधिक प्रिय प्रतीक हैं। बादल के माध्यम से सर्वस्व त्याग और लोक-कल्याण की भावना तथा आत्म-विस्तार के भाव को अभिव्यक्त किया गया है—

> शूल भरा जग, धूल भरा नभ,
> झुलसी देख दिशायें निष्प्रभ,
> सागर में क्या सो न सके यह,
> करुणा के रखवाले,

बादल कवयित्री की तरह इतने संवेदनशील हैं कि संसार के कष्ट को देख कर वे अपने निवास सागर में चैन के साथ विश्राम नहीं कर सके। ग्रीष्म की ज्वाला से धरती को तपते, आकाश को धूल से भरते एवं दिशाओं को झुलसते-जलते देखकर उनका करुणापूर्ण हृदय जैसे सहसा विह्वल हो उठा और वे संसार को स्निग्ध तथा शीतल करने के लिए, करुणा की रक्षा के लिए सागर छोड़कर आकाश में छा गये हों—

> प्यासे का जान ग्राम, झुलसे का पूछ नाम,

ही उसकी मूल में भावना का जो प्रकाश किया गया है। [illegible] के विषय की मान-प्रतिष्ठा उसके स्वाभिमान [illegible] दर्शन में [illegible] हो सकती है [illegible] “[illegible] के अभिशाप, जीवन का [illegible] [illegible] आधुनिक [illegible]।” भारत में सामाजिक जीवन का मोह, वर्ग विभाजन और [illegible] की सुन्दरता पर ही रही है, इन पक्षों का व्यापक प्रभाव महादेवीजी ने स्पष्टतया सामने रखा है, जो आकर्षक और [illegible] है। इन निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब तक नारी जाति की समस्याओं का अध्ययन पुरुषों ने अपने दृष्टिकोण से किया था; किन्तु इनमें प्रथम बार एक नारी के द्वारा उन समस्याओं का स्पष्टीकरण सामने रखा गया है, जिसकी सर्वमान्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

भावात्मक तथा विचारात्मक गद्य के साथ-साथ महादेवीजी ने विवेचनात्मक तथा ललित निबन्ध भी लिखे हैं, जो क्रमशः 'क्षणदा' और 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध' में संकलित हैं। विवेचनात्मक निबन्धों में नवीन साहित्य-प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए भी इन्होंने सनातन साहित्य मूल्यों का निर्देश देकर साहित्य के स्थायी मान बनाने का ही निरन्तर प्रयत्न किया है। नवीन समीक्षा को भी प्रेरित, प्रभावित करने में इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। विशेषता यह है कि काव्य-कला के साथ अन्य सहोदरा ललित कलाओं के विषय में भी इनका विवेचन विश्वसनीय एवं मार्मिक है।

कवि यदि भावनाओं का मापक होता है तो आलोचक उसका निर्णायक, इसलिए कवि भाव प्रधान तथा आलोचक विचार प्रधान होता है। महादेवीजी ने साहित्य के गद्य-पद्य दोनों रूपों को अपनी साधना का सहयोग दिया है, उनकी साहित्य-विवेचना उनके कवि तथा विचारक के समन्वित और सन्तुलित सामंजस्य का सुफल है। काव्य की भाँति हिन्दी का गद्य-साहित्य भी महादेवी जी की कृतियों से गौरवान्वित है। 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध', महादेवीजी के आलोचनात्मक निबन्धों का बहु प्रशंसित संग्रह है। महादेवीजी छायावाद युग की सबसे समर्थ समालोचक हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता निस्संगता और काव्य को जीवन की विशाल भूमि पर रखकर परखने की क्षमता है। भारतीय साहित्य के अध्ययन-मनन से प्राप्त पुरानी कसौटी तो उनके पास है ही, आवश्यकता के अनुसार युगानुरूप नवीन कसौटी गढ़ लेने की सर्जनात्मक शक्ति का भी उनमें प्राचुर्य है। यही कारण है कि उनकी विवेचना शास्त्रज्ञ आचार्य की कठोर बौद्धिक रेखाओं से घिरी न होकर जीवन के

आनन्द मिलता है। महादेवीजी ने अपनी कहानियों के पात्रों का चुनाव प्रायः जीवन की अव्यवस्थिति कुरूपता से ही किया है। सभी पात्र दीन-हीन हैं, किन्तु महादेवी जी ने अपनी ममतामयी भावना से जो सौन्दर्य उनके जीवन में देखा है, वह उन्हीं की प्रतिभा के अनुकूल है, क्योंकि उन्होंने लिखा भी है—"वास्तव में जीवन सौन्दर्य की आत्मा है, वह सामंज्जस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है, उतनी विषमता में नहीं। जैसे-जैसे हम वाह्य रूपों की विविधता में उलझते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं।" महादेवी जी ने सौन्दर्य की स्थिति सम्पूर्ण जीवन में मानी है तभी तो उन्होंने पात्रों की वाह्य कुरूपता के आवरण को हटाकर उनके जीवन में अन्तर्हित उस सौन्दर्य को खोज निकाला है, जिसके फलस्वरुप वे पाठकों की सम्वेदना के द्वार से वरावर उनके हृदयों में झांकते रहते हैं। उनकी कुरूपता उदासी की नहीं, वरन् करुणा की अधिकारिणी वन जाती है। कला की सृष्टि का यही आकर्षण है।

पीड़ितों के प्रति ममता, उपेक्षितों के प्रति उदारता, शोषितों के प्रति सहानुभूति, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सुझाव के साथ क्षमा आदि के अनुपम समिश्रण से जिस साहित्य सरिता का उद्गम होगा, वह युग-युग तक अपनी शीतलता से जीवन से थके-संतप्त हृदयों का सिंचन करती रहेगी, यह तो सभी मानेंगे। महादेवीजी की साधना और उनके संयम ने उनके गद्य की शैली को इस सुचारुता से संचालित किया है कि उनका निजी सामाजिक विद्रोह कहीं उपदेशात्मक प्रचार का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सका। यह तटस्थता ऐसे संस्मरणों की जान है। करुणा, विनोद और व्यंग्य की यह त्रिवेणी मानवता के संतापों को शमन करने का साधनापूत प्रयास है। इन पुस्तकों में कवि, गद्यकार तथा आत्मकथाकार का संस्मरणात्मक समन्वय बड़े ही साधनात्मक ढंग से किया गया है।

'पथ के साथी' के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में इन्होंने अपने समकालीन कवियों के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं प्रभावों और मनोभूतियों को स्पष्ट करने के साथ-साथ अपने और उनके वीच के आत्मीय सम्बन्धों का भी उल्लेख किया है। संस्मरण, कल्पना और समालोचना की त्रिवेणी का यह साहित्यिक संगम सभी को अपनी सरस स्निग्धता के साथ आत्मीयता के सागर तक पहुँचा देता है।

'शृंखला की कड़ियाँ' में नारी-जीवन के उन अभिशापों का उद्घाटन किया गया है, जिन्होंने नारी-जाति को युगों से मानवता का कलंक बना रखा है। नार

ही उसकी मुक्ति के साधनों का भी सुझाव दिया गया है। पुस्तक के विषय की प्राण-प्रतिष्ठा उसके समर्पण के शब्दों में जैसे साकार हो उठती हो—"जन्म से अभिशप्त, जीवन संतप्त किन्तु अक्षय वात्सल्य वरदानमयी भारतीय नारी को।" वास्तव में सामाजिक जीवन की नींव, अर्थ विभाजन और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की सुचारुता पर ही खड़ी है, इन प्रश्नों का सम्यक सुझाव महादेवीजी ने स्पष्टतया सामने रखा है, जो आदरणीय और अनुकरणीय है। इन निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब तक नारी जाति की समस्याओं का उद्‌घाटन पुरुषों ने अपने दृष्टिकोण से किया था; किन्तु इनमें प्रथम बार एक नारी के द्वारा उन समस्याओं का स्पष्टीकरण सामने रखा गया है, जिसकी सर्वमान्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

भावात्मक तथा विचारात्मक गद्य के साथ-साथ महादेवीजी ने विवेचनात्मक तथा ललित निबन्ध भी लिखे हैं, जो क्रमशः 'क्षणदा' और साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध में संकलित हैं। विवेचनात्मक निबन्धों में युगीन साहित्य-प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए भी इन्होंने सनातन साहित्य मूल्यों का निर्देश देकर साहित्य के स्थायी मान दन्डों का ही निष्पक्ष निरूपण किया है। युगीन समीक्षा को भी प्रेरित, प्रभावित करने में इनकी समीक्षा सफल रही है। विशेषता यह है कि काव्य-कला के साथ अन्य सहोदरा ललित कलाओं के विषय में भी इनका विवेचन विश्वसनीय एवं मार्मिक है।

कवि यदि भावनाओं का गायक होता है तो आलोचक उसका निरीक्षक, इसलिए कवि भाव प्रधान तथा आलोचक विचार प्रधान होता है। महादेवीजी ने साहित्य के गद्य-पद्य दोनों रूपों को अपनी साधना का सहयोग दिया है, उनकी साहित्य-विवेचना उनके कवि तथा विचारक के समुचित और सन्तुलित सामंज्जस्य का सुफल है। काव्य की भाँति हिन्दी का गद्य-साहित्य भी महादेवी जी की कृतियों से गौरवान्वित है। 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, महादेवीजी के आलोचनात्मक निबन्धों का वह प्रशंसित संग्रह है। महादेवीजी छायावाद युग की सबसे समर्थ समालोचक हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता निस्संगता और काव्य को जीवन की विशाल भूमि पर रखकर परखने की क्षमता है। भारतीय साहित्य के अध्ययन-मनन से प्राप्त पुरानी कसौटी तो उनके पास है ही, आवश्यकता के अनुसार युगानुरूप नवीन कसौटी गढ़ लेने की सर्जनात्मक शक्ति का भी उनमें प्राचुर्य है। यही कारण है कि उनकी विवेचना शास्त्रज्ञ आचार्य की कठोर बौद्धिक रेखाओं से घिरी न होकर जीवन को

आनन्द मिलता है। महादेवीजी ने अपनी कहानियों के पात्रों का जीवन की अन्तःस्थिति कुरूपता से ही लिया है। इसी बात [illegible] महादेवी जी ने अपनी ममतामयी भावना से जो सौन्दर्य उनके जीवन वह उन्हीं की प्रतिभा के अनुकूल है, क्योंकि उन्होंने लिखा भी है— जीवन सौन्दर्य की आत्मा है, वह सामंजस्य की रेखाओं में जि[illegible] पाता है, उतनी विषमता में नहीं। जैसे-जैसे हम बाह्य रूपों की उलझते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके पुष्पित जीवन को भूलते जाते हैं। जी ने सौन्दर्य की स्थिति सम्पूर्ण जीवन में मानी है इसी से उन्हों[illegible] बाह्य कुरूपता के आवरण को हटाकर उनके जीवन में अन्तर्हित को खोज निकाला है, जिसके फलस्वरूप वे पात्रों की संवेदना बराबर उनके हृदयों में झाँकते रहते हैं। उनकी कुरूपता [illegible] की करुणा की अधिकारिणी बन जाती है। कथा की दृष्टि का यही अ[illegible]

पीड़ितों के प्रति ममता, उपेक्षितों के प्रति उदारता, दोषि[illegible] सहानुभूति, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति झुकाव के साथ क्षमा आदि सन्निवेश से जिस साहित्य [illegible] का उद्भव होगा, वह युग-युग शीतलता से जीवन के [illegible] हृदयों का सिंचन करती रहेगी, [illegible] मानेंगे। महादेवीजी की साधना और उनके जीवन ने उनके [illegible] इस सुचारुता से संचालित किया है कि उसका किसी सामाजिक उपदेशात्मक प्रचार का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सका। यह [illegible] रसों की खान है। करुणा, विनोद और व्यंग्य की यह त्रिवेणी संतापों को शमन करने का [illegible] प्रयास है। इन कृतियों में [illegible]कार तथा आत्मव्यापार का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध बड़े ही [illegible] से किया गया है।

'पथ के साथी' के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में इन्होंने अपने [illegible] कवियों के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं प्रभावों और मनोवृत्तियों को [illegible] साथ-साथ अपने और उनके बीच के आत्मीय सम्बन्धों का भी [illegible] । संस्मरण, कल्पना और मनोवैज्ञानिकता की त्रिवेणी का यह [illegible] भी को अपनी सरल निश्छलता के साथ अभिव्यक्ति से [illegible] ना है।

'शृंखला की कड़ियाँ' में नारी-जीवन के उन अधिकारों का [illegible]

[illegible]

होने और चली राह में पग-पग गिनकर पश्चाताप करते हुए लौटने का अभि-शाप मुझे नहीं मिला है। मेरी दिशा और मेरा पथ एक रहा है, केवल इतना ही नहीं, वे प्रशस्त से प्रशस्ततर और स्वच्छ से स्वच्छतर होते गये हैं।' यह इनके अखण्ड और सुगठित व्यक्तित्व का ही प्रमाण है—'कथनी करनी और रहनी की यह एकता जो रचना, विचार और जीवन के रूप में अविरोधी जान पड़े, कोई सामान्य विशेषता नहीं है। महादेवीजी के लेखन की सच्चाई और स्थायित्व के विषय में हमें निश्शंक होना चाहिए।'

साहित्यिकों और साहित्यिक संस्थाओं ने, समाज और सरकार ने—सम्पूर्ण राष्ट्र ने इनकी विजय यात्रा की उपलब्धियों की महत्ता को स्वीकार करते हुए इन्हें सम्मानित और अभिनंदित किया है। 'रजकणों में खेलती विरज विधु की चाँदनी' महादेवीजी का व्यक्तित्व समात्मभाव की साधना से जितना सरल, मधुर, करुण और कोमल है, उनका कृतित्व उतना ही उदात्त, व्यापक, विराट एवं महान है। हिमालय को सम्बोधित करते हुए इन्होंने जैसे अपने व्यक्तित्व और कृतित्व का अनायास ही उद्घाटन कर दिया है—

> हे चिर महान !
> मेरे जीवन का आज मूक तेरी छाया से हो मिलाप,
> तन तेरी साधकता छू ले मन ले करुणा की थाह नाप,
> उर में पावस दृग में विहान।

वास्तव में महादेवीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व से तुलना करने के लिए हिमालय ही सबसे अधिक उपयुक्त है। वही उन्नत और दिव्य रूप, वही विराट तथा विशाल प्रसार, वही अमल-धवल एवं अटल-अचल धीरता-गम्भीरता, वही पर दुःख कातरता, करुणा तथा स्नेहसिक्त तरलता और सबसे बढ़कर वही सर्व सुखद शुभ्र मुक्त हास।

हिम सा स्वच्छ उज्जवल दुकूल, जिसमें शृंगारिकता नहीं, सात्विकता की झलक, पर सुरुचि की सम्पन्नता भी अनिवार्य है। कुछ खोजती सी अन्तर्हित सौन्दर्य का पथ देखती आकुल सजग-सजल आँखें, जो जीवन व्यापी जिज्ञासा में निर्निमेष व्यस्त होकर भी अपनी दृष्टि से दिव्य भावोन्मेष का संचार करने में समर्थ हैं। अधरों में अरुणोदय की स्फूर्ति का उपमान मंदहास, जो अपने और दर्शक के बीच का अन्तर अपनी निर्मल तथा शुभ्र स्निग्धता से भरकर सबको आत्मीयता की निकट स्थिति और आश्वासन देने में सहज ही सफल है। व्यक्ति-

संसिक्त करने वाले भावना-प्रपात की तरह-तरल स्वच्छ और सतत् प्रसरणशील है। इनकी समीक्षा की मुख्य कसौटी अनुभूति, विचार और कल्पना से समन्वित उनका जीवन दर्शन है, जो समीक्षा की प्रगति के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है।

ललित निबन्धों में महादेवीजी ने उक्ति-वैचित्र्य, सूक्त-कथन तथा लक्षणा-व्यंजना एवं हृदय-ग्राह्य जिस सरस चित्रमयी अलंकृत शैली का सूत्रपात किया है, वह बहुत ही प्रभावोत्पादक और उदात्त है।

उत्कृष्ट मौलिक सृजन के साथ ही इन्होंने अनुवाद का भी बहुत बड़ा कार्य किया है। काव्यमयी वैदिक ऋचाओं से लेकर वाल्मीकि, थेर गाथा, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति एवं जयदेव की उदात्त-सरस काव्य-विभूतियों का काव्य मय हिन्दी रूपान्तर सप्तपर्णा में प्रकाशित हुआ है, परन्तु अभी तक अनुवाद का अधिकांश अप्रकाशित ही है। कलिदास के महाकाव्य 'कुमार सम्भव' तथा 'रघुवंश' और अश्वघोष के महाकाव्य 'बुद्ध चरित' का सम्पूर्ण अनुवाद भी इन्होंने काव्यमय रूप में ही किया है। अनुवाद में मूल कवि की अनुभूतियों और संवेदनाओं के साथ महादेवीजी का सहज तादात्म्य पाया जाता है। एक नहीं, अनेक कवियों के साथ तादात्म्य की यह क्षमता जिस व्यापक विराट प्रतिभा की अपेक्षा रखती है, वह इन्हें प्राप्त है। इन्होंने स्वीकार किया है कि अनुवाद मूल आत्मा का नवीन अवतरण है, अस्तु उसकी सार्थकता आत्मा को न बदलने और शरीर के नवीन रहने पर ही चरितार्थ होती है। इनके अनुवाद में भाषा की ध्वनि, संकेत, प्रतीक और अभिव्यंजना की प्रणाली में चाहे जो भी अन्तर हो, जो अनिवार्य है, परन्तु कवि की मूल भावना को यथावत् अक्षुण्ण रखने में ये सर्वथा सफल हैं।

प्रायः अर्द्धशती की अवधि में महादेवीजी ने एकनिष्ठ होकर अनन्य गति से अपने भावमय सृजन और कर्ममय जीवन की साधना में साथ-साथ संलग्न रह-कर अपनी इस घोषणा को सार्थक बनाया है—'कला के पारस का स्पर्श पा लेने वाले का कलाकार के अतिरिक्त कोई नाम नहीं, साधक के अतिरिक्त कोई वर्ग नहीं, सत्य के अतिरिक्त कोई पूँजी नहीं, भाव सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं और कल्याण के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं।'

सन्तोष के साथ उन्होंने यह भी कहा है—'जीवन के सुदूर उपक्रम से लेकर अब तक मेरा मन अपने प्रति विश्वासी ही रहा है। मार्ग चाहे कितना अस्पष्ट रहा, दिशा चाहे कितनी भी कुहराच्छन्न रही, परन्तु भटकने, दिशा:

होने और चली राह में पग-पग गिनकर पश्चाताप करते हुए लौटने का अभि-शाप मुझे नहीं मिला है। मेरी दिशा और मेरा पथ एक रहा है, केवल इतना ही नहीं, वे प्रशस्त से प्रशस्ततर और स्वच्छ से स्वच्छतर होते गये हैं।' यह इनके अखण्ड और सुगठित व्यक्तित्व का ही प्रमाण है—'कथनी करनी और रहनी की यह एकता जो रचना, विचार और जीवन के रूप में अविरोधी जान पड़े, कोई सामान्य विशेषता नहीं है। महादेवीजी के लेखन की सच्चाई और स्थायित्व के विषय में हमें निश्शंक होना चाहिए।'

साहित्यिकों और साहित्यिक संस्थाओं ने, समाज और सरकार ने—सम्पूर्ण राष्ट्र ने इनकी विजय यात्रा की उपलब्धियों की महत्ता को स्वीकार करते हुए इन्हें सम्मानित और अभिनंदित किया है। 'रजकणों में खेलती विरज विधु की चाँदनी' महादेवीजी का व्यक्तित्व समात्मभाव की साधना से जितना सरल, मधुर, करुण और कोमल है, उनका कृतित्व उतना ही उदात्त, व्यापक, विराट एवं महान है। हिमालय को सम्बोधित करते हुए इन्होंने जैसे अपने व्यक्तित्व और कृतित्व का अनायास ही उद्‌घाटन कर दिया है—

> हे चिर महान !
> मेरे जीवन का आज मूक तेरी छाया से हो मिलाप,
> तन तेरी साधकता छू ले मन ले करुणा की थाह नाप,
> उर में पावस दृग में विहान।

वास्तव में महादेवीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व से तुलना करने के लिए हिमालय ही सबसे अधिक उपयुक्त है। वही उन्नत और दिव्य रूप, वही विराट तथा विशाल प्रसार, वही अमल-धवल एवं अटल-अचल धीरता-गम्भीरता, वही पर दुःख कातरता, करुणा तथा स्नेहसिक्त तरलता और सबसे बढ़कर वही सर्व सुखद शुभ्र मुक्त हास।

हिम सा स्वच्छ उज्जवल दुकूल, जिसमें शृंगारिकता नहीं, सात्विकता की झलक, पर सुरुचि की सम्पन्नता भी अनिवार्य है। कुछ खोजती सी अन्तर्हित सौन्दर्य का पथ देखती आकुल सजग-सजल आँखें, जो जीवन व्यापी जिज्ञासा में निर्निमेष व्यस्त होकर भी अपनी दृष्टि से दिव्य भावोन्मेष का संचार करने में समर्थ हैं। अधरों में अरुणोदय की स्फूर्ति का उपमान मंदहास, जो अपने और दर्शक के बीच का अन्तर अपनी निर्मल तथा शुभ्र स्निग्धता से भरकर सबको आत्मीयता की निकट स्थिति और आश्वासन देने में सहज ही सफल है। व्यक्ति-

संसिक्त करने वाले भावना-प्रपात की तरह-तरल स्वच्छ और सतत प्रसरणशील है। इनकी समीक्षा की मुख्य कसौटी अनुभूति, विचार और कल्पना से समन्वित उनका जीवन दर्शन है, जो समीक्षा की प्रगति के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है।

ललित निबन्धों में महादेवीजी ने उक्ति-वैचित्र्य, सूक्त-कथन तथा लक्षणा-व्यंजना एवं हृदय-ग्राह्य जिस सरस चित्रमयी अलंकृत शैली का सूत्रपात किया है, वह बहुत ही प्रभावोत्पादक और उदात्त है।

उत्कृष्ट मौलिक सृजन के साथ ही इन्होंने अनुवाद का भी बहुत बड़ा कार्य किया है। काव्यमयी वैदिक ऋचाओं से लेकर वाल्मीकि, थेर गाथा, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति एवं जयदेव की उदात्त-सरस काव्य-विभूतियों का काव्य-मय हिन्दी रूपान्तर सप्तपर्णा में प्रकाशित हुआ है, परन्तु अभी तक अनुवाद का अधिकांश अप्रकाशित ही है। कलिदास के महाकाव्य 'कुमार सम्भव' तथा 'रघुवंश' और अश्वघोष के महाकाव्य 'बुद्ध चरित' का सम्पूर्ण अनुवाद भी इन्होंने काव्यमय रूप में ही किया है। अनुवाद में मूल कवि की अनुभूतियों और संवेदनाओं के साथ महादेवीजी का सहज तादात्म्य पाया जाता है। एक नहीं, अनेक कवियों के साथ तादात्म्य की यह क्षमता जिस व्यापक विराट प्रतिभा की अपेक्षा रखती है, वह इन्हें प्राप्त है। इन्होंने स्वीकार किया है कि अनुवाद मूल आत्मा का नवीन अवतरण है, अस्तु उसकी सार्थकता आत्मा को न बदलने और शरीर के नवीन रहने पर ही चरितार्थ होती है। इनके अनुवाद में भाषा की ध्वनि, संकेत, प्रतीक और अभिव्यंजना की प्रणाली में चाहे जो भी अन्तर हो, जो अनिवार्य है, परन्तु कवि की मूल भावना को यथावत् अक्षुण्ण रखने में वे सर्वथा सफल हैं।

प्रायः अर्द्धशती की अवधि में महादेवीजी ने एकनिष्ठ होकर प्रयाग नगर में अपने भावमय सृजन और कर्ममय जीवन की साधना में साथ-साथ संलग्न रह-कर अपनी इस घोषणा को सार्थक बनाया है—कला के पारस का स्पर्श पाने वाले का कलाकार के अतिरिक्त कोई नाम नहीं, साधक के अतिरिक्त कोई वर्ग नहीं, सत्य के अतिरिक्त कोई पूँजी नहीं, भाव सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं और कल्याण के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं।'

सन्तोष के साथ उन्होंने यह भी कहा है—'जीवन में [illegible] में लेकर अब तक मेरा मन अपने प्रति विश्वासी ही रहा है। मार्ग चाहे जितना अस्पष्ट रहा, दिशा चाहे कितनी भी कुहराच्छन्न रही, परन्तु भटकने, दिशा

गत सीमित ऐश्वर्य-राग को छोड़कर असीमित अभिप्राय से अवेष्टित और उद्दीप्त महारागमय प्रतिभा-सम्पन्न मुख मंडल, जिससे प्राणी मात्र के प्रति महामैत्री तथा महाकरुणा के अमोघ आलोक की किरण-फुहारें फूटती रहती हैं। सब मिलाकर एक ऐसा व्यक्तित्व जो प्रातः की तरह मधुर, रात की तरह करुण और बरसात की तरह सजल है—एक ऐसा चित्र जिसे देखकर अपरिचित व्यक्ति भी सहसा कह उठे—लगता है इसे पहिले कभी और भी देखा है—यही तो महादेवी हैं। उन्हीं के शब्दों में—'जहाँ व्यक्ति को देखकर लगता है मानों काव्य की व्यापकता ही सिमट कर मूर्त हो गयी है और काव्य से परिचित होकर जान पड़ता है मानो व्यक्ति ही तरल होकर फैल गया है।' महादेवीजी से मिलने पर ऐसा ही अनुभव होता है।

हमें उनका यह सन्देश स्मरण रखना चाहिए—'इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्न द्रष्टा हो या यथार्थ चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन से मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदना-शक्ति के साथ जीवन में घुल-मिल जावे। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा आज गौण है, उसकी केवल व्यक्तिगत हार-जीत आज महत्व नहीं रखती, क्योंकि उसके सारे व्यष्टिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है। उसे स्वप्न द्रष्टा भी होना है, जीवन के धुंधलाए निम्न स्तर तक मानसिक खाद्य भी पहुँचाना है, तृषित मानवता को संवेदना का जल भी देना है और सबके अज्ञान का भार भी सहना है। सारांश यह कि आज के कवि को अपने लिए अनागरिक होकर भी संसार के लिए गृही, सबके प्रति वीतराग होकर भी सबके प्रति अनुरागी, अपने लिए संन्यासी होकर भी सबके लिए कर्मयोगी होना होगा, क्योंकि आज उसे अपने को खोकर पाना है।'